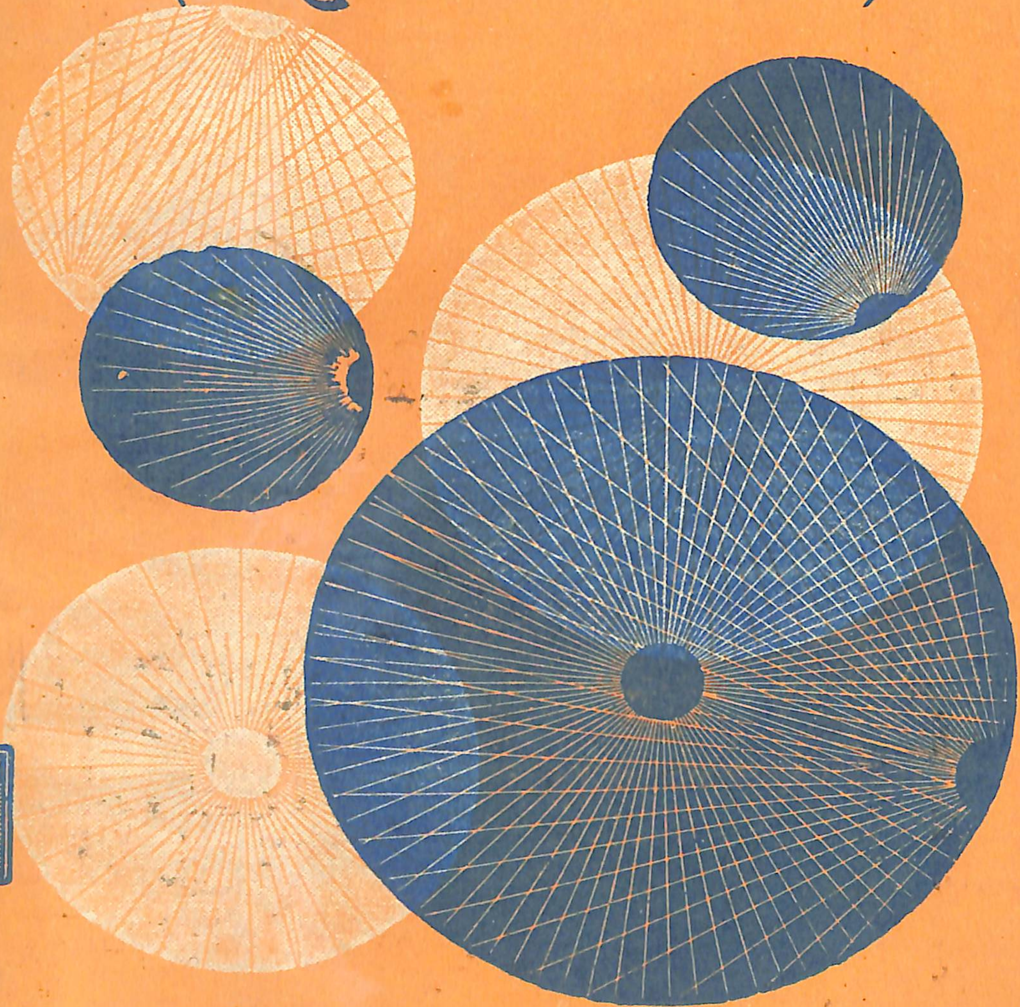
आचार्य मम्मट

काव्यप्रकाश:

(प्रश्नोत्तर रूप में)





हाईस्कूल
सामाजिक विज्ञान
द्वितीय प्रश्न-पत्र

हाईस्कूल सामाजिक विज्ञान 2

काव्यप्रकाश-प्रकाशः

(प्रश्नोत्तर रूप में)

(चुने हुए प्रश्न और उत्तर, युग्म अलंकारों का परस्पर अन्तर,
दृष्टव्य अंश, छन्द-विवेचन आदि सहित)

लेखक :

चुन्नीलाल शुक्ल एम. ए.

साहित्याचार्य (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

संशोधित एवं परिवर्द्धित नवीन संस्करण



साहित्य भण्डार

शिक्षा साहित्य प्रकाशक

सुभाष बाज़ार, मेरठ-२५०००२

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ।

दूरभाष : ५१८७५४

नवीन संस्करण

मूल्य: पैंतिस रुपये (३५.००)

मुद्रकः
देवी प्रिन्टर्स,
मेरठ।

॥ मंगलाचरणम् ॥

वपुस्त्यक्त्वा यातं विबुधसदनं नश्वरमिदं,
गुरुं ब्रह्मानन्दं सरसहृदयं श्वेतवसनं ।
प्रणम्यैनं शुक्लं सुरगुरुसमं लब्धयशसं,
समीक्षाँ कुर्वेऽहं प्रतनुसरलाँ मम्मटकृतेः ॥
समीक्षेयं छात्रेभ्यो वितरतु परीक्षासु नितराँ,
शुभानङ्कान्नित्यं प्रथयतु च तेषाँ सुविपुलम् ॥
यशः मानं श्रेणीं जगति सरसं जीवन-सुखं,
समुन्नत्यैभूयाद्वै सततमभिकाङ्क्षे गणपतिम् ॥

समर्पणम्

परमभागवतानाम् पण्डितप्रवराणाँ सचेतसाँ दिवंगतानाँ परमपूज्यानाँ पितामहानाँ श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल महाभागानाँ करकमलयोः काव्यप्रकाशस्य प्रश्नोत्तररूपेयं समीक्षा सादरं समर्प्यते ।

भवतां विधेयः
चुन्नीलाल शुक्लः

"श्रीजगन्नाथोविजयतेतराम्"

।। विनम्र निवेदन ।।

"वाग्देवतावतार महामहिम मम्मट की यह अमरकृति "काव्यप्रकाश" संस्कृत काव्यशास्त्र का ही नहीं अपितु विश्व काव्यशास्त्र का अनुपम एवं वैज्ञानिकता से परिपूर्ण ग्रन्थ रत्न है। अर्चनीय मम्मट ने अग्निपुराण तथा भरतमुनि के समय से लेकर ११वीं शताब्दी तक जो भी विद्वानों ने काव्यशास्त्र पर चिन्तन किया था, उसका सम्यक् प्रकारेण अध्ययन, चिन्तन, विवेचन एवं मनन करने के अनन्तर एक मौलिक, समन्वयात्मक काव्यशास्त्र का नवनीत काव्यप्रकाश के रूप में भारत को प्रदान किया है। मम्मट की यह एक ऐसी अनुपम कृति है, जिसके द्वारा काव्यशास्त्र के सूक्ष्मतम रहस्यों का गम्भीरता के साथ विवेचन प्रस्तुत करते हुए एक नूतन समीक्षा पद्धति का आविष्कार किया है।

काव्यप्रकाश की मौलिकता एवं उत्कृष्टता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि अनेकों काव्यशास्त्रों के होते हुए भी केवल मम्मट की इस अनुपम कृति को भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर एम० ए० परीक्षा के रूप में स्वीकार करके परम गौरवता का अनुभव कर रहे हैं।

काव्यप्रकाश की उत्कृष्टता का द्वितीय प्रमाण यह है कि जितनी टीकायें इस ग्रन्थ-रत्न की हो चुकी हैं और हो रही हैं, उतनी टीकायें किसी अन्य ग्रन्थ की नहीं हो सकी हैं। फिर भी काव्यप्रकाश की दुरुहता का अनुभव हो रहा है, क्योंकि काव्य-प्रकाश विविध दार्शनिकता को आत्मसात् किये हुये है। आज इस वैज्ञानिक चाकचक्य से प्रभावित छात्रगण काव्यशास्त्र के सूक्ष्म सिद्धान्तों को हृदयंगम करने में नितान्त दुर्गमता का अनुभव कर रहे हैं। छात्रों की इस दुर्गमता को ध्यान में रखते हुए मैंने यथामति प्रश्नोत्तर रूप में समीक्षा प्रस्तुत करने का दुःसाहस मात्र किया है। काव्य-प्रकाश की कतिपय प्रसिद्ध टीकाओं का अवलम्बन प्राप्त कर समीक्षा लिखने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत पुस्तक को तीन भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में ३३ प्रश्नों के उत्तर समीक्षात्मक रूप में, द्वितीय भाग में ४० पृष्टव्यांशों की व्याख्या, तृतीय भाग में प्रमुख अलंकारों के अन्तर का विवेचन प्रस्तुत किया है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट भाग के अन्तर्गत प्रमुख छन्दों का सोदाहरण विवेचन किया है।

आशा है एम० ए० परीक्षा के छात्रगण इस पुस्तक के अध्ययन से काव्य-प्रकाश के दुरुह स्थलों को समझने में सहायता और परीक्षा में उत्तमांक प्राप्त करेंगे।

यद्यपि इस पुस्तक के मुद्रण में पर्याप्त सावधानी रखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि त्रुटियों का होना कोई अस्वाभाविक नहीं है, क्योंकि केवल परेश-शक्ति को छोड़कर अन्य समस्त दृश्यमान जगत् अपूर्ण एवं त्रुटिग्रस्त है।

पुस्तक के अन्तर्गत सर्वविध त्रुटियों के लिये जिज्ञासु छात्रों एवं अर्चनीय विद्वज्जनों से क्षमा याचना करते हुये निवेदन करता हूँ कि वे इस पुस्तक में जिस किसी स्थल पर त्रुटियों का अवलोकन एवम् अनुभव करें तो उन त्रुटियों की तथा परिवर्तन, परिवर्द्धन की सूचना देकर कृतार्थ करें, जिससे अग्रिम संस्करण में उन त्रुटियों को दूर किया जा सके।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में जिन टीकाओं का अवलम्बन ग्रहण किया गया है, उन टीकाकार मनीषियों के प्रति कृतज्ञता के साथ आभार प्रकटित करता हूँ। साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ के संस्थापक एवं अध्यक्ष श्री रतिराम जी शास्त्री के प्रति जो आभार प्रकटित करूँ वह अत्यल्प ही होगा, क्योंकि इस पुस्तक के लिखने का प्रयास उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है। इसके पश्चात् श्री राजकिशोर जी शर्मा विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने मुद्रण करने में विशेष परिश्रम किया है। अन्त में उन सभी सज्जनों के प्रति आभार प्रकटित करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया है।

विदुषां विधेः

चुन्नीलाल शुक्ल एम० ए०

साहित्याचार्य, (सं०, हि०) साहित्यरत्न

दिनांक ३१-१-१९७८ ई०

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या | पृष्ठ संख्या

काव्यप्रकाश–प्रकाश (प्रश्नोत्तर रूप में)

प्रश्न १—संस्कृत-साहित्य में अलङ्कार-शास्त्र के उद्भव तथा विकास का वर्णन करते हुये अलङ्कार-शास्त्र का महत्त्व स्पष्ट कीजिये।

(वाराणसी वि०वि० १९६४, ६६ ७२, ८८)

Trace very briefly the development of Sanskrit poetics form its origin to the time to Acharya Mammata and point out clearly the important contribution made by him towards its growth.

उत्तर—संस्कृत-साहित्य में अलङ्कार-शास्त्र का आविर्भाव कब और कैसे तथा कहाँ हुआ—यह कहना नितान्त दुरूह एवं असाध्य-सा प्रतीत हो रहा है। परन्तु संस्कृत-साहित्य में अलङ्कार-शास्त्र तो मानव-जीवन के सभी क्षेत्रों में नवस्फूर्ति तथा नव-चेतना जाग्रत करने में प्रेरणा स्रोत माना जाता है। अलङ्कार-शास्त्र ने संस्कृत-साहित्य में चार चाँद लगा दिये हैं, अथवा सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर दी है। खेद है कि अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भ किस समय और किस महर्षि के कर-कमलों से हुआ, यह सर्वथा अनिश्चित ही है, तथापि यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं, कि जिस प्रकार ज्ञान के सागर वेदों से पुराण, एवं दर्शनशास्त्र आदि ग्रन्थ रत्न आविर्भूत हुये हैं उसी प्रकार अलङ्कारशास्त्र भी वेदों से ही आविर्भूत हुआ है। तथापि अलङ्कार-शास्त्र का प्रथम प्रवर्तक कौन था और वह कब, कहाँ उत्पन्न हुआ—यह कहना सम्भव नहीं है। तथापि काव्यमीमांसाकार राजशेखर के मतानुसार काव्यशास्त्र का आविर्भाव ईश्वर के मुखारविन्द से हुआ है। भगवान् भूतभावन, श्रीकण्ठ, शिव ने सर्व प्रथम काव्यशास्त्र का उपदेश ब्रह्मा आदि शिष्यों को दिया। तदनन्तर ब्रह्मा ने अपने मानसिक पुत्रों को काव्यशास्त्र का सम्यक्–अध्ययन कराया। ब्रह्मा के इन शिष्यों में सरस्वती का पुत्र "काव्य पुरुष" था। सरस्वती के पुत्र इस काव्य-पुरुष ने ही भूतल पर काव्यशास्त्र का प्रचार-प्रसार किया। परन्तु राजशेखर के इस मत का समर्थन अधिक विद्वानों ने नहीं किया। अत: राजशेखर का मत अधिक व्यापक एवं मान्य नहीं हो सका। इस प्रकार पौर्वापर्य विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्यशास्त्र का आविर्भाव वेदों से ही हुआ है, क्योंकि समस्त भारतीय साहित्य विधाओं का मूलाधार वेद ही है। वेदों में अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, अति-शयोक्ति आदि अलङ्कारों के उदाहरण मन्त्रों में प्राप्त होते हैं।

अधोलिखित ऋग्वेद के एक मन्त्र में उपमा अलङ्कार की छटा दर्शनीय है—

"उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचं, उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥"

इस प्रकार वेदों में काव्यशास्त्र के पर्याप्त बीजों को देखकर काव्यशास्त्र की प्राचीनता का अनुमान कर सकते हैं तथा प्राचीनकाल से ही समालोचकों ने काव्यशास्त्र पर समालोचनायें की हैं। अतः वैदिककाल ही काव्यशास्त्र का उद्भवकाल माना जाता है। वैदिककाल से लेकर आज तक क्रमशः अलङ्कारशास्त्र का विकास समय की गति के अनुसार प्रगति के पथ पर बढ़ता हुआ चला आ रहा है। इस दीर्घ दीर्घमत काल का विभाजन रचना के आधार पर चार भागों में किया जा सकता है।

(१) प्रथम काल (वैदिककाल से भामह तक)
(२) द्वितीय काल (भामह से आनन्दवर्द्धन तक अर्थात् ६५० ई० से ८५० ई० तक)
(३) तृतीय काल (आनन्दवर्द्धन से मम्मट तक अर्थात् ८५० से १०५० ई० तक)
(४) चतुर्थ काल (मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक अर्थात् १०५० ई० से १८०० ई० तक)

प्रथम काल

वैदिककाल से लेकर भामह तक अर्थात् सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक प्रथम काल माना जाता है। इस काल में मुख्य रूप से दो आचार्यों के नाम ग्रहण किये जाते हैं। (१) भरतमुनि (२) भामह। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र साहित्य-क्षेत्र में अति प्रसिद्ध ग्रन्थरत्न है। इस नाट्यशास्त्र में नाट्य के सूक्ष्म तत्वों का विवेचन किया गया है। तथापि नाट्यशास्त्र एक बीजभूत ही है। अर्थात् भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र का विस्तृत विवेचन परवर्ती आचार्यों ने किया है। नाट्यशास्त्र के १६वें अध्याय में केवल ४ अलङ्कार १० गुण तथा दस दोषों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यह विवेचन एक रूपरेखा मात्र ही है।

भरतमुनि के अनन्तर रुद्रट आदि अनेक आचार्यों ने नाट्यशास्त्र की व्याख्यायें की हैं। वस्तुतः भरतमुनि के बाद भामह ने काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ की रचना करके अलङ्कारशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट किया है। भामह ने भरतमुनि के द्वारा स्वीकृत ४ अलङ्कारों के स्थान पर ३८ अलङ्कारों का निरूपण किया है। भट्टि नामक महाकवि ने भट्टिकाव्य की भामह के द्वारा निरूपित ३८ अलङ्कारों के आधार पर रचना की है।

द्वितीय काल

अलङ्कारशास्त्र का महत्वपूर्ण काल रचनात्मक काल माना जाता है। यह काल ६५० ई० से ८५० ई० तक माना जाता है। इस काल को रचनात्मक इसलिये कहते हैं कि इस काल में मुख्य साहित्य के चार सम्प्रदायों की रचना हुई। अर्थात् (१) अलङ्कार सम्प्रदाय, (२) रीति सम्प्रदाय, (३) रस सम्प्रदाय, (४) ध्वनि सम्प्र-

दाय। इन चार सम्प्रदायों के निर्माताओं का जन्म इसी काल में हुआ। इन आचार्यों के नाम क्रमशः (१) भामह, उद्भट, रुद्रट, (२) दण्डी, वामन, (३) लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, (४) आनन्दवर्द्धन हैं।

साहित्यिक दृष्टि से यह काल बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस काल में काव्य-शास्त्र के सभी सिद्धान्तों का पर्याप्त विवेचन हुआ। भामह, रुद्रट, उद्भट आदि ने अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया है। तथा दण्डी और वामन ने काव्य की रीति और काव्य के गुणों का विशद निरूपण किया है। काव्य की आत्मा रस को दृढ़ता के साथ प्रतिपादित करते हुये लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक ने भरतमुनि के रस सूत्र की विस्तृत व्याख्या की है और इसी काल में आनन्दवर्द्धनाचार्य ने जन्म ग्रहण करके "ध्वन्यालोक" नामक ग्रन्थरत्न की रचना करके ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है।

तृतीय काल

आनन्दवर्द्धनाचार्य से मम्मट तक का समय अति महत्वपूर्ण है। जो साहित्य-शास्त्र का निर्णयात्मक काल माना जाता है। ८५० ई० तक यह काल माना जाता है। इस काल के मुख्य आचार्यों के नाम (१) अभिनवगुप्त (२) वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक (३) व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट हैं। कुन्तक ने तो चार सम्प्रदायों के अति-रिक्त पञ्चम वक्रोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की है। तथा ध्वनिसिद्धान्त के प्रबल विरोधी महिमभट्ट हैं। महिमभट्ट का व्यक्ति-विवेक नामक ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करने वाला अतिप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इसी काल में रुद्रभट्ट, भोज-राज, धनिक, धनञ्जय आदि आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्त का विवेचन किया है। अतः निःसन्देह यह निर्णयात्मक काल साहित्यशास्त्र का महत्वपूर्ण काल है।

चतुर्थ काल

मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक का समय साहित्यशास्त्र का व्याख्या काल माना जाता है। इस काल में अनेकों आचार्यों ने जन्म ग्रहण किया है। जिनमें—हेमचन्द्र, विश्वनाथ, तथा जयदेव आदि ने साहित्य का सर्वाङ्गीण विवेचन किया है तथा महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की है। रुय्यक तथा अप्पयदीक्षित आदि ने केवल अलङ्कारों का ही विस्तृत विवेचन किया है। शारदा-तनय, शिङ्गभूपाल एवं भानुदत्त आदि विद्वानों ने साहित्यशास्त्र के विवेचन में प्रशंस-नीय कार्य किया है। राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अमरचन्द्र आदि ने कविशिक्षा के विषय पर ग्रन्थों की रचना की है।

इस काल के आचार्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्या-धर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पयदीक्षित आदि को स्वीकार किया जाता है।

(२) **कविशिक्षा**—राजशेखर, क्षेमेन्द्र अरिसिंह अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि आचार्यों का वर्गीकरण कविशिक्षा सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है।

(३) **रस-सम्प्रदाय**—शारदातनय, शिङ्गभूपाल, भानुदत्त, रूप गोस्वामी, आदि को रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है।

(४) **अलङ्कार-सम्प्रदाय**—पण्डितराजजगन्नाथ, विश्वेश्वरभट्ट आदि को इस युग के अलङ्कार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र के इतिहास का विभाजन चार भागों में किया गया है। कुछ विद्वानों ने साहित्यशास्त्र के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है कि—

(१) ध्वनिकाल से पूर्व का समय (वैदिक काल से आनन्दवर्द्धन ८५० ई० तक)।

(२) ध्वनिकाल (आनन्दवर्द्धन से ८५० ई० से मम्मट तक १०५० ई० तक)।

(३) ध्वनिकाल के बाद का समय (मम्मट १०५० ई०) से पण्डितराज जगन्नाथ (१८०० ई० तक)।

उपर्युक्त समय विभाजन में चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है। ये सम्प्रदाय काव्य की आत्मा के प्रतिपादक हैं अर्थात् जो सम्प्रदाय काव्य की आत्मा रस को मानता है, उस सम्प्रदाय का नाम "रससम्प्रदाय" और जो अलङ्कार को काव्य की आत्मा स्वीकार करता है, उसको अलंकारसम्प्रदाय तथा जो काव्य की आत्मा रीति को मानता है, रीतिसम्प्रदाय और जो काव्य की आत्मा ध्वनि प्रतिपादित करता है, उसको ध्वनि-सम्प्रदाय कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुन्तक ने काव्य की आत्मा "वक्रोक्ति" को स्वीकार किया है। अतः कुन्तक के सम्प्रदाय को वक्रोक्ति सम्प्रदाय कहते हैं।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र में क्रमशः (१) रससम्प्रदाय (२) अलंकार सम्प्रदाय (३) रीतिसम्प्रदाय (४) वक्रोक्तिसम्प्रदाय (५) ध्वनि-सम्प्रदाय हैं। इन पाँच सम्प्रदायों ने काव्य की आत्मा को अपने-अपने मत से भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिपादित किया है।

भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो हजार वर्षों में जितने साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य हुये हैं वे सब इन्हीं ५ सम्प्रदायों में से किसी न किसी एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।

साहित्यशास्त्र का महत्त्व

साहित्य मानव को हर दिशा में पग-पग पर सजग सावधान एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश देता रहता है। यद्यपि वेदादि शास्त्र एवं पुराणेतिहास भी मानव

को सजग रहने का तथा करणीय, अकरणीय कार्यों के औचित्य और अनौचित्य का उपदेश देते रहते हैं। तथापि ये उपदेश प्रभुसम्मित एवं सुहृत् सम्मित के अन्तर्गत आते हैं। अत: इनमें नीरसता का पुट अधिक होता है। परन्तु साहित्य का उपदेश कान्तासम्मित होने के कारण अधिक मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक होने के कारण शर्करामिश्रित दुग्ध के समान आकर्षक एवं सहर्ष ग्राह्य होता है। इससे साहित्य का महत्व स्पष्ट हो जाता है। इसीलिये आचार्य मम्मट ने काव्य का महत्व् प्रदर्शित करने के लिये लिखा है कि—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेत्तरक्षतये।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

अत: साहित्य का महत्व कर्वविदित एवं सुस्पष्ट ही है। साहित्य मानव को सभी प्रकार से बाह्य, आभ्यान्तर इष्ट साधनों की प्रेरणा देता हुआ सन्मार्ग में प्रवृत्त कराता है। तथा मानव की प्रत्येक दशा में उद्बोधन करता हुआ और वास्तविक शान्ति प्रदान करता हुआ मनोरंजन करता है। जीवन का कोई अंग ऐसा नहीं है, जिसका विस्तृत विवेचन संस्कृत साहित्य में न किया गया हो। परन्तु साहित्य की समीक्षा तब तक सम्भव नहीं हो सकती है, जब तक साहित्यशास्त्र का सम्यक् अध्ययन न किया जाय। अत: साहित्य के तत्व को जानने के लिये तथा उत्तम साहित्य के निर्माण के लिये काव्य का लक्षण गुण, दोष, रस अलंकार एवं शब्दशक्ति आदि को भली-भाँति समझने के लिये साहित्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है।

इससे स्पष्ट है कि साहित्य के महत्व के साथ-साथ साहित्यशास्त्र का अपरिमित महत्व है क्योंकि जब तक निर्दुष्ट काव्य लक्षण को नहीं जानेंगे, तब तक उत्तम काव्य की रचना नहीं कर सकते हैं। तथा अभिधा-लक्षणा-व्यंजना के ज्ञान के बिना काव्य के वातस्विक अर्थ का रहस्य नहीं जान सकते हैं। तथा इस स्वरूप को बिना जाने हुये उत्तम काव्य की रचना नहीं कर सकते हैं और काव्यानन्द रूप ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति नहीं प्राप्त कर सकते हैं, तथा गुण-दोषों के ज्ञान के बिना उत्तम, मध्यम और अधम काव्य के भेदों को नहीं जान सकेंगे। अलंकार के ज्ञान के बिना भी काव्य के चमत्कार से वंचित रह जायेंगे। अत: हम कह सकते हैं कि साहित्य का जितना महत्व जीवन सुधारने और काव्यानन्द की प्राप्ति के लिये है, उतना ही नहीं अपितु उससे भी अधिक महत्व साहित्यशास्त्र का है। साहित्यशास्त्र ही एक ऐसी कसौटी है जिस पर साहित्य की उत्तमता की परीक्षा की जा सकती है। अत: साहित्यशास्त्र का महत्व अनिर्वचनीय है तथा साहित्यशास्त्र के महत्व को सहृदय विद्वान् ही समझ सकते हैं और जानते हैं। वस्तुत: साहित्यशास्त्र का अपना एक स्वतन्त्र अपरिमेय वर्णनातीत महत्व है।

प्रश्न २—आचार्य मम्मट के पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दीजिये । (१९७६)

Givet the brief account of the Acharyas Pre-Mammat.

उत्तर–भरतमुनि–साहित्यशास्त्र आचार्यों में सबसे प्राचीन आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं । यद्यपि संस्कृति साहित्य में अनेक भरत नाम के व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है, तथापि यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि से ही हमारा अभिप्राय है, क्योंकि अन्य नामधारी भरतों का साहित्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है । अतः साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध केवल नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि का ही ज्ञात होता है ।

कुछ विद्वान् भरतमुनि का नाम काल्पनिक मानते हैं परन्तु यह मत मान्य नहीं है । भरतमुनि एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं । सभी आलङ्कारिक विद्वान् भरतमुनि को नाट्यशास्त्र के प्रवर्त्तक रूप में स्मरण करते हैं । मत्स्य पुराण के २४वें अध्याय में भरतमुनि का नाम अनेक बार ग्रहण किया गया है । महाकवि कालिदास ने भी भरतमुनि का नाम अपने विक्रमोर्वशीय नामक नाटक में उद्धृत किया है । संस्कृति के सभी नाटकों की समाप्ति भरतवाक्य से होती है । आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का प्रवर्त्तक माना है । अतः भारतमुनि को काल्पनिक व्यक्ति मानना कभी उचित नहीं हो सकता है ।

यद्यपि भारतमुनि के समय का निर्णय एक विवादास्पद एवं बहुत कठिन है, तथापि ई० पूर्व ५०० वर्ष से लेकर प्रथम शताब्दी के मध्य में कतिपय विद्वान् समय निश्चित करते हैं । अश्वघोष नामक बौद्ध कवि प्रथम शताब्दी में आविर्भूत हुए । उन्होंने 'सारिपुत्रप्रकरण' नाम का नाट्यग्रन्थ भी लिखा है, जो खण्डित दशा में उपलब्ध हुआ है । उस पर भरतमुनि का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । अतः भरतमुनि का समय अश्वघोष से पूर्व मानना चाहिये । इससे स्पष्ट है कि भारमुनि का समय ई० पूर्व पंचम शताब्दी के लगभग मानना उचित प्रतीत होता है ।

भरतमुनि की केवल एक रचना "नाट्यशास्त्र" प्राप्त होती है । इसके नाम से स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ नाट्य-विषय का है, तथापि यह नाट्यशास्त्र एवं समस्त कलाओं का विश्वकोष है । नाट्यशास्त्र का परिचय एवं महत्व प्रदर्शित करते हुए स्वयं भरतमुनि ने लिखा है कि—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
नाऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन दृश्यते।।

अतः यह नाट्यशास्त्र समस्त ललितकला का भण्डार है । वर्तमान समय में प्राप्त नाट्यशास्त्र में ६००० श्लोक हैं । इसलिये इसको 'षट्साहस्री' के नाम से अभिहित करते हैं । परन्तु इससे पूर्व इसमें १२००२ श्लोक रहे होंगे । क्योंकि इसका दूसरा नाम "द्वादशसाहस्री" भी था । शारदातनय ने "भावप्रकाशन" नामक ग्रन्थ

में द्वादशसाहस्री नाट्यशास्त्र के रचयिता वृद्धभरत को और षट्साहस्री नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को माना है।

वर्तमान काल में प्राप्त नाट्यशास्त्र में ६००० श्लोक और ३६ अध्याय हैं। निर्णयसागर से प्रकाशित नाट्यशास्त्र के प्रथम संस्करण में ३७ अध्यायों का उल्लेख है। परन्तु अभिनवगुप्त ने ३६ अध्यायों को ही स्वीकार करके टीका की है। इस प्रकार भरतमुनि का नाम नाट्यशास्त्र के प्रवर्त्तक रूप में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है तथा यह भरतमुनि का "नाट्शास्त्र" ही संस्कृति नाटकों का आधार हुआ। इसी के आधार से नाट्यकला विकसित हुई। अतः भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का प्रवर्त्तक मानना सर्वथा उचित ही है।

(१) **मेधावी**—भरतमुनि और भामह के मध्य में अनेक साहित्यशास्त्र के आचार्य हुये होंगे किन्तु काल गति के कारण उनके नाम एवं रचनाओं का कुछ पता नहीं चल रहा है। परन्तु मेधावी नामक आचार्य के द्वारा प्रतिपादित उपमा दोषों का वर्णन भामह, नमिधाधु तथा वामनाचार्य ने अपने ग्रन्थों में किया है। मेधावी का सिद्धान्त उपमा दोषों का विवेचन सिद्धान्त है। उन्होंने (१) हीनता, (२) असम्भव, (३) लिंग-भेद, (४) वचन-भेद, (५) विपर्यय, (६) उपमानाधिक्य, (७) उपमान साद्दश्य इन सात प्रकार के उपमा दोषों का विवेचन विशेष रूप से किया है।

(२) **भामह**—भरतमुनि के बाद प्रसिद्ध आचार्य भामह का नाम बड़े आदर से स्मरण किया जाता है। भामह का समय छठी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। भामह का एकमात्र 'काव्यालंकार'' नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है, किन्तु अन्य ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि "काव्यालंकार" के अतिरिक्त छन्दशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र के विषय में और ग्रन्थों की रचना की है। परन्तु खेद है कि वे अन्य ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

भामह के पूर्व भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में गौण रूप से काव्य के गुण, दोष, अलंकार आदि के लक्षण प्राप्त होते हैं। अलङ्कारशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ काव्यालंकार ही सर्वप्रथम प्राप्त हुआ। अतः अलङ्कारशास्त्र स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित करने का श्रेय भामह को ही है। भामह के काव्यालङ्कार पर उद्भट ने टीका की थी, परन्तु वह टीका उपलब्ध नहीं है। उद्भट ने स्वयं 'काव्यालङ्कार सार संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की है। जो अब प्रकाशित हो गया है।

(३) **दण्डी**—भामह के बाद दण्डी नें अलकारशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थों की रचना की है। दण्डी ने अपनी रचना अवन्तिसुन्दरी में अपने को भारवि का पौत्र कहा है तथा बाणभट्ट और मयूर की प्रशंसा की है। अतः दण्डी का समय अष्टम शताब्दी में माना जाता है।

दण्डी के तीन ग्रन्थ (१) काव्यादर्श (२) दशकुमारचरित (३) अज्ञात ग्रन्थ

माने जाते हैं। अर्थात् दण्डी के (१) काव्यादर्श और दशकुमारचरित तो प्राप्त हैं, परन्तु तृतीय ग्रन्थ अप्राप्त है तथा उसका नाम भी विवादास्पद है।

(४) **भट्टोद्भट**—दण्डी के बाद भट्टोद्भट ने अलंकारशास्त्र के ऊपर महत्वपूर्ण कार्य किया है। ये काश्मीरी ब्राह्मण थे। काश्मीर के राजा जयादित्य की सभा के पण्डित ही नहीं सभापति भी थे। दण्डी के समान भट्टोद्भट ने भी तीन ग्रन्थों की रचना की। जिसमें प्रथम रचना भामह के 'काव्यालंकार' की टीका 'काव्यालङ्कार विवरण' के नाम से की थी जो आजकल उपलब्ध नहीं है। द्वितीय रचना 'काव्यालङ्कार सार संग्रह' के नाम से प्रसिद्ध है, जो उपलब्ध भी है। तृतीय रचना कुमारसम्भव नामक काव्य की थी, परन्तु यह भी उपलब्ध नहीं है। कालिदास ने भी कुमारसम्भव नामक काव्य की रचना की है। परन्तु कालिदास के कुमारसम्भव से आपके कुमारसम्भव की रचना भिन्न है।

(५) **वामन**—उद्भट के समान वामन भी काश्मीर के राजा जयादित्य के मन्त्री थे। अंतः दोनों समकालीन थे। वामन ने काव्य की आत्मा रीति को मानकर रीति सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया है। रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक होने के कारण वामन का नाम अलङ्कारशास्त्र के आचार्यों के मध्य में आदर के साथ स्मरण किया जाता है। अत: वामन का अलंकारशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। वामन के ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार सूत्र' है। यह सूत्र शैली में लिखा गया है। इसमें पाँच अधिकरण हैं तथा बारह अध्याय हैं और कुल ३१२ सूत्र हैं।

(६) **रुद्रट**—यह भी काश्मीर निवासी थे। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में रुद्रट का नाम अति प्रसिद्ध है। इनका नाम शतानन्द था। रुद्रट का भी ग्रन्थ 'काव्यालंकार' नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ आर्या छन्दों में लिखा गया है। इसमें कुल ७१४ आर्या छन्द हैं।

(७) **आनन्दवर्द्धन**—आपने ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण करके काव्य की आत्मा ध्वनि कहा गया है। आपका ध्वनिवादी आचार्य के नाम से साहित्यशास्त्र में प्रमुखतम स्थान माना जाता है। आनन्दवर्द्धन भी काश्मीर निवासी थे। आपका ध्वन्यालोक' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ध्वनि के भेदों तथा उपभेदों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

(८) **अभिनवगुप्त**—इनका पूरा नाम अभिनवगुप्त पाद है। आपको विद्याध्ययन में बहुत रुचि थी। आपने समकालीन प्राय: सभी विद्वानों के पास जाकर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। अभिनवगुप्त ने अपने गुरुओं के १३ नाम एक स्थान में लिखे हैं और सात गुरुओं के नामों का अन्यत्र उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने लब्धप्रतिष्ठ अनेक विद्वानों से तत्-तत् शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। आपके ग्रन्थों के नाम भी गुरुओं के नाम के समान बहुत हैं। कुल ४१ ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें प्रथम ग्रन्थ (१) 'ध्वन्यालोक लोचन' ध्वन्यालोक की

टीका के रूप में लिखा है। (२) अभिनवभरती भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की टीका के रूप में लिखा है। 'घटकर्पर विवरण' जो मेघदूत के समान दूतकाव्य पर टीका के रूप में लिखा है। शेष अन्य ग्रन्थ शैवदर्शन आदि से सम्बन्धित हैं।

(९) **राजशेखर**—दशम शताब्दी के आरम्भ में काव्यशास्त्र के सूक्ष्म समीक्षक राजशेखर का नाम उल्लेखनीय है। उपर्युक्त दण्डी के अतिरिक्त सभी आचार्य काश्मीर निवासी थे। दण्डी के बाद दूसरे आचार्य आप हैं जो काश्मीर से बाहर विदर्भवासी थे। कन्नौज के राजा 'महेन्द्रपाल' और 'महीपाल' इनके शिष्य थे। राजशेखर ने अपने को 'यायावरीय' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि आपका जन्म यायावर वंश में हुआ था।

राजशेखर मुख्य रूप में कवि तथा नाटककार थे। आपने चार नाटक और एक 'काव्यमीमांसा' नामक साहित्यशास्त्र का समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखा है, इसमें १८ अध्याय हैं। इनके कारण राजशेखर का नाम साहित्य-शास्त्रकारों में बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। 'काव्यमीमांसा' के देखने से ज्ञात होता है कि यह साहित्यशास्त्र का ग्रन्थ विलक्षण है। कवि को शिक्षा देने वाला यह ग्रन्थ विश्व-कोश सा प्रतीत होता है। अतः राजशेखर को 'कवि शिक्षा सम्प्रदाय' के प्रवर्तक माना जा सकता है। इस प्रकार रस, अलंकार, ध्वनि आदि सम्प्रदायों के साथ राज-शेखर का कवि शिक्षा सम्प्रदाय भी मानना चाहिये।

(१०) **मुकुलभट्ट**—नवम शताब्दी में मुकुलभट्ट ने जन्म ग्रहण किया था। स्वयं मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ के अन्त में 'भट्टवल्लट पुत्रेण मुकुलेन निरूपिता, लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि मुकुलभट्ट के पिता का नाम बल्लटभट्ट था। मुकुलभट्ट व्याकरण तथा मीमांसाशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे और साहित्यशास्त्र पर भी पूर्ण अधिकार था। आपका केवल 'अभिधावृत्ति मातृका' नामक छोटा सा ग्रन्थ प्राप्त है। इसमें १५ कारिकायें हैं। इन कविताओं पर वृत्ति भी स्वयं लिखी है। आपका यह ग्रन्थ ध्वनि-रोधक अर्थात् व्यञ्जना विरोधी है। व्यञ्जना तो मानना दूर रहा, आपने लक्षणा को भी अभिधा के अन्तर्गत ही माना है। अतः अभिधा के दस भेद प्रतिपादित करके लक्षणा को भी पृथक् नहीं माना है।

(११) **धनञ्जय**—आपका समय दशम शताब्दी माना जाता है। आपका सम्बन्ध मुख्यरूप से नाट्यशास्त्र से है। धनञ्जय का एकमात्र 'दशरूपक' नामक नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ प्राप्त होता है। नाट्य के पारिभाषिक शब्दों का परिचय दशरूपक से अध्ययन के बिना सरलता से नहीं जाना जा सकता है। इसके अध्ययन से नाटक सम्बन्धी सभी मान्यतायें एवं सिद्धान्तों का ज्ञान सरलता से हो जाता है। अतः 'दशरूपक' को महान् समादर नाट्य क्षेत्र में प्राप्त है। इसमें लगभग ३०० कारिकायें तथा चार 'प्रकाश' भी हैं। दशरूपक पर धनिक ने 'अवलोक' नाम की टीका लिखी है। यह टीका बहुत महत्वपूर्ण है।

(१२) **भट्टनायक**—दशम शताब्दी में आनन्दवर्द्धनाचार्य के बाद भट्टनायक का समय माना जाता है। भट्टनायक व्यंजना विरोधी थे उनका एकमात्र ग्रन्थ 'हृदय-दर्पण' था जो इस समय उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ में ध्वनि सिद्धांत का खण्डन किया गया था। भट्टनायक का रस-सिद्धान्त 'मुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। भट्टनायक के बाद महिमभट्ट ने ध्वनि के खण्डन के लिये 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा है। परन्तु महिमभट्ट को यह खेद बना रहा है कि उनको हृदयदर्पण नामक ग्रन्थ देखने को नहीं मिला। अतः यह निश्चित् है कि भट्टनायक ने ध्वनि का खण्डन अपने ग्रन्थ में किया और रस-सिद्धांत पर आपने एक अलग मुक्तिवाद की स्थापना की है।

(१३) **कुन्तक**—साहित्यशास्त्र में कुन्तक का एक प्रमुख सिद्धांत है जिसका नाम 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' है। आपका समय ११वीं शताब्दी माना जाता है। कुन्तक ने केवल 'वक्रोक्तिजीवित' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें कारिका, वृत्ति, उदाहरण तीन भाग हैं। ग्रन्थ का विभाजन ४ उन्मेषों में किया है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य हैं। आपने लक्ष्य और व्यंग्य को माना तो है, परन्तु वाच्यार्थ में ही लक्ष्य और व्यंग्य का अन्तर्भाव किया है।

(१४) **महिमभट्ट**—कुन्तक के बाद महिमभट्ट का नाम लिया जाता है। महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी आचार्य हैं। मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट आदि आचार्य ध्वनि विरोधी आचार्य माने जाते हैं। महिमभट्ट का केवल 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है इसमें ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान के अन्तर्गत माना है 'व्यक्तिविवेक' में तीन विमर्श हैं। तृतीय विमर्श में ध्वनि के ४० उदाहरण का अनुमान में अन्तर्भाव किया है। अतः ध्वनि को पृथक् नहीं माना जा सकता है। ध्वनि तो अनुमान में ही अन्तर्भूत है। पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

(१५) **क्षेमेन्द्र**—आपका नाम '**औचित्य सम्प्रदाय**' के **संस्थापक** के **रूप** में प्रसिद्ध है। आपके द्वारा विरचित ग्रन्थों की संख्या १८ प्राप्त होती है। परन्तु इन १८ ग्रन्थों में 'औचित्यविचारचर्चा' ही साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित है आपने औचित्य को रस का प्राण भी माना है। तथा औचित्य का स्वरूप वर्णन करते हुये लिखा है कि—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल, यस्य तत्।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥

इस प्रकार क्षेमेन्द्र को अन्य सम्प्रदायों के संस्थापकों के समान औचित्य सम्प्रदाय का संस्थापक माना जाता है।

(१६) **भोजराज**—धारानरेश राजा भोज का समय ११वीं शताब्दी माना जाता है। आपका नाम विद्वानों के आश्रयदाता, उदार, दानशील के रूप में विशेष

प्रसिद्ध है। राजा भोज केवल विद्वानों का आदर ही नहीं करते थे, अपितु स्वयं विद्वान् और साहित्य मर्मज्ञ थे। साहित्यशास्त्र में राजा भोज के द्वारा लिखित दो ग्रन्थ (१) सरस्वतीकण्ठाभरण और (२) शृंगारप्रकाश प्राप्त होते हैं। (१) सरस्वती कण्ठाभरण ५ परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोष और गुण का विवेचन किया है। द्वितीय परिच्छेद में २४ शब्दालङ्कारों का और चतुर्थ में २४ अर्थालंकारों का वर्णन किया है। पंचम में रस, भाव, पंचसन्धि तथा वृत्तियों का निरूपण किया है। (२) शृंगारप्रकाश एक विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें ३६ प्रकाश हैं। नाम के अनुसार इसमें शृंगार रस का विस्तृत वर्णन किया है। परन्तु भोज का यह ग्रन्थ शृंगार के साथ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चारों, पदार्थों का वर्णन करता है। 'शृंगारप्रकाश' साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में सबसे अधिक विशालकाय ग्रन्थ है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से अर्थात् भरतमुनि से लेकर भोजराज तक के साहित्यशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। मम्मट से पूर्ववर्ती १७ आचार्यों का विवरण उपर्युक्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् अर्थात् भरतमुनि से लेकर लगभग १२०० वर्षों में साहित्य-क्षेत्र में जो कार्य हुआ, उसका समन्वित रूप मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में प्रस्तुत किया है। मम्मट ने काव्य सम्बन्धी सभी तत्वों का प्रतिपादन बड़े ही सुन्दर रूप में किया है। रीति, गुण, दोष, अलंकार आदि का यथार्थ वर्णन करके अनुरूप स्थान दिया है। यही तो कारण है कि मम्मट के काव्यप्रकाश का जितना समादर हमारे साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में हुआ है और हो रहा है, उतना समादर किसी का नहीं हुआ है। ●

प्रश्न ३—मम्मटाचार्य के उत्तरवर्ती साहित्यशास्त्र के आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिये।

Give the brief account of the Acharyas after Mammat.

उत्तर—(१) सागरनन्दी—मम्मटाचार्य के बाद सागरनन्दी का नाम आता है। ये काव्यशास्त्र के नहीं अपितु नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं। मम्मट के पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्र के आचार्य (१) भरत (२) धनञ्जय (३) धनिक हो चुके हैं। धनञ्जय के लगभग २०० वर्ष बाद सागरनन्दी ने 'नाट्यलक्षणपरकरत्नकोश' नामक ग्रन्थ की रचना की है। आपका मुख्य नाम 'सागर' था किन्तु नन्दी वंश में उत्पन्न होने के कारण 'सागरनन्दी' से अभिहित किये जाते हैं। आपने अपने ग्रन्थ में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का अधिक आश्रय लिया है। कहीं-कहीं तो नाट्यशास्त्र की कारिकाओं को ही उतार दिया है। दशरूपक के समान आपने भी अपने ग्रन्थ की रचना कारिकाओं में ही की है।

(२) राजानक रुय्यक—राजानक उपाधिधारी रुय्यक ने काव्यप्रकाश की 'काव्यप्रकाश संकेत' नामक टीका का प्रणयन किया है। काश्मीर के प्रमुख पंडित

को राजानक उपाधि से विभूषित किया जाता था। इससे स्पष्ट है कि रुय्यक काश्मीर निवासी थे। राजानक रुय्यक का जन्म ११वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। आपकी तीन रचनायें (१) सहृदयलीला (२) व्यक्तिविवेक की टीका (३) अलंकारसर्वस्व इस समय प्राप्त होती हैं। अलंकारसर्वस्व इनका महत्वपूर्ण साहित्यशास्त्र का ग्रन्थ माना जाता है। इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त (१) काव्य-प्रकाश संकेत (२) अलंकार मंजरी (६) अलंकारानुसारिणी (४) साहित्यमीसांसा (५) नाटकमीमांसा (६) अलंकार वार्त्तिक इन ६ ग्रन्थों के नाम जयरथ की 'विमर्शिनी' टीका में प्राप्त होते हैं। परन्तु ये ग्रन्थ अप्राप्त हैं।

(३) **हेमचन्द्र**—ये जैन धर्मावलम्बी प्रसिद्ध आचार्य हैं, आपका जन्म गुज-रात के अहमदाबाद जिले में ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। चालुक्य राजा सिद्धराज के अनुरोध से आपने एक व्याकरण ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम 'सिद्धहेम' व्याकरण रक्खा है। साहित्यशास्त्र पर 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें आठ अध्याय हैं, प्रायः इस ग्रन्थ में काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, अभिनवभारती आदि से लम्बे-लम्बे उद्धरणों को उद्धृत किया है। इसमें काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, कारण, रस दोष, गुण अलङ्कार आदि का वर्णन किया गया है।

(४) **रामचन्द्र-गुणचन्द्र**—हेमचन्द्र के शिष्यों में (१) रामचन्द्र और (२) गुणचन्द्र नाम के दो प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने मिलकर "नाट्यदर्पण" नाम से एक नाट्य विषयक ग्रन्थ की रचना की है। गुणचन्द्र की कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं होती है। परन्तु रामचन्द्र के अनेक ग्रन्थों के नाम प्राप्त होते हैं, जो प्रायः नाटक हैं। इन्होंने रस को सुखात्मक ही नहीं अपितु दुःखात्मक भी माना है।

(५) **वाग्भट्ट**—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र के बाद साहित्यशास्त्र के आचार्यों में वाग्भट्ट का नाम आता है। आपने (१) वाग्भट्टालङ्कार (२) काव्यानुशासन (३) नेमिनिवार्ण महाकाव्य (४) ऋषभदेवचरित (५) छन्दोऽनुशासन और आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रन्थ (६) अष्टांगहृदय आदि ग्रन्थों की रचना की है। यद्यपि कुछ विद्वानों में मतभेद है कि दो वाग्भट्ट हुये हैं। उनके मत से प्रथम वाग्भट्ट की रचना "वाग्भ-टालङ्कार" ही है। और (१) काव्यानुशासन (२) ऋषभदेव चरित (३) छन्दोऽनुशा-सन। इन तीनों ग्रन्थों की रचना द्वितीय वाग्भट्ट ने की है। परन्तु "नेमिनिर्वाण महाकाव्य" और आयुर्वेद की अष्टांगहृदयसंहिता" किस वाग्भट्ट की रचना है, इस विषय पर कुछ नहीं कहा है। वास्तव में इन सभी ग्रन्थों के रचयिता एक ही वाग्भट्ट हैं।

(६) ***अरिसिंह तथा अमरचन्द्र***—रामचन्द्र और गुणचन्द्र के समान ही ये दोनों अरिसिंह और अमरचन्द्र एक गुरु के (जिनदत्तसूरि के) शिष्य थे और दोनों ने मिलकर "काव्यकल्पलता" नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें कवि शिक्षा

अर्थात् कविता करने के नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में चार प्रतान हैं—(१) छन्दसिद्धि (२) शब्दसिद्धि (३) श्लेषसिद्धि (४) अर्थसिद्धि। इनमें कवि बनने का इच्छुक व्यक्ति किस प्रकार सरलता से कविता करने में समर्थ हो सकता है, इसका वर्णन बड़ी सतर्कता से किया है।

(७) **देवेश्वर**—चौदहवीं शताब्दी में देवेश्वर नामक जैन विद्वान् हुए। आपने "कविकल्पलता" नामक ग्रन्थ की रचना की है। परन्तु यह ग्रन्थ काव्य-कल्पलता का अनुकरण मात्र है। अतः इसका कोई अस्तित्व नहीं माना जाता है।

(८) **जयदेव**—११वीं शताब्दी में बंग प्रदेश में राजा लक्ष्मणसेन राज्य करते थे। लक्ष्मणसेन की सभा में (१) आर्यासप्तशती के रचयिता गोवर्द्धनाचार्य (२) जयदेव (३) शरणकवि (४) उमापति (५) कविराज (धोयी) ये ५ प्रमुख विद्वान् रहते थे। राजसभा भवन के द्वार पर इन ५ विद्वानों के नाम श्लोक रूप में एक शिलापट्ट पर अंकित थे। वह श्लोक इस प्रकार था—

गोवर्द्धनश्च शरणो जयदेव उमापतिः।
कविराजश्च रत्नानि समितौ लक्ष्मणस्यतु॥

इनमें "चन्द्रालोक" और "प्रसन्नराघव" आदि नाटकों के तथा अनेक ग्रन्थों के रचयिता जयदेव हैं। जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में उपर्युक्त साथियों के नामों का उल्लेख किया है। आपके (१) चन्द्रालोक (२) प्रसन्नराघव (३) गीतगोविन्द ये तीन ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। गीतगोविन्द में आश्रयदाता लक्ष्मणसेन और अपने साथियों का परिचय दिया है। चन्द्रालोक तथा प्रसन्नराघव में अपने पिता महादेव और माता सुमित्रा के नामों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि चन्द्रालोक और गीतगोविन्द के लेखक एक नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि गीतगोविन्द के १२वें सर्ग के ११वें श्लोक में जयदेव के पिता "भोजदेव" और माता रामदेवी का नाम प्राप्त होता है। इसीलिये गीतगोविन्द के रचयिता को चन्द्रालोक के रचयिता से भिन्न माना जाता है। परन्तु यह श्लोक प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि गीतगोविन्द की टीका "रसिकप्रिया" में "श्री भोजदेव प्रभवस्य" श्लोक की टीका नहीं प्राप्त होती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है। वस्तुतः चन्द्रालोक में १० मयूख हैं। यह ग्रन्थ सरल एवं सुन्दर शैली में लिखा है। अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण दोनों को एक ही अनुष्टुप् छन्द में लिखकर व्यक्त किया है। इससे अलंकारों को समझने में और छात्रों को स्मरण करने में कोई कठिनता नहीं होती है। अप्पयदीक्षित ने भी चन्द्रालोक के अलङ्कारों के लक्षणोदाहरण की शैली को कुवलयानन्द में अपनाया है।

(९) **विद्याधर**—ये दक्षिणी विद्वान् थे। काश्मीर से साहित्यशास्त्र बंग प्रदेश में पहुँच कर दक्षिणी भारत में पहुँच गया। अर्थात् प्रथम साहित्यशास्त्र का मुख्य केन्द्र काश्मीर रहा, फिर बंग प्रदेश और तदनन्तर दक्षिणी भारत।

साहित्यशास्त्र के आचार्यों में प्रमुख विद्याधर का नाम स्मरण किया जाता है विद्याधर का एक मात्र ग्रंथ 'एकावली' है। इसमें आठ उन्मेष हैं। इस ग्रन्थ की रचना 'काव्यप्रकाश' और 'अलंकारसर्वस्व' के आधार पर की गई है। एकावली की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जितने उदाहरण हैं, वे सब विद्याधर के द्वारा स्वयं रचित हैं।

(१०) **विद्यानाथ**—विद्याधर के बाद विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की है। विद्याधर के समान चाटु प्रवृत्ति का अनुकरण करते हुए आन्ध्र प्रदेश के राजा प्रतापरुद्र की प्रशंसा में श्लोकों की रचना करके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

(११) इसके बाद कविराज विश्वनाथ ने साहित्यशास्त्र पर एक महत्वपूर्ण साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ की रचना की है। १३१६ ई० तक अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिणी भारत पर शासन किया है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के चतुर्थ परिच्छेद में 'अलाउद्दीन नृपतौ' लिखा है। इससे स्पष्ट होता है कि विश्वनाथ १४वीं शताब्दी में उत्पन्न हुये। काव्यप्रकाश के समान साहित्यदर्पण में भी दश परिच्छेद हैं। आपने काव्य का लक्षण 'वाक्यं रसात्मक काव्यम्' लिखकर मम्मट के काव्य लक्षण का खण्डन करने का प्रयास किया है। साहित्यदर्पण की भाषा सरल है। काव्यप्रकाश जैसी जटिलता साहित्यदर्पण में कहीं नहीं प्राप्त होती है। ये १८ भाषाओं के ज्ञाता थे और सम्भवत: किसी राज्य के 'सन्धिविग्रहिक' अर्थात् विदेश मन्त्री थे। आपने काव्यप्रकाश पर काव्यप्रकाश दर्पण नामक टीका का भी प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त (१) राघवविलास (२) कुवलया चरित्र (३) प्रभावती परिणय नाटिका (४) चन्द्राकला नाटिका (५) नरसिंह विजय (६) प्रशस्ति रत्नावली, इन ६ काव्य तथा नाटकों का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में स्वयं किया है। इनमें अन्तिम प्रशस्ति 'रत्नावली' सोलह भाषाओं में लिखा हुआ 'करम्भक' है। अतः निश्चय ही आप अनेक भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान् थे। साहित्यशास्त्र को आपकी अनुपम देन साहित्यदर्पण है।

(१२) **शारदातनय**—आप अपने को शारदादेवी का पुत्र मानकर शारदातनय लिखने लगे। इसीलिए इनका नाम शारदातनय प्रसिद्ध हो गया था। १३वीं शताब्दी में जन्म ग्रहण करके 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनमें १० अध्याय हैं। (१) भाव (२) रसस्वरूप (३) रसभेद (४) नायक, नायिका (५) नायिका भेद (६) शब्दार्थ सम्बन्ध (७) नाट्येतिहास (८) दशरूपक (९) नृत्यभेद (१०) नाट्यप्रयोग। इस प्रकार 'भावप्रकाशन' में नाट्यशास्त्र का विवेचन किया है। इसलिये आपको अलंकारशास्त्र का नहीं अपितु नाट्यशास्त्र का आचार्य माना जाता है।

(१३) **शिङ्गभूपाल**—ये भी शारदातनय के समान नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं। आपने 'रसार्णवसुधाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें तीन उल्लास हैं। आपकी शैली सरल और सुन्दर है। आपने रसार्णवसुधाकर के प्रारम्भ में अपना

वंश परिचय लिखा है, जिससे ज्ञात होता है कि ये शूद्र थे और इनका समय चौदहवीं शताब्दी है।

(१४) **भानुदत्त**—ये मिथिला के निवासी थे और इनका समय चौहदवीं शताब्दी था। आपने दो ग्रन्थ (१) रसमंजरी (२) रसतरङ्गिणी की रचना की है। इनमें 'रसमञ्जरी' मुख्य रचना है। रसतरङ्गिणी तो रसमञ्जरी का संक्षिप्त रूप ही है। रसमञ्जरी के अतिरिक्त 'गीतागौरीपति' नामक गीतकाव्य की रचना, गीत-गोविन्द के आधार पर लिखी है। यह सरल एवं सरस गीतकाव्य है।

(१५) **रूपगोस्वामी**—ये वृन्दावन निवासी वैष्णव मतावलम्बी चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। आपका समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है वस्तुतः वृन्दावन इनकी जन्मभूमि नहीं थी आपकी जन्मभूमि बंगाल थी। परन्तु चैतन्य महाप्रभु के आग्रह से वृन्दावन में आकर रहे थे। रूपगोस्वामी ने दश ग्रन्थों की रचना की है। जिनमें तीन ग्रन्थ अलंकारशास्त्र से सम्बन्धित हैं। (१) भक्तिरसामृतसिंधु (२) उज्ज्वल-नीलमणि ये दोनों ग्रंथ रसप्रतिपादक हैं। आपने 'भक्तिरसामृतसिंधु' नामक ग्रंथ में भक्तिरस को सर्वश्रेष्ठ रस माना है। भक्तिरस के विभाव, अनुभाव आदि का तर्कसंगत वर्णन किया है और भक्तिरस के प्रीत, प्रेम, वत्सल, मधुर आदि विशेष भेदों का निरूपण किया है। उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रन्थ शृङ्गार रस का विवेचक एवं 'भक्तिरसामृतसिंधु' का पूरक ग्रन्थ है। तृतीय ग्रन्थ है। 'नाटक चन्द्रिका' है। इसकी रचना भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार ही की है। रूप गोस्वामी के भाई सनातन गोस्वामी तथा उनके भतीजे जीव गोस्वामी भी उच्चकोटि के विद्वान् थे। ये तीन आर्य वृन्दावन की विभूति थे।

(१६) **केशवमिश्र**—केशवमिश्र का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। ये दिल्ली के पार्श्ववर्ती थे। अपने साहित्यशास्त्र पर 'अलंकार-शेखर' नामक ग्रन्थ की रचना की है, इसमें ८ अध्याय अथवा आठ रत्न हैं और (१) काव्य लक्षण (२) रीति (३) शब्दशक्ति (४) आठ प्रकार के पद-दोष (५) अठारह प्रकार के वाक्यदोष (६) आठ प्रकार के अर्थदोष (७) पाँच प्रकार के शब्द-गुण और चार प्रकार के अर्थगुण (८) अलंकार और रूपक आदि का निरूपण किया है।

(१७) **कवि कर्णपूर**—चैतन्य महाप्रभु के शिष्य शिवानन्द के पुत्र का नाम परमानन्द सेन था। यह परमानन्द ही "कवि कर्णपूर" के नाम से साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्ध हुये। इनका जन्म १५२४ ई० में बंगाल में हुआ था। आपने दो ग्रंथ (१) चैतन्य चन्द्रोदय (२) अलंकार कौस्तुभ लिखे हैं, आपके दूसरे ग्रंथ में १० किरण अथवा अध्याय हैं। इसमें काव्य लक्षण, शब्दशक्ति ध्वनि, रस भाव, अलंकार आदि का वर्णन किया है। इसलिये आपकी गणना अलंकारशास्त्र के आचार्यों में की जाती है।

(१८) **कविचन्द्र**—ये कवि कर्णपूर के पुत्र थे। इन्होंने काव्यचन्द्रिका नामक अलंकारशास्त्रपरक ग्रंथ की रचना १६ प्रकाशों अर्थात (अध्यायों) में की है। इसके

अतिरिक्त (१) सार लहरी (२) धातुचन्द्रिका नामक दो ग्रन्थों की रचना की है।

(१९) **अप्पयदीक्षित**—आपका समय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। ये प्रकाण्ड विद्वान् एवं विविध विषयों एवं शास्त्रों के ज्ञाता थे। आप मुख्य रूप से दार्शनिक थे। विद्वानों का मत है कि दीक्षित जी ने १०४ ग्रन्थों का प्रणयन किया है। न्यायशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, मीमांसा आदि शास्त्रों पर भी आपकी रचनायें प्राप्त होती हैं। अलंकारशास्त्र पर (१) वृत्तिवार्त्तिका (२) चित्रमीमांसा (३) कुवलयानन्द नामक इन तीन ग्रन्थों की रचना की है। इनमें प्रथम दो ग्रन्थ अपूर्ण से प्राप्त होते हैं। तीसरा ग्रन्थ कुवलयानन्द है। इसकी रचना चन्द्रालोक के आधार पर की है। चन्द्रालोक के अलंकारों के लक्षण आपने ज्यों के त्यों कुवलयानन्द में अंकित कर दिये हैं। उदाहरण अन्यत्र से उद्धृत किये हैं। कुवलयानन्द के अन्त में २४ अलंकार ऐसे हैं, जिनके लक्षण चन्द्रालोक में नहीं प्राप्त होते हैं। जयदेव के समान ही अनुष्टुप छन्द में लक्षण और उदाहरणों को प्रस्तुत किया है।

(२०) **पण्डितराज जगन्नाथ**—पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। किन्तु युवावस्था में दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के दरबार में आकर रहने लगे। वहाँ रहकर दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाई और दाराशिकोह के संस्कृत के प्रेम और उनके गुणों से प्रभावित होकर इन्होंने "जगदाभरण" नामक काव्य की रचना की है। अपने मित्र आसफअली की मृत्यु हो जाने पर उनकी स्मृति में "आसफविलास" नामके काव्य की रचना की है। शाही दरबार में रहते हुए पण्डित-राज ने लवंगी नामक यवन कन्य से विवाह किया था। वृद्धावस्था में वृन्दावन और मथुरा में आकर रहे। तथा अन्तिम समय में काशी आ गये। अन्तिम क्षणों में गंगालहरी की रचना की और गंगालहरी के अन्तिम श्लोक के समाप्त होते ही गंगा की धारा में विलीन हो गये और यशः शरीर से अमर हो गये।

पण्डितराज ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें भामिनीविलास, गंगा लहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, आदि दस काव्यों की रचना की है। अलंकारशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ 'रसगंगाधर' की रचना की है। यह अलंकारशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत आने वाले सभी उदाहरणों को स्वयं बनाकर लिखा है। अतः यह साहित्यशास्त्र का प्रौढ़ एवं विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है। परन्तु यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें केवल दो आनन हैं। आपने सभी काव्य-लक्षणों का खण्डन करके 'रमणीयार्थ प्रति-पादकः शब्दः काव्यम्' काव्य का लक्षण लिखा है और काव्य का हेतु केवल प्रतिभा को ही माना है। इनके अतिरिक्त काव्य के (१) उत्तमोत्तम (२) उत्तम (३) मध्यम (४) अधम इन चार भेदों का निरूपण किया है। वस्तुतः यह रसगंगाधर नामक ग्रन्थ एक विद्वत्तापूर्ण अलंकारशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ है।

(२१) **आशाधरभट्ट**—आपका समय १८वीं शताब्दी माना जाता है। इनके पिता का नाम राम जी और गुरु का नाम धरणीधर। इन्होंने था

कोविन्दानन्द (२) त्रिवेणिका (३) अलंकारदीपिका नामक तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया है। कोविन्दानन्द और त्रिवेणिका में शब्दशक्तियों का निरूपण किया है। तीसरे ग्रन्थ अलंकारदीपिका में कुवलयानन्द के समान १२५ अलंकारों का निरूपण किया है।

(२१) नरसिंहकवि—आपका समय १८वीं शताब्दी माना जाता है। आपका अलंकारशास्त्र विषयक एक ही ग्रन्थ प्राप्त होता है। जिसका नाम "नञ्जराजयशोभूषण" है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ के "प्रतापरुद्रयशोभूषण" के आदर्श पर लिखा गया है। परन्तु अन्तर यह है कि यह ग्रन्थ राजा की प्रशंसा में नहीं अपितु नञ्जराज नामक मन्त्री की प्रशंसा में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में सात विलास (अध्याय) हैं। (१) नायक (२) काव्य (३) ध्वनि (४) रस (५) दोष (६) नाटक (७) अलंकार; इन सात विषयों का निरूपण किया है।

(२२) विश्वेश्वर पण्डित—ये साहित्यशास्त्र के अन्तिम विद्वान् हैं। आप अल्मोड़ा निवासी थे। आपने, व्याकरण, न्याय तथा साहित्यशास्त्रों पर महत्त्वपूर्ण रचनायें की हैं। व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि नामक विशाल ग्रन्थ व्याकरण परक है। और न्यायशास्त्र पर (१) तर्क कुतूहल (२) दीधिति प्रवेश ये दो ग्रन्थ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त अलंकारशास्त्र पर "अलंकारकौस्तुभ" नामक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें अप्पयदीक्षित और पण्डितराज के मतों का खण्डन बड़ी सतर्कता एवं प्रौढ़ता के साथ किया है। (१) अलंकारमुक्तावली (२) अलंकार प्रदीप (३) रसचन्द्रिका (४) कवीन्द्रकण्ठाभरण इन चार अन्य ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार मम्मट के उत्तरवर्ती २२ आचार्यों का परिचय अति संक्षेप रूप में प्रस्तुत किया गया है।

प्रश्न ४—काव्यशास्त्र में मम्मट का स्थान निर्धारित करते हुये उनकी देन पर प्रकाश डालिये। (आगरा वि० वि० १९६३, ६५, ६६, ६८, ७९)

Make a critical estimate of Mammata's place in the history of Sanskrit poetics and point out his main contribution to the subject.

उत्तर—अलंकारशास्त्र के मर्मज्ञ महावैयाकरण ध्वनि प्रस्थापनाचार्य महापण्डित आचार्य प्रवर मम्मटाचार्य ने साहित्यक्षेत्र में काव्यशास्त्रों के सिद्धान्त का समन्वयात्मक रहस्य, काव्यप्रकाश के रूप में भारत को प्रदान कर अनुपम प्रतिष्ठा प्राप्त की है। आपकी तीव्र समालोचना शक्ति एवं काव्यशास्त्र के विविध सिद्धांतों के समन्वय एवं सूत्र शैली से प्रभावित होकर विद्वानों ने इन्हें सहर्ष 'वाग्देवतावतार' की उपाधि से अलंकृत किया है। अलंकारशास्त्र के प्रणेताओं में जो सम्मान आचार्य मम्मट को प्राप्त हुआ है, वह सम्मान अन्य किसी काव्यशास्त्र के लेखक को प्राप्त नहीं हुआ है। ध्वनि प्रतिपादक आचार्य में मम्मट का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसलिये आपको ध्वनि प्रस्थापनाचार्य कहा जाता है। वस्तुतः मम्मट ने ध्वनि विरोधी आचार्यों के मतों की धज्जियाँ बखेर कर इस प्रकार खण्डन कर डाला है कि ध्वनि विरोधियों का नाम भी लेने में कोई समर्थ नहीं हो रहा है। मम्मट के हृदय में ध्वनि-

वादी आनन्दवर्द्धनाचार्य तथा अभिनवगुप्त का तथा महावैय्याकरक महामुनि पतञ्जलि का बहुत सम्मान था। इसलिये पतञ्जलि का काव्यप्रकाश में यथास्थान सम्मान-सूचक शब्दों में स्मरण किया है।

भरतमुनि के समय से महाराज भोजराज के समय तक लगभग १२०० वर्षों में काव्यप्रकाश पर जो भी नवीन सृजन एवंचिन्तन किया गया तथा जो भी काव्यशास्त्र ने विकास किया, उस सबका सम्यक् चिंतन करते हुए समन्वयात्मक दृष्टि से आचार्य मम्मट ने सार रूप में ग्रहण करके काव्यप्रकाश के रूप से जो नवनीत काव्य जगत् को प्रदान किया है, उस नवनीत की दिव्य ज्योति से काव्यशास्त्र के रहस्यात्मक तत्व सदा बुद्धिगम्य होते रहेंगे। भरतमुनि के रस सूत्र के व्याख्याताओं के सिद्धांतों की समालोचना प्रस्तुत करते हुये अभिनवगुप्त के मत को मान्य घोषित करके आचार्य मम्मट ने आलौकिक तर्क देते हुये बुद्धि का परिचय दिया है। मम्मट से पूर्व काव्य-शास्त्रियों ने काव्यस्वरूप का स्वरूप स्पष्ट करते हुये अपनी-अपनी ढफली, अपना-अपना राग, आलापा था। तथा कोई केवल ध्वनि पक्ष पर तथा भावपक्ष पर तथा कोई कलापक्ष पर अपने-अपने मत प्रदर्शित करके काव्यशास्त्रियों की पंक्ति में सम्मिलित हो गये पलासपत्र की भाँतिअलग ही रहने में गौरव समझा। परन्तु आचार्य मम्मट ने १२०० वर्षों में रचित काव्य के लक्षणों का समन्वय अपने काव्य-लक्षण में करके 'तद्दोषों शब्दर्थों सगुणावंनलंकृती पुनः क्वापि' इस काव्य-परिभाषा का प्रणयन किया। इस काव्य-परिभाषा में भामह, दण्डी, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्द्धन आदि के शब्द, अलंकार, ध्वनिप्रधान काव्यस्वरूपों का समन्वय प्रस्तुत करते हुये एक वैज्ञानिक सशक्त काव्य-परिभाषा प्रस्तुत की है अनलंकृती के भाव को न समझने वाले विश्वनाथ तथा जयदेव आदि ने "यः कौमारः हरः" इत्यादि पद्य में विभावना विशेषोक्ति के सम्बन्ध में सन्देहसंकर अलङ्कार मानकर अनलंकृती को अनुचित सिद्ध करने का प्रयास किया किन्तु मम्मट की प्रधानता एवं मान्यता को न समझ सकने के कारण स्वयं शान्त हो गये। क्योंकि मम्मट को रसप्रधान रचना ही उत्तम काव्य के रूप में मान्य थी। अतएव "यः कौमारः हरः" में रस की तीव्र-तम धारा के प्रवाह में अलङ्कारों की सत्ता नहीं रह जाती है। यह प्रदर्शित करने के लिये ही अनलंकृती को शब्दार्थ का विशेषण बताया। मम्मट का रस ही ध्वनि और ध्वनि ही रस है क्योंकि उन्होंने असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को ही रस की संज्ञा प्रदान की है। सामान्यतया ध्वनि के प्रमुख भेद (१) वस्तुध्वनि (२) अलङ्कारध्वनि (३) रसध्वनि माना है इस प्रकार मम्मट ने वह कार्य किया जो काव्यशास्त्र में 'भूतो न भविष्यति' कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अतः भामह, दण्डी, रुद्रट आदि अलङ्कार सम्प्रदायवादी बिद्वानों ने अलङ्कारों के विवेचन में ही अपनी बुद्धि लगायी। रस तथा ध्वनि पर विमर्श ही नहीं किया। वामन तो "रीतिरात्मा काव्यस्य" लिखकर रीति सम्प्रदाय के स्थापन में तल्लीन हो गये। काव्यात्मा रस की ओर ध्यान नहीं दिया। आनन्दवर्द्धनाचार्य केवल

ध्वनि की स्थापना करने में प्रयत्नशील रहे, अन्य काव्य के तत्वों पर चिंतन नहीं किया। अभिनवगुप्त ने "लोचन" और अभिनवभारती की रचना करके रस प्रतिपादन में रसमग्न हो गये परन्तु दोष, गुण, अलङ्कार आदि का विवेचन नहीं किया। मुकुलभट्ट, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजराज आदि के सिद्धांतों का उचित समन्वित विवेचन काव्यप्रकाश में भी समुपलब्ध होता है। अतः १२०० वर्षों में काव्यलता में जो काव्य सिद्धांत रूपी प्रसून प्रसूत एवं विकसित हुये, उन सभी काव्य सिद्धांत रूपी प्रसूनों से सार रूप मधुचयन कर काव्यप्रकाश रूपी छत्ते में भर दिया है। तथा भामह, दण्डी, रुद्रट, वामनादि काव्यशास्त्रियों के सिद्धांतों में जो कमी देखी उसको दूर करने का प्रयास किया तथा जो उत्तमत्ता एवं काव्यशास्त्र के उपयोग की वस्तु देखी उसे ग्रहण करके अपनी प्रतिभा से सुसज्जित कर काव्यप्रकाश रूपी रत्न मञ्जूषा में रख दिया अतः काव्यप्रकाश काव्यशास्त्र के सिद्धांतों की अनुपम रत्न मञ्जूषा है। जिसके रत्नों की रश्मियां काव्य जगत् को आलोकित करती हुई अपूर्व प्रतिष्ठा से देदीप्यमान हो रही है। इसीलिये आचार्य मम्मट को काव्यशास्त्रियों में सर्वाधिक गौरव प्राप्त है। वस्तुतः मम्मट अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं प्रकाण्डपाण्डित्य के कारण ही अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय स्थान को अलंकृत करते हुये यशः शरीर से हम सबको प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध समीक्षक एवं इतिहास भाषाविज्ञानादि विशारद डॉ० श्यामसुन्दरदास ने मम्मट के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों के सार को देखकर लिखा है कि 'मम्मट के समान व्यवस्थित और व्यवहारोपयोगी व्याख्या करने वाला दूसरा नहीं हुआ।' इस प्रकार सभी विद्वान् मम्मट के काव्यप्रकाश का गौरव स्वीकार करते हैं तथा काव्यशास्त्रियों में मम्मट का अद्वितीय स्थान मानते हैं।

अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश का अद्वितीय स्थान है। अति प्रचीनकाल से लेकर काव्यशास्त्र सम्बन्धी जो भी विभिन्न मत चले आ रहे थे, उनका सार-सार ग्रहण करके आवश्यक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन करके काव्यप्रकाश का सृजन किया, जो काव्यप्रकाश आज काव्यशास्त्र का मूलाधार बन गया है। वस्तुतः काव्यप्रकाश में काव्यशास्त्र के मूलाधार के वे सभी गुण विद्यमान हैं जो गुण काव्यशास्त्र के मूलाधार में होने चाहियें। अतः वेदान्तदर्शन में जो गौरव शरीरिक भाषा को प्राप्त है तथा व्याकरण शास्त्र में जो प्रतिष्ठा पतञ्जलि के महाभाष्य को प्राप्त है वही प्रतिष्ठा काव्यशास्त्रियों में आचार्य मम्मट को उपलब्ध है। वास्तव में काव्यप्रकाश का स्थान काव्यशास्त्र में सर्वोपरि है। काव्यप्रकाशकार की विशेषता यह है कि उन्होंने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों की सभी मान्यताओं का सम्यक् निरीक्षण करके निर्भीक होकर नीर-क्षीर न्याय से अनुकरण किया और आवश्यकता पड़ने पर उचित समझ कर खण्डन किया तथा समन्वयात्मक दृष्टि को प्रधानता प्रदान कर रागद्वेष से रहित होकर समुचित समीक्षा करते हुये काव्यप्रकाश का प्रणयन किया।

(१) भामह के 'शब्दार्थौ काव्यम्' का लक्षण स्वीकार करते हुये मम्मट ने

काव्य का शरीर शब्दार्थों स्वीकार किया है। परन्तु भामह की अलङ्कार प्रधानता को अनिवार्य रूप में स्वीकार नहीं किया। तथा "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते" भामह के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये भी "श्रव्यं नीति समस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते" इस सिद्धान्त का डटकर खण्डन किया है।

(२) दण्डी के अतिशयोक्ति अलङ्कार का गौरव स्वीकार करके भी मम्मट ने दण्डी द्वारा प्रतिपादित १० गुणों का खण्डन करके ओज प्रसाद माधुर्य की प्रतिष्ठा की अर्थात् दण्डी तथा वामन के दश गुणों का खण्डन करके त्रिगुणवाद की स्थापना की है। कुछ गुणों का तीन में अन्तर्भाव, तथा कुछ गुणों की अनित्यता घोषित कर दोष परिहार द्वारा तथा कुछ गुणों को अलङ्कारों में समाविष्ट करके केवल ओज प्रसाद माधुर्य गुणों की स्थापना की है।

(३) आनन्दवर्द्धनाचार्य के ध्वनिसिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण काव्य-प्रकाश में ध्वनि की स्थापना चतुर्थ उल्लास में विस्तार के साथ की है। इस प्रकार ध्वनिसिद्धान्त के प्रति मम्मट का आदरभाव स्वयं स्पष्ट हो रहा है। परन्तु मम्मट ने काव्य-लक्षण में आनन्दवर्द्धन के 'ध्वनिरात्माकाव्यस्य' का सिद्धान्त शब्द से स्वीकार नहीं किया, जब कि मम्मट ध्वनि प्रस्थापनाचार्य कहे जाते हैं। वस्तुतः मम्मट के काव्य-लक्षणों में सभी प्रसिद्ध काव्य-लक्षणों का समन्वयात्मक रूप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। अनलंकृती के मण्डन में "यः कौमारः हरः" उदाहरण देकर रस की प्रधानता स्वीकार की है और असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को ही रस माना है जिससे मम्मट के काव्य-लक्षण में ध्वनिके महत्व का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित हो रहा है।

(४) रससिद्धान्त सम्बन्धी मुख्य व्याख्याताओं के मतों का उल्लेख करके अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त को स्वीकार किया है। महिमभट्ट के व्यंजना विरोधी तर्कों का खण्डन किया है और महिमभट्ट के रस-दोष सम्बन्धी विचार को स्वीकार करके सप्तम उल्लास में रस-दोष का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार मम्मट ने पूर्ववर्ती मनीषियों के काव्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं मान्यताओं की समीक्षा करके समन्वय स्थापित करते हुये अपने नवीनतम सिद्धान्तों का प्रणयन करके ध्वनिवाद का प्रचुर प्रचार करने का प्रयास किया। आपके ध्वनि स्थापनार्थ दिये हुए तर्कों को देखकर कोई ध्वनिविरोधी अपने मतों को पुनः दुहराने में समर्थ नहीं हो सके हैं। आपने काव्यशास्त्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों को सूत्र शैली में वैज्ञानिकता के साथ इस प्रकार प्रतिपादन किया है अर्थात् सूत्र शैली के द्वारा विभिन्न काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का यथार्थ निरूपण करते हुये कतिपय नवीन सिद्धान्तों का प्रणयन किया है।

(१) सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने प्रसिद्ध अनेक काव्य-लक्षणों में अपूर्णता का अनुभव किया और सूत्रात्मक शैली में विविध काव्य-लक्षणों का समन्वय स्थापित करते हुये "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" इस सूत्र के द्वारा सम्पूर्ण काव्यशास्त्रियों की प्रतिभा को चुनौती-सी दे दी है। इस काव्यलक्षण के सूत्र का

एक-एक पद मनीषियों की आलोचना का विषय बना हुआ है। सम्पूर्ण काव्यप्रकाश में इस सूत्र के भाव को व्यक्त करने के लिये ही काव्य के भेद, शब्दशक्ति, रसप्रतिपादन ध्वनिनिरूपण गुणीभूत काव्य का स्वरूप तथा उसके भेद, दोष तथा गुणों का वर्णन, अलङ्कारों का निरूपण अपने ग्रन्थ में अति निपुणता के साथ किया है। सम्पूर्ण काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने २११ सूत्रों का बड़ी सरल एवं सशक्त भाषा में निरूपण किया है। सूत्रों के वास्तविक भाव को बोध कराने के लिये वृत्ति भाग की रचना की है। सूत्रों के दुर्बोध अर्थ को भी वृत्ति भाग की रचना करके स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा यथास्थान नवीन विषयों का सूक्ष्म विवेचन भी किया है।

(२) मम्मट की दूसरी विशेषता यह है कि आनन्दवर्द्धन के ध्वनिमार्ग की गौरवता स्थापित करते हुये, "ध्वनिप्रधान काव्य" को उत्तम काव्य की संज्ञा प्रदान की है। द्वितीय तथा चतुर्थ एवं पञ्चम उल्लास में ध्वनि विरोधियों को निरुत्तर करके ध्वनिमान्यता के मार्ग को इस प्रकार प्रशस्त कर दिया है कि तीव्र समालोचक पण्डितराज जगन्नाथ ने भी आदर के साथ मम्मट के ध्वनि प्रतिष्ठापन मार्ग का अनुकरण ही किया है। अतः स्पष्ट है कि जिसका पण्डितराज जगन्नाथ भी समादर करते हैं, वह निर्विवाद काव्यशास्त्र के अद्वितीय महापण्डित थे तथा समस्त काव्यशास्त्रियों में उसको गौरवास्पद सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। अतः मम्मट समस्त काव्यशास्त्रियों में सर्वोच्च थे।

(३) मम्मट की तृतीय विशेषता यह है कि अष्टम उल्लास में दण्डी और वामन के दस गुणों का खण्डन करके तीन गुणों की स्थापना की है तथा गुण और अलङ्कारों के भेद का निरूपण समन्वयात्मक ढंग से किया है। अष्टम उल्लास की विशेषता त्रिगुणवाद की स्थापना है। गुणों की विषमता एवं बहुसंख्यात्मक को दूर कर ओज, प्रसाद, माधुर्य में अन्तर्भाव करना है।

(४) काव्यप्रकाश की चतुर्थ विशेषता अलंकार निरूपण है। यद्यपि आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का अति सशक्त एवं विस्तार से निरूपण किया है। कतिपय नवीन अलंकारों का प्रणयन भी किया है तथापि मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में अलंकारों की प्रधानता नहीं स्वीकार की है। अतएव शब्दार्थों का विशेषण अनलंकृति माना है। जिससे स्पष्ट है कि मम्मट काव्य में अलंकार की अनिवार्यता नहीं मानते हैं।

(५) काव्यप्रकाश की पञ्चम विशेषता रससिद्धान्तों की व्याख्या करके अभिनवगुप्त के मान्य रससिद्धांत का निरूपण करना है रससम्बन्धी भट्टलोल्लट शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त के मतों का निरूपण करते हुये अपने मौलिक तर्कों द्वारा रस की अलौकिकता प्रतिपादित की है।

इस प्रकार मम्मट के का व्यशास्त्र प्रतिपादक सिद्धांतों की समन्वयात्मक एवं वैज्ञानिक रचना पद्धति से समलकृत काव्यशास्त्र का आद्यन्त आलोडन प्रत्यालोडन

के द्वारा पाठक को अनुभव होने लगता है कि वस्तुतः आचार्य मम्मट का स्थान समस्त प्राचीन एवं अर्वाचीन काव्यसिद्धान्त मर्मज्ञों में सर्वोच्च तथा अद्वितीय है। यही कारण है कि काव्यप्रकाश की निरन्तर टीकायें होती जा रही हैं। जितनी टीकायें काव्यप्रकाश की हो चुकी हैं और हो रही हैं, उतनी टीकायें विश्व में किसी काव्यप्रकाश प्रतिपादक ग्रन्थ की न हुई और न होने की सम्भावना ही है। इस समय काव्यप्रकाश पर लगभग ८० टीकायें प्राप्त हो रही हैं। इससे भी काव्यप्रकाश की गौरवता सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो रही है। वास्तव में नाटकों में जो स्थान अभिज्ञानशाकुन्तल को, गद्य लेखकों में जो स्थान बाणभट्ट को प्राप्त है, वही स्थान काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्यप्रकाश को प्राप्त है। इस प्रकार काव्यप्रकाश की विशिष्ट विशेपताओं के कारण ही परवर्ती आलंकारियकों ने काव्यप्रकाश का आश्रय ग्रहण करके तदनुसार रचनायें करने का प्रयास किया है। अतएव काव्यप्रकाश की उपर्युक्त विशेषताओं के कारण सम्पूर्ण काव्य-सिद्धांत प्रतिपादक ग्रन्थों में मम्मट के काव्यप्रकाश को अद्वितीय तथा सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। अतः काव्यप्रकाश की महत्ता तथा उपादेयता सर्वविदित ही है। वस्तुतः मम्मट सदृश काव्यशास्त्र के सूक्षम सिद्धांत निरूपक परमाचार्य न हुआ है और न है। इससे भी आचार्य मम्मट का काव्यशास्त्रियों में अद्वितीय स्थान निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है और सदा अद्वितीय स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

प्रश्न ५—मम्मट के 'नियतिकृत नियमरहिताम इत्यादि मंगलाचरण की समीक्षा कीजिये। (मेरठ वि० वि० १९६९, ७३,७८)

Criticize, 'निर्यतिकृत नियमरहिताम्' etc. of Mammat.

उत्तर—भारतीय मनीषियों की एक परम्परा चली आ रही है कि किसी नूतन कार्यारम्भ से प्रथम स्वामीष्ट अथवा उचित या उचितेष्टा देवता को प्रणामादि करने से निर्विघ्न कार्य पूर्ति होती है। यथा निम्नांकित पक्तियों से स्पष्ट हो रहा है कि मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीर पुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति। इस नियम को ध्यान में रखकर आचार्य मम्मट ने अपने प्रस्तुत काव्यप्रकाश की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से उचितेष्टा देवता शारदा माँ का यशोगान 'नियतिकृतनियमरहिताम्' इत्यादि पद्य से किया है कि 'भारती कवेर्जयति' से सरस्वती सर्वोत्कर्षण यशः गौरव से समलकृत होवे। अतएव पञ्च भौतिक संसार की अपेक्षा कवि रचना श्रेष्ठतम है, इस कारण से कवि ने भारती का उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिये ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण का प्रणयन किया है कि—

> **'नियतिकृतनियमरहितां, ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्राम्।**
> **नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥**

प्रस्तुत मंगलाचरण में 'एक देश प्रयोजनोद्देश्य प्रवृत्तावनेकपदसमुदायो ग्रन्थः' अर्थात् एक उद्देश्य को प्रयोजन मानकर रचना विशेष में प्रवृत्त होने पर अनेक

पदों के समूह से रचित रचना विशेष को ग्रन्थ कहते हैं अतः काव्य-रहस्य निरूपण को उद्देश्य मानकर प्रवृत्त हुये आचार्य मम्मट ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये तथा ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि रचना सर्वोपरि होती है—यह स्पष्ट करने के लिये उचितेष्टा देवता के यश का उत्कर्ष स्पष्ट करते हुये नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण की व्यञ्जना की है। ब्रह्मा की सृष्टि तो नियति (भाग्य) के बन्धनों से परतन्त्र है अर्थात् नियति के नियमानुसार ही सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश होता है। कवि की रचना पर नियति के बन्धनों का कोई प्रभुत्व नहीं है। ब्रह्मा की सृष्टि में तो अनन्त दुःख हैं। कवि की रचना में सदा आनन्दानुभूति ही होती है। कवि की रचना किसी उपादान कारणों के पराधीन नहीं है जबकि ब्रह्मा की सृष्टि पूर्व जन्मकृत कर्मादि कारणों के आधीन होती है तथा कवि की रचना में नवरस होते हैं जो सभी को समान रूप से प्रिय होते हैं जबकि ब्रह्मा की रचना में ६ रस होते हैं वे भी कटु, तीखे नमकीन, कषैले होते हैं और कवि के रसों की संख्या से न्यून भी हैं, अर्थात् ब्रह्मा की सृष्टि में ६ रस होते हैं। वे भी सबको प्रिय नहीं होते हैं तथा कवि की रचना में ६ रस होते हैं। जो ब्रह्मा की सृष्टि के ६ रसों की संख्या में अधिक भी हैं और शृंगार आदि नव रस सदा ही सभी को ही प्रिय होते हैं। इस प्रकार कवि रचना करके सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त कर जयलाभ प्राप्त करे। ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की रचना स्वतन्त्र एवं श्रेष्ठ होती है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये भगवान् वेदव्यास ने अग्नि पुराण में लिखा है कि—

अपारेकाव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मैरोचते विश्वं तथेवं परिवर्त्तते॥

इस पद्य का भाव यह है कि कवि की रचना रूपी संसार अपार है तथा रचना रूपी संसार का प्रजापति स्वयं कवि ही है। कोई अन्य ब्रह्मा एवं प्रकृति आदि प्रजापति नहीं है। अतः परम स्वतन्त्र कवि को जैसा रचना रूपी संसार अभीष्ट लगता है, वैसा ही शब्दों के माध्यम से अपनी प्रतिभा से भी कवि रचना रूपी संसार का निर्माण स्वेच्छा से करने में समर्थ होता है। अतएव आचार्य मम्मट ने भी अपने मङ्गलाचरण मे कवि के उत्कर्ष का द्योतन किया है कि—

नियतिकृतनियमरहिताम्

नियति शब्द में 'असाधारणशक्तिविशेष धर्म' इत्यादि माना जाता है। जैसाकि अमरकोशकार ने 'दैवं दिष्टं भाग धेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' लिखकर नियति का अर्थ स्पष्ट किया है। अतः 'अदृष्टिशक्ति' विशेष को नियति कहते हैं, जिनके नियमों से नियन्त्रित सूर्य उष्णता को और चन्द्रमा शीतलता को धारण करता है। परन्तु कवि की नियति के द्वारा नियमित सूर्य चन्द्र की उष्णता और शीतरश्मिता की अवहेलना करके चन्द्र को विरही जनों के लिये उष्णरश्मित्व सिद्ध करने में किञ्चित् भी श्रम का अनुभव नहीं करता है। अतः नियतिकृत नियमों का प्रभाव कवि रचना पर कुछ नहीं होता है। इसीलिये मम्मट ने 'नियतिकृतनियमरहिताम्' पद को कवि

रचना का विशेषण बनाया है। ह्लादैकमयीं के अतिरिक्त ब्रह्मा की सृष्टि प्रकृति के सत्व, रस, तम से प्रभावित होने के कारण सुख-दुःख मोह, स्वभाव वाली है। सांख्यशास्त्र में सत्व गुण सुख का हेतु और रजोगुण दुःख का हेतु तथा तम मोह का हेतु माना गया है। काव्य में तो करुण, भयानक एवं रौद्र वर्णन भी दुःखजनक नहीं होते हैं। अपितु केवल आनन्द के ही परिचायक होते हैं। अत: ब्रह्मा की सृष्टि तो सुख-दुःख मोह स्वभाव वाली है तथा कवि की सृष्टि केवल आनन्द स्वरूप है। इससे भी कवि रचना की श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से सिद्ध है।

अनन्यपरतन्त्राम्—

ब्रह्मा की सृष्टि तो नियति तथा पूर्व जन्मकृतपुण्यापुण्य के पराधीन होती हैं जैसे कुम्भकार घट निर्माण के लिये स्वतन्त्र नहीं है। अपितु मृत्तिका, सूत्र, चाक आदि कारणों के अधीन होता है। अत: घट निर्माण के प्रति मृत्तिका उपादान कारण सूत्र एवं चाक निर्मित कारण होते हैं। मृत्तिका आदि कारणों के बिना घटरूप कार्य की चेतना सम्भव नहीं है। किन्तु इसके विपरीत कवि को किसी उपादान एवं निमित्त कारण की आवश्यकता नहीं होती है वह केवल अपनी प्रतिभा से ही जैसी रचना करना अभीष्ट मानता है, वैसी रचना करने में समर्थ होता है। अत: इससे भी कवि की रचना ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

नवरसरुचिराम्—

ब्रह्मा की सृष्टि में तो केवल कटु, तिक्तकषाय आदि ६ रस होते हैं वे भी सब को सब प्रिय नहीं होते हैं जबकि कवि की रचना में नवरस प्राप्त होते हैं, जो सदा सभी को प्रिय प्रतीत होते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि के ६ रसों की संख्या से कवि के रसों की संख्या ड्योढ़ी है। विधवा के करुण क्रन्दन एवं वीभत्स तथा रौद्र आदि भयानक वर्णनों में भी आनन्दानुभूति होती है, द्वेष एवं शुष्कता तथा अप्रियता का भान भी नहीं होता है। अत: ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि उत्कृष्ट है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये आचार्य मम्मट ने अपने मंगलाचरण की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि—

"नियतिशक्त्यानियतरूपा: सुखदु:खमोहस्वभावा: परमाण्वाद्युपादान कर्मादि सहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः तादृशो ब्रह्मणो निर्मितनिर्माणम्। एतद्विलक्षणं तु कविवाङ् निर्मित:। अत एव जयति। जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते, इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते।"

इस प्रकार ब्रह्मा की सृष्टि नियति के नियमों ने परतन्त्र तथा सुख दुःख मोह स्वभाव वाली परमाणु आदि उपादन कारणों के पराधीन है। तथा ६ रस वाली है। वे ६ रस कटु तिक्त, कषाय आदि सर्वप्रिय नहीं हैं। इसके विपरीत कवि की सृष्टि स्वतन्त्र नियति के नियमों से रहित आनन्द स्वरूप नवरसों से विभूषित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट कवि की वाणी जय लाभ करे। जयति क्रिया से नमस्कार का आक्षेप किया गया है अत: व्यञ्जना के द्वारा मैं (मम्मट) सरस्वती को प्रणाम करता हूँ। यह ध्वनित हो रहा है।

इस श्लोक में (१) ह्लादैकमयीम् (२) अनन्यपरतन्त्राम्, (३) नवरसरुचिराम् ये तीन पद कवि निर्मिति के विशेष रूप से विशेषण माने जाते हैं। अतः ये तीनों पद द्वितीयान्त हैं। इनका विग्रह इस प्रकार समझना चाहिये।

ह्लादैकमयीम्—ह्लादेन एकमयी तां=ह्लादैकमयीम् यहाँ सहसुप्सुपा सूत्र से समास होता है। संख्यावाची एक शब्द से तत्प्रकृतवचनेमयट् सूत्र से मयट् प्रत्यय होता है। अतः एकमेव प्रकृतं वस्तु यस्यां प्राचुर्येण प्रस्तुतं सा एकमयी तां=ह्लादैकमयीम्। कुछ विद्वान एक शब्द को संख्यावाची न मानकर केवल शब्द का पर्यायवाची मानकर दुःख सुख और मोह का निराकरण करते हैं।

अनन्यपरतन्त्राम्—अनयस्य (कविभारतीभिन्नस्य) परतन्त्रता न भवतीति-ताम् अनन्यपरतन्त्राम्। यदि यहाँ कोई अन्य और पर शब्द को देखकर पुनरुक्ति दोष की कल्पना करें तो वह सम्भव नहीं हो सकती है, क्योंकि अन्य और पर शब्द तो हैं ही नहीं, अपितु यहाँ अन्य तथा परतन्त्र शब्द हैं न कि पर पृथक्-पृथक् तन्त्र हैं। अतः पुनरुक्ति दोष की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

नवरसरुचिराम्—नव संख्यकाः रसा सन्ति यस्यां सा नवरसाऽथवा नवाः रसाः यस्यां सा सा, चासौ रुचिरा च ताम् केचित्तु नवरसैः रुचिरेति ताम् यह विग्रह करते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक पद पर चिन्तन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि निःसन्देह कवि अपने रचना कर्म में यह सर्वतंत्र, स्वतन्त्र एवं काव्य जगत् का प्रजापति है। इस श्लोक में भारती शब्द के दो अर्थ होते हैं। प्रथम तो कवि की वाणी द्वितीय कवेर्भारती अर्थात् कवि की आराध्य देवी सकलविद्याऽधिष्ठात्री सरस्वती देवी अर्थ स्वीकार किया जाता है। इस मंगलाचरण से आराध्य देवी सरस्वती के चरणों में सरस्वती के समुपासक मम्मट का प्रणाम ध्वनित हो रहा है तथा साथ ही कविता का देवतविषयक रतिभाव व्यक्त होने के कारण भाव ध्वनि व्यञ्जित हो रही है। भाव-ध्वनि को रसध्वनि भी कहते हैं। वस्तुतः ध्वनिप्रस्थापनाचार्य मम्मट ने इस मंगला-चरण में ही वस्तु, अलङ्कार रसध्वनि के तीनों भेदों का प्रदर्शन करते हुये ध्वनि का गौरव व्यञ्जना से पुष्ट किया है। निर्विघ्न कार्य समाप्ति हेतु मंगलाचरण का प्रणयन होने के कारण वस्तु निर्देशात्मक कवि की वाणी की उत्कर्षता सिद्ध की गई है। अतः सामान्यता वस्तुध्वनि मानी जा सकती है तथा ब्रह्मा की सृष्टि उपमान है और कवि की रचना उपमेय है। जिस रचना में उपमान की अपेक्षा उपमेय का अधिक उत्कर्ष कहा जाये तो वहाँ व्यतिरेक अलङ्कार होता है। अतः इस पद्य में व्यतिरेक अलङ्कार से कवि की वाणी का उत्कर्ष सिद्ध किया है। इस लिये व्यतिरेक अलङ्कार से ध्वनि निकलने के कारण अलङ्कार ध्वनि होती है। देवता विषयक रतिभाव के होने के कारण भावध्वनि होती है। भावध्वनि को ही रसध्वनि कहते हैं। यह रस-ध्वनि ही तीनों ध्वनियों में मुख्य होती है। अतः आचार्य मम्मट ने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचक काव्यप्रकाश ग्रन्थरत्न के प्रारम्भ में ही रसध्वनि की स्थापना करके रसध्वनि का महत्व प्रतिपादित किया है। वस्तुतः मम्मट का यह मंगलाचरण केवल मंगलाचरण के व्यवहार एवं निर्विघ्न समाप्ति के भाव ही को अभिव्यक्त कर रहा हो, यह नहीं

कहा जा सकता है। अपितु ग्रन्थ में प्रतिपादित होने वाले मुख्य ध्वनिवाद तथा रसवाद की अभिव्यञ्जना भी हो रही है। जिससे स्पष्ट काव्य की आत्मा रस अर्थात् रसध्वनि है, क्योंकि असंलक्ष्यक्रम को ही रस तथा रस ध्वनि माना है।

प्रश्न ६—मम्मट के काव्य प्रयोजन का समीक्षात्मक विवेचन कीजिये।
(आगरा वि० वि० १९५५, ५७, ६४,६८, ७६, ८०)

Describe in detail the object (प्रयोजन) (काव्य) as set forth by Mammata in his Kavyaprakash.

उत्तर—मङ्गलाचरण के अनन्तर प्रस्तुत काव्यप्रकाश ग्रन्थ के विषय प्रयोजन आदि का प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रश्न के समाधान के लिये आचार्य मम्मट ने काव्य के ६ प्रयोजनों का उल्लेख किया है क्योंकि "प्रयोजन-मनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते"। इन कथनानुसार कोई मूर्ख व्यक्ति भी किसी लाभ के बिना अर्थात् प्रयोजन विशेष को लक्ष्य किये बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। कोई मन्दबुद्धि भी छोटे से छोटे कार्य को प्रयोजन के बिना नहीं प्रारम्भ करता है। क्योंकि जब तक कर्त्ता को (१) विषय (२) प्रयोजन (३) सम्बन्ध (४) अधिकारी का ज्ञान नहीं होता है, तब तक अनुबन्ध चतुष्टय ज्ञान के बिना कर्ता की कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है। इसलिये ग्रन्थकार ने विषय और प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित कारिका का अवतरण किया है कि—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

ग्रन्थ के नाम से ही विषय की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि काव्यपद से गुण, दोष, रीति, अलंकार आदि का ज्ञान होता है। अतएव काव्यप्रकाश इस ग्रन्थ के नामकरण से ही ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रतिपाद्य विषय ही काव्य के विषय सिद्ध हो जाते हैं। अतएव विषय कथन की पृथक् आवश्यकता न समझते हुए मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का विस्तृत वर्णन करते हुए ६ प्रयोजनों का उल्लेख किया है।

(१) यशसे—प्रथम तो काव्य का प्रयोजन यश लाभ है क्योंकि भारतीय कर्णधारों तथा मनीषियों की मान्यता रही है कि यह पञ्चभौतिक नश्वर शरीर तथा अन्य सांसारिक चाकचक्य सब मिथ्या एवं नश्वर हैं। केवल यश ही चिरस्थायी है। अतः किसी ने शौर्य से, न्याय से, परोपकार से, देश भक्ति से, लोक कल्याण के लिये सदुपदेशों से एवम् सद्रचना से यश प्राप्त करके यशः शरीर से अमरता को प्राप्त किया है। कालिदास ने रघुवंश के द्वितीय सर्ग में यश का महत्व प्रकटित करते हुये लिखा है कि—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्त विध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥

इस तपोभूमि में सहस्रों उदार पुरुष पञ्चभौतिक शरीरादि सुखों की उपेक्षा करके यश प्राप्त करके सदा के लिये अमर हो गये हैं। अतएव मम्मट ने भी काव्य का प्रथम प्रयोजन यशप्राप्ति ही प्रदर्शित किया है कि काव्य के निर्माण से यश प्राप्त

होता है जैसा कि कालिदास, व्यास, भास, भवभूति, भारवि, माघ आदि महाकवियों ने काव्य-रचना करके विश्व में यश से परम प्रसिद्धि प्राप्त कर यशः शरीर से अमरत्व प्राप्त कर लिया है। सत्साहित्य का सृजन ही यश के लिये होता है। कालिदास सत्साहित्य का सृजन करके कविकुल गुरु के नाम से यश प्राप्त करके आज भी यशः शरीर से जी रहे हैं। उन्होंने स्वयं रघुवंश के प्रारम्भ में काव्य के मुख्य प्रयोजन यश का महत्व निम्नलिखित पद्य से अभिव्यक्त किया है।

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ॥
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥

अतः काव्य का प्रथम प्रयोजन यश प्राप्ति है।

अर्थकृते—काव्य-रचना का द्वितीय प्रयोजन अर्थार्जन है, क्योंकि इस लोक में अर्थ के अभाव में जीवन दूभर हो जाता है। अतः योगक्षेम के लिये अर्थार्जन अनिवार्य है। अर्थ का अपरिहार्य प्रभुत्व अनुभव करके विद्वानों ने अर्थस्य पुरुषो दासः, सर्वं गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति" इत्यादि सूक्तियों से अर्थ की आवश्यकता स्वीकार की है। यह अर्थ प्राप्ति भी काव्य-रचना से हो सकती है, जैसा कि प्रसिद्ध है कि धावक आदि कवियों ने हर्ष आदि के नाम से रत्नावली नाटिका आदि की रचना करके प्रचुर मात्रा में धन प्राप्त किया था इत्यादि अनेक उदाहरण भोजप्रबन्ध में प्राप्त होते हैं। अतः काव्य-रचना का द्वितीय प्रयोजन धनराशि प्राप्त करना है।

व्यवहारविदे—काव्य के सम्यक् अध्ययन से लोकव्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है। लोकव्यवहार के ज्ञान के बिना सामाजिक जीवन के कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती है। अनेक विद्वान् भी व्यवहार ज्ञान के बिना उपहास को प्राप्त हुये हैं। अतः व्यवहार ज्ञान के साहित्य का अध्ययन परमावश्यक है। रामायण तथा महाभारत व्यवहार ज्ञान के लिये साहित्य सागर हैं। रामायण तो व्यवहार ज्ञान की अलौकिक निधि है। राजा तथा प्रजा को, पति-पत्नी को, भाइयों को, मित्रों को, सेवकों, शत्रुओं को, कैसा व्यवहार करना चाहिये, इनकी शिक्षा एवं उपदेश रामायण के पात्रों से भली-भाँति प्राप्त हो रहा है। तथा प्राचीनकाल में कब कैसा व्यवहार किया जाता था, वेशभूषा, खानपान आदि कैसा था, यह सब ज्ञान काव्य के श्रवण, पठन मनन से ही सफलता-पूर्वक जाना जा सकता है। अतः व्यवहार ज्ञान के लिये काव्य का पठन, श्रवण एवं मनन अति आवश्यक है।

शिवेतरक्षतये—काव्य-रचना अथवा पठन एवं श्रवण अमंगलनाश में भी समर्थ है, यह काव्य का चतुर्थ प्रयोजन माना है। कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट के साले मयूरभट्ट भी कवि थे। दोनों ही धारानगरी में रहते थे तथा प्रतिदिन अपनी-अपनी नूतन रचनायें एक-दूसरे को सुनाते थे। एक दिन बाणभट्ट से उनकी पत्नी किसी कारण से अप्रसन्न हो गई, रातभर बाणभट्ट पत्नी को मनाने का प्रयत्न करते-करते रात बीत जाने पर, वे पत्नी से कह रहे थे कि—

गतप्रायारात्रिः कृशतनुशशी शीर्यंत इव ।
प्रदोषोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव ।।
प्रणमान्तोमानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो ।

इस प्रकार मनाने में व्यस्त बाण तीन पदों की रचना करके पुन: चतुर्थ पद की योजना के लिये आवृत्ति कर रहे थे कि उसी समय प्रात:काल के भ्रमणार्थ बाणभट्ट को साथ लेने की इच्छा से मयूरभट्ट द्वार पर आ गये। और बाणभट्ट की रचना की आवृत्ति सुनकर रुक गये और जब चतुर्थ पद पूर्ण न होते देखा तो सहसा तीव्र-स्वर से चतुर्थ पद की पूर्ति करके सुना दिया कि—

"कुच प्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि ! कठिनम्"

यह सुनकर बाण की पत्नी ने क्रोध के आवेश में स्वर बिना पहचाने ही कुष्ठी होने का शाप दे दिया। बाण की पत्नी के पतिव्रतत्व के प्रभाव से मयूरभट्ट को कुष्ठ रोग हो गया। जब उनकी पत्नी को ज्ञात हुआ कि मैंने यह क्या किया कि अपने भाई को ही शाप दे दिया तो पुन: कुष्ठनिवारणार्थ सूर्यशतक की रचना का उपदेश दिया जिससे मयूरभट्ट गंगातट पर जाकर एक वृक्ष पर बैठे गये और एक रस्सी में सौ गाँठ लगाकर तथा लटका कर सूर्यस्तवन की रचना करने लगे। एक श्लोक की रचना करने पर रस्सी की गाँठ काट देते थे। इस प्रकार सौ श्लोक की रचना करने पर उनका कुष्ठ रोग दूर हो गया। अत: काव्य से अमंगलनाश होता है, यह काव्य का चतुर्थ प्रयोजन है।

सद्य: परनिवृत्तये—

वस्तुत: काव्य के ६ प्रयोजन में सद्यपरनिवृत्ति ही मुख्य एव श्रेष्ठ प्रयोजन माना जाता है। काव्य के पठन तथा श्रवण एवं दर्शन के द्वारा पाठक, श्रोता, दर्शक, अलौकिक रसास्वादन को प्राप्त करते हैं। और परनिवृत्ति अर्थात् पराशान्ति एव अलौकिक आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। आनन्दानुभूति काल सांसारिक कष्टों की विस्मृति हो जाती है। यह आनन्दानुभूति ही समस्त काव्य से अथवा आत्मचिंतन सम्बन्धी दर्शन शास्त्रों के रहस्य को जानने से ही हो सकती है। किन्तु दर्शनशास्त्र आदि का रहस्य ज्ञान तो अति श्रमसाध्य एवं नीरस होने के कारण विरक्त विद्वज्जनों को ही प्राप्त हो सकता है। अत: काव्यानन्द का शर्करामिश्रित दुग्ध के सदृश सरलता से बोध हो सकता है। इसलिये यह अलौकिक आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर की अनुभूति केवल काव्य से ही प्राप्त हो सकती है। इस मुख्य प्रयोजन का समर्थन करते हुए धनञ्जय ने अपने भाव को व्यक्त करते हुये कहा है कि यदि कोई रस (आनन्द) को क्षरण करने वाले रूपकों में व्युत्पत्ति का अन्वेषण करता है तो वह मन्दबुद्धि ही कहा जायेगा। अत: मम्मट द्वारा प्रतिपादित सद्य: परनिवृत्ति अर्थात् विगलितवेद्यान्तर स्पर्शशून्य ब्रह्मा नन्द सहोदर रस की अनुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। अन्य प्रयोजन आनुषंगिक हैं, क्योंकि काव्य द्वारा अलौकिक आनन्दानुभूति के पश्चात् कुछ भी प्राप्य अप्राप्य आदि का ज्ञान नहीं रह जाता है। अत: यह अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

कान्तासम्मिततयोपदेश युजे—

काव्य प्रयोजनों के अन्त में अन्तिम प्रयोजन उपदेश माना है ये उपदेश तीन होते हैं। (१) शब्द प्रधान (२) अर्थ प्रधान (३) रस प्रधान। प्रभुसम्मित शब्द प्रधान से तात्पर्य वेदशास्त्रियों के उपदेशों का ग्रहण किया जाना है, अर्थात् वेदादिकों के उपदेश को प्रभुसम्मित उपदेश माना जाता है, क्योंकि यह वेद के उपदेश को अक्षरशः पालन करने का आदेश देता है। वह किसी की विवशता एवं वैयक्तिक दशा को देखकर आदेश नहीं देता है। वेद तो सत्यं वद, धर्मं चर का आदेश देते हैं यथा अधिकारी अपने परिचारकों को शुष्कता के साथ आदेश देते हैं कि अमुक पञ्जिका ले आओ तथा अमुक ले जाओ। ठीक इसी प्रकार वेद कर्त्तव्यपालन का अक्षरशः आदेश देते हैं। अतः वेदादिशास्त्रों के उपदेश को प्रभुसम्मित उपदेश कहते हैं।

सुहृत्संमितोपदेश—

पुराणादि के उपदेश भिन्न कोटि के उपदेशों में ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि पुराणोतिहास मित्रवत् उपदेश देते हुए कहते हैं कि रामादि की तरह व्यवहार करना चाहिये, रावण आदि के समान नहीं। अर्थात् पुराणेतिहास के उपदेश वेदादि की तरह शब्द प्रधान न होकर अर्थप्रधान होते हैं। अतः पुराणादि के उपदेश का अक्षरशः पालन नहीं किया जाता है, अपितु अभिप्राय समझकर अनुसरण किया जाता है। इस पुराण इतिहासादि के उपदेश को सुहृत्सम्मित की कोटी में स्वीकार किया जाता है। मित्र का उपदेश राजाज्ञा आदि के समान अनिवार्य रूप से पालनीय नहीं होता है। स्वेच्छया लोग मित्र के उपदेश का पालन करते हैं। इसी प्रकार पुराणादि के उपदेश को भी लोग पालन करते हैं। अतः पुराणेतिहासादि के उपदेश को सुहृत्-सम्मिति की कोटी में स्वीकार किया गया है।

कान्तासम्मितोपदेश—

काव्य का उपदेश तो उपर्युक्त प्रभुसम्मित तथा सुहृत्सम्मित उपदेश की अपेक्षा भिन्न एवं विलक्षण होता है, क्योंकि कान्तासम्मितोपदेश में शब्द की प्रधानता नहीं होती है और न अर्थ की प्रधानता होती है अपितु इस उपदेश में रस की प्रधानता होती है। इस रसप्रधान उपदेश शैली को ही कान्तासम्मितोपदेश कहते हैं। जब कान्ता किसी कार्य में पुरुष को प्रवृत्त या निवृत्ति करना चाहती है तो कान्ता अपनी सामर्थ्य से रसमय वातावरण प्रस्तुत करके ही पुरुष की प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये प्रेरित करती है। कान्तासम्मितोपदेश में शब्द और अर्थ दोनों गुणीभाव को प्राप्त हो जाते हैं और रस की प्रधानता हो जाती है। इस प्रकार रसप्रधान उपदेश शैली को ही कान्तासम्मितोपदेश के अन्तर्गत मानते हैं। काव्य के रसमय उपदेश से कर्त्तव्य का ज्ञान सरलता से हो जाता है। इस शैली में वेदादिशास्त्र के समान शब्द की प्रधानता नहीं होती है और पुराणेतिहासादि के समान अर्थ की प्रधानता नहीं होती है। अपितु एक विलक्षण रसप्रधान, सरस उपदेश काव्य से प्राप्त होता है। जिस प्रकार प्रिय पत्नी के द्वारा सरस वातावरण में प्रस्तावित कार्य को पति अस्वीकृत नहीं कर पाता है अपितु उत्साह एवं लगन के साथ कान्ता के प्रस्तावित कार्य को पूर्ण सामर्थ्य से पूर्ण

करने का प्रयास करता है। ठीक इसी प्रकार काव्य के रसास्वाद के साथ-साथ कर्त्तव्य एवं समुन्नति के कार्यों में सहर्ष प्रवृत्त होता है। अतः यह सरस उपदेश ही काव्य का अन्तिम कान्तासम्मितोपदेश माना जाता है। इसीलिये कवि को सदा रसमय कान्ता-सम्मितोपदेश प्रधान रचना करने का प्रयास करना चाहिये।

वामनाभिमत काव्य के प्रयोजन –

जिस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। वामनाचार्य ने काव्य के केवल दो प्रयोजनों को स्वीकार किया है (१) कीर्ति (२) प्रीति अथवा आनन्द। जैसा कि आपके निम्न कथन से स्पष्ट हो रहा है।

"काव्य सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात्"

इस प्रकार वामन ने दृष्ट तथा अदृष्ट से क्रमशः प्रीति या आनन्द' और कीर्ति को काव्य का प्रयोजन माना है।

भामह ने सत्काव्य धर्मार्थकाममोक्ष, प्राप्ति का साधन माना है तथा सम्पूर्ण कलाओं के परिज्ञान की निपुणता प्रीति (प्रेम) तथा कीर्ति की प्राप्ति होती है। अतः भामह ने धर्मार्थकाममोक्ष प्राप्ति, प्रीति तथा कीर्ति का काव्य का प्रयोजन स्वीकार करते हुये लिखा है कि—

"धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

भामह के इस काव्य-प्रयोजन की मान्यता को स्वीकार करके उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्य का सृजन किया। वस्तुतः कीर्ति-लाभ ही काव्य का प्रमुख प्रयोजन सभी ने स्वीकार किया है। ध्वनिप्रतिपादक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने काव्य का प्रयोजन सहृदय के मन में प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूति करना ही माना है। जैसा कि उन्होंने लिखा है कि—

"तेन हि ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतयेतत्स्वरूपम्"

अतः आनन्दवर्द्धन ने भी काव्य का प्रयोजन धर्मार्थकाम मोक्ष प्राप्ति एवं आनन्दानुभूति स्वीकार किया है जैसाकि निम्नांकित पद्य से स्पष्ट हो रहा है कि—

धर्मादिसाधनोपायाः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां, हृदयाह्लादकारकः।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद् विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।

इस प्रकार काव्यरचना का मुख्य प्रयोजन आनन्दानुभूति ही स्वीकार किया गया है। पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-प्रयोजनों को और अधिक परिमार्जित एवं विस्तृत समन्वयात्मक रूप देकर मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजनों का प्रतिपादन किया है। इन छः प्रयोजनों में तीन प्रयोजनों में तीन प्रयोजनों को कविनिष्ठ और तीन प्रयोजनों को पाठकनिष्ठ माना जा सकता है। अर्थात् यश, धन, व्यवहारज्ञान कवि के लिये और

अमंगलनाश, सद्यःपरनिर्वृत्ति सम्मितोपदेश को पाठकों के लिये माना जा सकता है। परन्तु यह विभाजन प्राचीन आचार्यों के काव्य प्रयोजन में समुपलब्ध नहीं होता है। आचार्य मम्मट के काव्य-प्रयोजनों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने आदरपूर्वक स्वीकार किया है। इस प्रकार पौर्वापर्य विवेचन से स्पष्ट है कि प्रायः अधिकांश विद्वानों ने कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन स्वीकार किया है। सम्भवतः इसीलिये आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-प्रयोजनों में यश को काव्य का प्रथम प्रयोजन स्वीकार किया है। कवि की दृष्टि से कीर्ति लाभ काव्य का मुख्य प्रयोजन है और पाठक की दृष्टि से आनन्दानुभूति काव्य का मुख्य प्रयोजन है। इसीलिये आचार्य मम्मट ने सद्यःपर-निर्वृत्ति अर्थात् अलौकिक आनन्दानुभूति को ही सकलप्रयोजनमौलिभूतम् कहा है। वस्तुतः मम्मट का यह समन्वयात्मक काव्य-प्रयोजन स्वरूप परमोपयोगी एवं वैज्ञानिक तथा समीचीन और स्तुत्य है।

प्रश्न ७—मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा विभिन्न आचार्यों के काव्य-लक्षण से करते हुए अपने विचार व्यक्त कीजिये।

(मेरठ वि० वि० १९६६, ५८, ६२, ६४, ७१, ७७, ७९)

Discuss and illustrate the following statement:—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

उत्तर—"भिन्नरुचिर्हिलोकः" इस कथनानुसार भारतीय विभिन्न आचार्यों ने अपनी रुचि के अनुसार काव्य-लक्षण का निर्माण किया है। अतः काव्यलक्षणों में भिन्नता होना स्वाभाविक ही हो जाता है। आचार्य मम्मट ने सभी विद्वानों के काव्य-लक्षणों का सम्यक् परीक्षण करके समन्वयवादी दृष्टिकोण से जिस काव्य-लक्षण का निर्माण किया है। वह अद्वितीय एवं वैज्ञानिकता से परिपूर्ण समन्वयात्मक काव्य-लक्षण है। यथा—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

इस मम्मटाचार्य के काव्य-लक्षण पर समीक्षा करने से पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों पर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा। सर्वप्रथम वेदव्यास जी ने अग्निपुराण में काव्य-स्वरूप का उल्लेख किया है। यथा—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारगुणदोषविवर्जितम्॥

अग्निपुराण के इस काव्य-लक्षण का आशय यह है कि गुणयुक्त तथा दोष रहित स्पष्ट अलङ्कारों से युक्त इष्ट अर्थ को संक्षेप से स्पष्ट करने में समर्थ पद समूह को काव्य कहते हैं। अग्निपुराण के इस लक्षण में अलङ्कार की प्रधानता स्वयं परिलक्षित हो रही है। तत्पश्चात् भामह ने शब्दार्थ से साहचर्य सम्बन्ध करते हुए दोषरहित अलङ्कार सहित शब्द और अर्थ को काव्य माना है। जैसे कि प्रस्तुत काव्य-लक्षण से स्पष्ट हो रहा है कि—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।" तदनन्तर दण्डी ने अग्निपुराण के लक्षणानुसार ही काव्य-लक्षण की रचना की है यथा—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली"

अग्निपुराणोक्त काव्य-लक्षण का स्वरूप दण्डी के इस काव्य-लक्षण में पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। तदनन्तर रुद्रट ने काव्य का लक्षण 'ननुशब्दार्थौ काव्यम्" लिखकर भामह के काव्य-लक्षण का ही अनुकरण किया है। तदनन्तर वामनाचार्य ने भामह और दण्डी के काव्य-लक्षणों में अर्थात् शब्दार्थ रूप शरीर में प्राणप्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है। वामन ने काव्य के शरीर का ध्यान न करके का य की आत्मा का स्वरूप निधारित करने का प्रयत्न करते हुये लिखा है कि—"रीतिरात्मा काव्यस्य" अतः इस काव्य-लक्षण के अनुसार वामन ने काव्य की आत्मा रीति स्वीकार की है।

वामनाचार्य से पूर्व केवल काव्य के शरीर पर ही आचार्यों की दृष्टि गई थी। वे काव्य के शरीर निर्माण में प्रयत्नशील हुये, परन्तु वामनाचार्य ने काव्य की आत्मा रीति को प्रतिपादिन करके एक नवीन प्रश्न उत्पन्न कर दिया। अतः वामन के पश्चात् आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि स्वीकार करते हुये 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्य-लक्षण की घोषणा की तथा रीति को अवयवों के समान काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की संघटना अर्थात् अवयव संस्थान के समान ही माना है। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर ध्वनि विरोधियों के मुख बन्द करने के लिये ध्वन्यालोक नामक ग्रन्थ की रचना की है। महाराज भोज ने तो अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट काव्य-लक्षण का निर्माण करके काव्य के आवश्यक तत्वों का समावेश करके लिखा है कि—

"निर्दोष गुणवत्काव्यमङ्कारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विदन्ति॥

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने सभी काव्य-लक्षणों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट काव्य-लक्षण लिखने का प्रयास किया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवित्वव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ स्थिरं काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥

कुन्तक के इस काव्य-लक्षण में प्रायः पूर्ववर्ती सभी काव्य-लक्षणों का सारांश आ जाता है। क्षेमेन्द्र भी कुन्तक के समान ही "औचित्य" सिद्धान्त के लिये प्रसिद्ध है। आपने काव्य-लक्षण में औचित्य को ही काव्य का प्राण माना है। जैसा कि आपने औचित्यविचारचर्चा नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—

"औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"

इस प्रकार विभिन्न प्रसिद्ध काव्य-लक्षणों की समीक्षा करते हुये समन्वयवादी दृष्टिकोण से विभिन्न मत-मतान्तरों में सामञ्जस्य स्थापित करते हुये दोषरहित गुणसहित अलङ्कारयुक्त शब्दार्थ-युगल में यदि कहीं अलङ्कार न भी हों तो भी काव्यत्व में कोई न्यूनता नहीं आती है। अतः समन्वयात्मक एवं वैज्ञानिकता से पूर्ण काव्य-लक्षण का निर्माण मम्मट ने किया है कि—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"

आचार्य मम्मट ने इस काव्य-लक्षण में शब्दार्थ के तीन विशेषण (१) अदोष, (२) सगुणौ, (३) अनलंकृती पुनः क्वापि माना है। यहाँ इन तीन विशेषणों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जायेगा।

अदोषौ—मम्मट के "अदोषौ" पद की आलोचना करते हुये दर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है कि "अदोषौ" का तात्पर्य सर्वथा दोषरहित है अर्थात् सर्वथा दोषरहित शब्दार्थ ही काव्य के शरीर हो सकते हैं। परन्तु यदि नितान्त दोषरहित शब्दार्थ काव्य-पद की व्यवहार क्षमता को धारण करते हैं, तो दोषराहित काव्यों का प्राप्त होना असम्भव हो जायेगा अथवा कोई विरले ही इस काव्य काव्यपद से व्यवहृत हो सकेंगे। किंचैवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात् इसके अतिरिक्त "न्यक्कारोह्यमेव में यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः" इत्यादि पद्य में "विधेयाविमर्श" दोष के विद्यमान होने पर भी आनन्दवर्द्धनाचार्य ने भी ध्वनिप्रधान होने के कारण उत्तम-काव्य स्वीकार किया है। अतः सर्वथा दोषरहित विशेषण मानना उचित नहीं है। तथा यदि किसी अंश में दोष होने पर दुष्ट और गुण होने पर उत्तमकाव्य माना जाये, अर्थात् अदोषौ का ईषद्-दोषौ, अर्थ स्वीकार किया जाये तो कोई एक आध काव्य दोष-रहित होगा तो उसमें भी किञ्चिद्-दोष होना ही चाहिये तथा जिस अंश में दोष हो वह अंश अकाव्य और जिस अंश में गुण हों, दोष का अभाव हो तो उस रचना में काव्य मानना चाहिये। इस प्रकार एक ही रचना में काव्य और अकाव्य की एक साथ उपस्थिति होने लगेगी। जिससे काव्य तथा अकाव्य कुछ भी नहीं कहा जा सकेगा। अतः अदोषौ शब्दार्थ का विशेषण मानना असङ्गत है। यह विश्वनाथ ने अदोषौ का खण्डन करते हुये कहा है। किन्तु विश्वनाथ का यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता है। वस्तुतः मम्मट के अदोषौ का तात्पर्य सर्वथा दोषरहितौ अथवा ईषद्दोषरहितौ नहीं है, अपितु मम्मट का आशय ऐसे दोषों के अभाव से है, जो काव्य के लक्ष्य की पूर्ति में प्रतिबन्धक हों, उन्हें ही दोष माना है। अतः दोष के प्रसङ्ग से सप्तम उल्लास के प्रारम्भ में ही कहा है कि दोष वही है जो मुख्यार्थ का विघातक हो और मुख्य रस है। इसलिये दोष की नित्य और अनित्य व्यवस्था करके स्पष्ट कर दिया है कि रस-दोष ही मुख्य अर्थात् नित्योष है। श्रुतिकटु आदि दोष तो अनित्य है, क्योंकि श्रुतिकटु आदि दोष वीररस के वर्णन के प्रसङ्ग में दोष नहीं अपितु गुण हो जाते हैं। इसलिये अनित्य दोष होने पर भी काव्यत्व का विघात नहीं कर सकते हैं, क्योंकि न्यक्कारो ह्यमेव इत्यादि में विधेयाविमर्श (अनित्य) दोष होने पर भी काव्य की उत्तमता पर आंच नहीं आती है। अतः रसदोष ही नित्य दोष माने गये हैं। ये नित्य अर्थात रसदोष काव्य में कथमपि नहीं होने चाहिये। यही आचार्य मम्मट का आशय है। अपने इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मम्मट ने कहा है कि कहीं तो वक्ता, प्रतिपाद्य, व्यंग्य वाच्य, प्रकरण आदि के कारण दोष, दोष नहीं रह जाते हैं। अपितु गुणों में परिवर्तित हो जाते हैं जैसा कि निम्नलिखित

मम्मट के सूत्र से परिलक्षित हो रहा है। 'वक्त्राद्योचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्' इससे स्पष्ट है कि प्रबल दोष जो रसानुभूति में बाधक हैं वे ही दोष दोष माने जाते है। साधारण निर्बल अनित्य दोष होने पर भी काव्य-क्षति नहीं कर पाते हैं। अतः अदोषी यह विशेषण शब्द और अर्थ का उचित ही है। आश्चर्य है कि विश्वनाथ भी निर्बल दोषों का दोष नहीं मानते हैं तथापि मम्मट के अदोषौ का खण्डन दुराग्रह-पूर्वक किया है। विश्वनाथ का मत है कि—

कीटानुविद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि गता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

वस्तुतः विश्वनाथ ने अदोषौ का खण्डन दुराग्रह-वश अथवा मम्मट के आशय को बिना समझें ही सर्वथा दोष-रहित अथवा ईषद्-दोषयुक्त आदि की निरर्थक कल्पना की है। मम्मट का अदोषौ विशेषण सर्वथा युक्तियुक्त एवं समीचीन है।

सगुणौ—मम्मट के शब्दार्थ युगल का द्वितीय विशेषण 'सगुणौ' प्रतिपादित किया है। यद्यपि वामन ने भी शब्दार्थ-युगल का विशेषण सगुणौ माना है। परन्तु दृष्टिकोण में पर्याप्त मतभेद प्राप्त होता है। वामन ने गुण को शब्द और अर्थ का धर्म माना है और आचार्य मम्मट ने रस का धर्म गुणों को माना है। अतः मम्मट के मतानुसार गुण रस के धर्म हैं। रस के उत्कर्ष के लिये रस में अचलस्थिति से निवास करते हैं। मम्मट के मतानुसार गुण तो रस धर्म है। परन्तु उपचार अर्थात् गौण रूप से शब्द और अर्थ में भी गुण की स्थिति कही जाती है। विश्वनाथ ने 'अदोषौ' की भाँति 'सगुणौ' का भी खण्डन करने का प्रयास किया है। विश्वनाथ के मतानुसार गुण तो रस के धर्म हैं और रस में रहते हैं। गुण शब्द या अर्थ के गुण नहीं होते हैं। इसीलिये शब्द और अर्थ में नहीं रह सकते हैं। इस स्थिति में रस का 'सगुण' विशेषण हो सकता है न कि शब्द और अर्थ का। अतः मम्मट का सगुणौ विशेषण शब्द और अर्थ का नहीं हो सकता।

वस्तुतः काव्यप्रकाशकार भी यह समझते हैं कि गुण रस के धर्म हैं। अतः रस के विशेषण हो सकते हैं। शब्द और अर्थ के नहीं। तथापि गौणरूप से गुण, शब्द और अर्थ के विशेषण हो सकते हैं। इसलिये अष्टम उल्लास ने गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' लिखाकर गौणरूप से गुण शब्दार्थ युगल के विशेषण हो सकते हैं। इसीलिये शब्दार्थों का विशेषण सगुणौ दिया है, जो युक्तियुक्त एवं तर्क-संगत है। विश्वनाथ ने तो पाडित्य प्रदर्शनार्थ ही मम्मट जैसे वाग्देवतावतार पर आक्षेप किया है।

अनलंकृती पुनः क्वापि—मम्मट ने काव्य-लक्षण में शब्दार्थ युगल का तृतीय विशेषण अनलंकृती पुनः क्वापि दिया है। इस अनलंकृती का आशय यह नहीं है कि काव्य में अलङ्कार नहीं होने चाहियें। अपितु 'अनलंकृती पुनः क्वापि' से यह ध्वनित

किया है कि सर्वत्र काव्य में अलङ्कार होने चाहियें। अर्थात् अलङ्कार सहित, दोष-रहित एवं गुणयुक्त शब्दार्थ युगल ही काव्य कहे जाते हैं, जैसा कि मम्मट ने स्वयं कहा भी है कि सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारबिरहेऽनिकाव्यत्वहानिः।

इस कथन का आशय यह है कि काव्य का मुख्य तत्व चमत्कार है। यह चमत्कार काव्य में कहीं रस के माध्यम से और कहीं अलङ्कार के माध्यम से अनुभूत होता है। निष्कर्ष यह है कि चमत्कार की अनुभूति के साधन रस तथा अलङ्कार हैं। अतः दोनों में से किसी एक रस अर्थात् अलङ्कार का होना आवश्यक है। तथापि इसकी तीव्रधारा प्रवाह से ओतप्रोत इस प्रधान रचना में अलङ्कार न भी हो तो कोई आवश्यकता नहीं होती है। इसी आशय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये "यः कौमारः" "हरः" इत्यादि श्लोक का अनलंकृति पुनः क्वापि के मण्डन में प्रस्तुत किया है और कहा है कि "रसस्य प्रधान्यान्नालङ्कारता" इस कथनानुसार यः कौमार-हरः में विभावनाविशेषोक्ति इत्यादि अलङ्कारों की सत्ता का अनुभव नहीं हो रहा है' क्योंकि यहाँ शृंगार इसकी तीव्रधारा में विभावनादि अलंकार वैसे ही निमग्न होकर प्रतीत नहीं होते हैं जैसे रत्नाकर के रत्न बाह्यरूप से ज्ञात नहीं होते हैं अतः रस-प्रधान रचना में अलंकार योजना आवश्यक नहीं है। विभावना में पूर्व की भाँति अनलंकृती का खण्डन करते हुए 'यः कौमार हरः' में विश्वनाथ ने विशेषोक्ति के मेल से संदेहसंकर अलंकार माना है परन्तु भावुक सरस कवियों के भाव को न समझने के कारण ही विश्वनाथ ने अनलंकृती का खण्डन करने का मिथ्या प्रयास किया है। यः कौमार हरः में जो रसानुभूति एवं आनन्द नायिका के वियोग शृङ्गार के सहृदयों को प्राप्त हो रहा है। क्या यह आनन्द विभावना विशेषोक्ति से कभी भी प्राप्त हो सकता है। अर्थात् कभी नहीं अतएव मम्मट का अनलंकृती विशेषण भी सर्वथा उपयुक्त एवं अनुभव से उचित प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने दोषरहित और गुणसहित तथा यदि कहीं अलंकार न भी हो तो भी शब्दार्थ-युगल को काव्य माना है।

मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन केवल विश्वनाथ ने ही किया हो यह बात नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन किया है। परन्तु विश्वनाथ ने तो शब्दार्थों के विशेषणों पर ही आक्षेप किया, जबकि पण्डित-राज ने विशेष्य शब्द और अर्थ पर ही आक्षेप किया है, विशेषणो पर नहीं। शब्दार्थों पर आक्षेप करते हुए पण्डितराज ने भी कहा है कि काव्यत्व शब्द और अर्थ की समष्टि पर नहीं रहता है। अपितु काव्यत्व केवल शब्द में ही रहता है जैसा कि रसगंगाधर में लिखा भी है कि—

शब्दार्थौ काव्यामित्याहुतस्तत्र विचार्यते···अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्त (व्यासज्यवृत्ति) प्रत्येक पर्याप्तं वा ? नाद्यः एको न द्वौ इति

व्यवहारस्येय श्लोक वाक्य न काव्यमिति—व्यवहारस्यायत्तेः न द्वितीयः एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः । तस्माद्वेशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दष्ठि तैबोचिता ।

अर्थात् काव्यप्रकाशकादि प्राचीन विद्वानों ने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है। इस विषय पर विचार करना आवश्यक है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनों में व्यासज्यवृत्ति अथवा प्रत्येक पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है। किन्तु व्यासज्यवृत्ति की संगति ही नहीं बन सकती है क्योंकि एको न द्वौ, इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य है, परन्तु काव्य नहीं। ऐसा व्यवहार होने लगेगा। और प्रत्येक पर्याप्त सम्बन्ध भी शब्द और अर्थ रूप काव्य में नहीं हो सकता है क्योंकि एक ही श्लोक वाक्य में शब्द और अर्थ की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व मानना पड़ेगा। इसलिए एक पद्य में शब्द और अर्थ भेद से दो प्रकार के काव्यों का व्यवहार होने लगेगा।

परिणामस्वरूप काव्यत्व शब्दार्थ-युगल में नहीं रहता है केवल शब्द में ही काव्यत्व रहता है। इसीलिये पण्डितराज ने काव्य की परिभाषा लिखते हुए लिखा है कि—"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" पण्डितराज के इस काव्य-लक्षण को देखकर नागेश ने कहा क्या शब्द काव्य हो सकता है ? अर्थात् नहीं क्योंकि काव्य का मुख्य स्वरूप एवं लक्ष्य रसास्वाद है। क्या यह रसास्वाद शब्दार्थ-युगल के साहचर्य के बिना केवल शब्द से ही प्राप्त हो सकता है कथमपि नहीं। काव्यं श्रुतम् अर्थञ्चावगतम् इस प्रकार का व्यवहार ही प्रमाण है कि केवल शब्द काव्य नहीं होता है अपितु शब्दार्थ-युगल में ही काव्यत्व रहता है।

केवल पण्डितराज के अतिरिक्त सभी आचार्यों ने काव्य का शरीर शब्द युगल को ही माना है। वस्तुतः शब्द और अर्थ की गौरवता मिश्रित रूप में ही है। अर्थ की सत्ता शब्द से निहित रहती है। शब्द के बिना अर्थ का ज्ञान असम्भव है। इसीलिये आचार्य मम्मट ने गुण सहित दोष रहित शब्दार्थ-युगल के समन्वित रूप को ही काव्य माना है। मम्मट के मत का समर्थन करते हुए डॉ० श्यामसुन्दर ने लिखा है कि—

'शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य अथवा कविता कहे जाते हैं।' इसीलिये मम्मट ने एक ओर ध्वनि को काव्य की संज्ञा दी है और दूसरी ओर चित्रकाव्य को भी काव्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है इसी से उनके विवेचन व्यापकता का समन्वित रूप काव्य परिभाषा में स्पष्टतया देखा जा सकता है। वस्तुतः मम्मटाचार्य के इस काव्य लक्षण में वैज्ञानिकता एवं समन्वित रूप तथा दोषरहित गुणसहित एवं कहीं कहीं पर अलंकार न भी हों तो भी काव्य कहा जायेगा अनलंकृती के माध्यम से अलंकार की आवश्यकता की ध्वनि सहृदयों के हृन्मानस में ध्वनित हो रही है अतः मम्मट के काव्य-लक्षण की प्राञ्जलता, वैज्ञानिकता एवं समीचीनता सर्वविदित है।

प्रश्न ८—काव्य-कारणों की समीक्षा करते हुए मम्मटोक्त काव्य-कारण की विवेचना कीजिये। (आगरा वि० वि० १९५५, ५७, ६१, ६३, ६४, ७७, ८०)

Describe in detail the cause (कारण) of a poetic composition.

उत्तर—काव्य-रचना के सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि शब्दों की जोड़-तोड़ करके कोई शब्द योजना क्यों न कर ले। परन्तु नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के अभाव में कवित्व-लाभ नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः काव्य का मुख्य हेतु प्रतिभा है जैसे कि भामह, ने लिखा भी है कि—

"काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः"

अतः प्रतिभा-काव्य का मुख्य हेतु है क्योंकि प्रतिभावान् कवि की ही रचना काव्यपद व्यवहार की क्षमता धारण करती है। यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने काव्यों के पृथक्-पृथक् हेतुओं को स्वीकार किया है। तथापि सामान्यतया सभी आचार्यों ने (१) शक्ति, (२) निपुणता (३) अभ्यास को काव्य का कारण स्वीकार किया है सर्वप्रथम पुराणेतिहासकर्त्ता वेदव्यास ने शक्ति, व्युत्पत्ति (निपुणता) और विवेक को काव्य के हेतु रूप में निर्देश किया है कि—

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा
व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः॥

व्यास के अनन्तर भामह ने भी शक्ति (प्रतिभा) व्युत्पत्ति (निपुणता) विवेक (अभ्यास) को काव्य का कारण माना है परन्तु शक्ति अर्थात् प्रतिभा पर अधिक जोर (बल) दिया है। दण्डी ने तो नैसर्गिक प्रतिभा के साथ-साथ निर्मल श्रुत अर्थात् निपुणता और परमानन्दाभियोग (अभ्यास) इन तीनों का समुदाय रूप में काव्य का कारण माना है जैसा कि लिखा है कि—

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥

रुद्रट ने भी शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को ही काव्य का हेतु माना है जैसा कि उनके कथन से स्पष्ट हो जाता है कि—

"त्रितयमिद व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः"

इसके अतिरिक्त वामन, राजशेखर, कुन्तक आदि प्रायः सभी आचार्यों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति, निपुणता और अभ्यास को ही काव्य का कारण माना है। समन्वयवादी आचार्य मम्मट ने भी इन्हीं तीनों (१) शक्ति (२) निपुणता (३) अभ्यास को समुदित रूप में काव्य का कारण स्वीकार करते हुए साहित्यशास्त्र को एक सरल एवं स्वच्छ कारणों के समन्वित रूप की स्थापना की है। यथा—

शक्तिर्निगुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

इस कारिका के अनुसार मम्मट ने (१) शक्ति (२) निपुणता (३) अभ्यास के समन्वित रूप को काव्य का कारण स्वीकार किया है। आचार्य मम्मट के मत से केवल प्रतिभा काव्य का कारण नहीं हो सकती है तथा केवल निपुणता अथवा केवल अभ्यास भी काव्य का कारण नहीं हो सकता है। अपितु इन तीनों का समन्तिव रूप ही काव्य का कारण हो सकता है। इसलिये हेतुः में एकवचन का प्रयोग किया है, न कि बहुवचन का। इससे स्पष्ट है कि मम्मट ने तीनों का समन्वित रूप ही काव्य का शक्ति कारण माना है।

मम्मटाचार्य ने काव्य-कारण शक्ति अर्थात् प्रतिभा को स्वीकार किया है। कविता के बीजरूप संस्कार विशेष को शक्ति कहते हैं। अर्थात् अनेक जन्मों से अर्जित संस्कार विशेषजन्य कवित्व बीज को ही शक्ति (प्रतिभा) कहते हैं। जिसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं हो सकती। यदि कोई कवि शब्द-योजना करता भी है तो उपहास का विषय होता है। जैसा कि देवी भगवान के "न नृषिः कुरुतेकाव्यम्" इस कथन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि संस्कार विशेष शक्तिविहीन व्यक्ति काव्य-रचना नहीं कर सकता है। कोई शब्दों को चयन करके ह्रस्व गुरु की योजना क्यों न करे। परन्तु प्रतिभाहीन इस शब्द-योजना अथवा तुकबन्दी को काव्य-रचना के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया जा सकता है। प्रतिभा का स्वरूप "नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि प्रतिभामता प्रतिपादित किया गया है। अर्थात् नवीन-२ अर्थों को आविर्भूत करने वाली बुद्धि विशेष को प्रतिभा कहते हैं। वामनाचार्य ने प्रतिभा का स्वरूप "कवित्वबीजरूप प्रतिभानम्" लिखकर पूर्व जन्म के संस्कार विशेष ईश्वरप्रदत्त कवित्व बीज को प्रतिभा कहा है। इस प्रतिभा से कवि भूत, भविष्य, वर्तमान कालत्रय का ज्ञान रखते हैं। इसीलिये कवियों को "कवयः कान्त दर्शिन" कहा गया है। यह निश्चित है कि कवि इन्द्रियातीत विषयों को भी हस्तामलकवत् साक्षात्कार करके काव्यरूप प्रदान करने में समर्थ होते हैं। कहा भी जाता है कि जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि इत्यादि अनुभवों से कवि लोकोत्तर काव्य का सृजन करने में समर्थ होता है।

निपुणता—आचार्य मम्मट ने काव्य-रचना का द्वितीय हेतु निपुणता माना है। विभिन्न आचार्यों ने निपुणता को ही व्युत्पत्ति कहा है। लोक-व्यवहार तथा शास्त्रों एवं पूर्व विरचित कवियों के काव्यादि के सम्यक् अध्ययन एवं तदनुसार आचरण करने से निपुणता प्राप्त है। अर्थात् चराचर लोकव्यवहार से लौकिक ज्ञान, वेदादि षड्शास्त्रों का अध्ययन करने से छन्द, व्याकरण कोष, नृत्य, गीत आदि ६४ कलाओं के ज्ञान से चतुवर्ग धर्मार्थ, काम मोक्ष प्रतिपादक ग्रन्थों के समुचित ज्ञान से

गजाश्वादि लक्षणों के प्रतिपादक ग्रन्थों के अध्ययन से आयुर्वेदादि प्रत्यादक चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ग्रन्थों के सम्यक् परिज्ञान से तथा महाकवियों बाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि के द्वारा विरचित रामायण, महाभारत आदि पुराणेतिहास एवं काव्यादिकों के सम्यक् पर्यालोचन से निपुणता प्राप्त होती है। यह निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति काव्य का द्वितीय हेतु है।

अभ्यास—काव्य-रचना का तृतीय हेतु "अभ्यास" स्वीकार किया गया है। काव्य-रचना के इच्छुक व्यक्तियों के लिये आवश्यक है कि वे शब्द योजना करके काव्य मर्मज्ञ गुरु को दिखावें तथा काव्यज्ञ गुरु के सुझावों एवं संशोधनों को हृदयंगम करते हुए पुनर्पुनः काव्य-रचना का सतत अभ्यास करें। यह विनीत एवं अहंकार रहित होकर काव्य-मर्मज्ञ गुरु के कथानुसार एवं प्राचीन सत्काव्यों से काव्य विशेषताओं को अनुभव करके तदनुसार निरन्तर अभ्यास करना चाहिये तभी कवि बनने के इच्छुक व्यक्ति प्रतिभा और निपुणता तथा अभ्यास के समन्वित योग से कविपद को प्राप्त करके यश-लाभ करने में समर्थ हो सकते हैं।

इतिहेतुस्तदुद्भवे—आचार्य मम्मट ने प्रतिभा, निपुणता एवं अभ्यास को काव्य का हेतु माना है किन्तु कारणत्रय का कथन करने के बाद भी एक वचन का "हेतु" में प्रयोग क्यों किया? इसका आशय यह है कि काव्य के उपर्युक्त ये तीनों हेतु मिलकर ही काव्य-रचना करने में समर्थ होते हैं। कोई भी केवल प्रतिभा से सत्काव्य की रचना लोकशास्त्र व्यवहारादि ज्ञान के बिना नहीं करता है, क्योंकि कहीं हिमालय का दक्षिण में और रामेश्वरम् का उत्तर में, राम का द्वापर में, कृष्ण का त्रेता में वर्णन न कर जाये। जिससे समाज में हँसी का पात्र बन जाय तथा सन्धि व्याकरण संमास, क्रिया आदि में भी कुछ का कुछ न लिखा जाये। अतः निपुणता का भी योग होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अभ्यास के बिना प्रतिभा और व्युत्पत्ति अर्थात् निपुणता के योग से ही कोई कवि तब तक सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। जब तक काव्य रहस्यवेत्ता गुरु को पुनः पुनः रचना करके नहीं दिखायेगा तथा गुरु की संशोधित त्रुटियों को दूर करने का अभ्यास नहीं करेगा। अतः स्पष्ट है कि इन तीनों कारणों के समुदित रूप से ही काव्य-रचना में सफलता एवं यश लाभ होता है। अतएव आचार्य मम्मट के समन्वयवादी दृष्टिकोण से स्पष्ट हो रहा है कि ये तीनों कारण पृथक्-पृथक् काव्य के हेतु नहीं हैं अपितु काव्योत्पत्ति के लिये तथा सफलता के लिये प्रतिभा, निपुणता एवं अभ्यास तीनों मिलकर समष्टि रूप में ही काव्य का हेतु मानना ही समीचीन है।

वस्तुतः मम्मट ने विभिन्न आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित काव्य-कारणों का समन्वयात्मक स्वरूप प्रदान करते हुये प्रतिभा, निपुणता, अभ्यास को समन्वित रूप से काव्य का हेतु माना है। इसीलिये कारिका में हेतुः और वृत्ति में "त्रयः समुदिताः न तु व्यस्ताः" लिखकर "हेतुर्नतुहेतवः" लिखा है। अतः स्पष्ट है कि काव्य के प्रति

इन तीनों का समष्टि रूप ही काव्य का कारण मानना चाहिये पृथक्-पृथक् नहीं। इसलिये, शक्ति निपुणता एवं अभ्यास का समष्टि रूप ही काव्य-निर्माण की क्षमता का कारण काव्यप्रकाश ने स्वीकार किया है।

प्रश्न ६—मम्मट के मतानुसार काव्य के भेदों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कीजिये। [आगरा वि० वि० १९७५]

What are the different kinds of poetic composition (काव्य) according to मम्मट ? Discuss.

उत्तर—आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण निर्माण करके काव्य के तीन भेदों का संक्षिप्त वर्णन किया है—

(१) उत्तमकाव्य (ध्वनिप्रधान)

(२) मध्यमकाव्य (गुणीभूतव्यंग्य)

(३) अधमकाव्य (वाच्यार्थप्रधान)

अर्थात् उत्तमकाव्य से ध्वनि-प्रधान काव्यों का संकेत करते हुए ध्वनि-प्रधान काव्य को उत्तमकाव्य माना है तथा जहाँ व्यंग्यार्थ की गौणता हो और वाच्यार्थ की प्रधानता हो तो वहाँ गुणीभूतकाव्य अर्थात् मध्यकाव्य होता है तथा जहाँ व्यंग्यार्थ न हो और न वाच्यार्थ ही चमत्कारी हो तो वहाँ अधम काव्य होता है। इस प्रकार मम्मट ने काव्य से मुख्य तीन भेद माने हैं।

(१) **उत्तमकाव्य**—सर्वप्रथम मम्मट ने उत्तमकाव्य का स्वरूप प्रतिपादित करते हुये लिखा है कि—

"इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः" इसका आशय यह है कि जहाँ जिस रचना में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक प्रभावोत्पादक तथा चमत्कारजनक हो तो वहाँ उस रचना में उत्तम काव्य होता है। इस उत्तमकाव्य को ही विद्वानों ने ध्वनिकाव्य के नाम से अभिहित किया है। आचार्य मम्मट ने अपने कथन की पुष्टि के लिये वैयाकरणों की मान्यता का उल्लेख किया है कि—

'इदमिति काव्यम्। बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यय व्यंजकस्य शब्दस्यध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्य व्यंग्यव्यंजनक्षमस्य शब्दार्थः युगलस्य" आशय यह है कि वैयाकरणों ने प्रधानभूत "स्फोट" रूपव्यंग्य को अभिव्यक्त कराने में समर्थ शब्द के लिये ध्वनि का व्यवहार किया है। तदनन्तर वैयाकरणों के मन का अनुसरण करने वाले आलंकारिकों

वाच्यार्थ को गौण करने वाले व्यंग्यार्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्द और अर्थ के लिये ध्वनि का प्रयोग करने लगे हैं।

व्याकरणशास्त्र में शब्द को ध्वनि कहा गया है। परन्तु स्फोटरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द के लिये ध्वनि कहा गया है। यह भाव स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। व्याकरण तथा अन्यत्र भी स्फोट शब्द सिद्धान्त की कल्पना की गई है। "स्फोट" का आशय श्रोत्र द्वारा गृहित वर्ण या ध्वनि ही है। इस ध्वनि को स्पष्ट करने के लिये ही मम्मट ने ध्वनि शब्द का प्रयोग उपर्युक्त पंक्ति में किया है। परन्तु यह स्फोट वस्तुत: क्या है ? इसको समझने के लिये "स्फोट सिद्धान्त" का संक्षिप्त विवरण आवश्यक हो जाता है। अत: स्फोट का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है।

स्फोटवाद---स्फोट की व्युत्पत्ति है, "स्फुटति अथ: यस्मात् सस्फोट" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "स्फोट" का अर्थ शब्द है। अत: जिससे अर्थ की प्रतीति हो उसको स्फोट कहते हैं। यह "स्फोट" वर्ण, पद, वाक्य, जाति भेद से आठ प्रकार का होता है। पद "स्फोट" से पद के अर्थ की वाक्य, स्फोट से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। गकार औकार, विसर्गों के योग से बना हुआ जो गौ पद गाय का वोध कराता है वह ध्वनि नहीं हैं अपितु वह स्फोट है। क्योंकि श्रोत्रग्राह्य ध्वनि तो क्षणिक होने के कारण नश्वर है तथा एक वर्ण की ध्वनि अग्रिमवर्ण के उच्चारण काल तक नष्ट नहीं हो सकती हैं, तो फिर वाक्यार्थ का ज्ञान ध्वनि से कैसे सम्भव हो सकता है। इसी आशय से वैयाकरणों ने स्फोट सिद्धान्त को स्वीकार किया है वैयाकरणों का मत है कि एक मानसिक व्यापार विशेष से वर्गों तथा पदों का सांकेतिक स्वरूप मानस में अंकित रहता है अर्थात् व्यापार विशेष से मानसिक पदों की प्रतीति उच्चारण के साथ समाप्त हो जाती है। इस व्यापार विशेष को ही स्फोट कहते हैं। जिसके द्वारा मानसिक पदों की प्रतीति उत्पन्न होती है उसे ही पद स्फोट कहते हैं अर्थ की प्रतीति पद स्फोट से ही होती है कर्णग्राह्य ध्वनि से नहीं होती है। इस प्रकार पूर्वपदानुभवजनित संस्कार सहकृत अन्त्यपद से सद्असद् पदावगाहिनी मानसी वाक्य प्रतीति होती है। वैयाकरण इसी को वाक्य स्फोट कहते हैं। इस वाक्य स्फोट से ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती हैं।

नैयायिक स्फोट सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। क्योंकि वैयाकरण स्फोट तथा शब्द को नित्य मानते हैं, जबकि नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं। अत: नैयायिक स्फोट की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि से होती है। इसलिये जिस प्रकार वैयाकरणों ने प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यंजक शब्द के लिये ध्वनिपद का व्यवहार किया है। उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने वाले शब्द अर्थ के लिये आनन्दवर्द्धनाचार्य आदि साहित्यमर्मज्ञों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग साहित्यशास्त्र में किया है। जैसा कि ध्वनिप्रधान उत्तमकाव्य के इस उदाहरण से स्पष्ट ध्वनि का महत्व सिद्ध हो रहा है कि—

निःशेषच्युत चन्दनं स्तनतटं निमृष्ट रागोधरो,
नेत्रेदूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति वान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याऽधमस्यान्तिकम् ।

इसका आशय है कि हे दूति ! तुम्हारे उरोजों के किनारों पर लगा हुआ चन्दन छूट गया है तथा तेरे नीचे के ओष्ठ की लालिमा भी समाप्त हो गई है और नेत्रों का काजल भी धुल गया है । इसके अतिरिक्त तेरा यह दुर्बल शरीर रोमाञ्चित हो रहा है । अरे अपनी सखी अर्थात् मेरी पीड़ा को न जानने वाली तू तो उस अधम के पास गई ही नहीं अपितु यहाँ से जाकर बावली में स्नान करने गयी थी। यहाँ वाच्यार्थ अप्रधान हो रहा है और व्यंग्यार्थ प्रधानरूप से ध्वनित हो रहा है किन्तु उस नीच के पास संभोग के लिये गयी थी। क्योंकि तेरे उपर्युक्त लक्षण ही स्पष्ट कर रहे हैं कि निश्चय ही रति के कारण तेरे अंगों की यह दशा हो रही है, स्नान से नहीं । क्योंकि स्नान से समस्त चन्दन छूटना चाहिये, किनारों का ही क्यों छूट गया है । नीचे के ओष्ठ की ही लालिमा क्यों दूर हो गई ऊपर के ओष्ठ की क्यों नहीं दूर हुई । अतः अधम से व्यंजित हो रहा है कि तू निश्चय की उस नीच से रति आनन्द प्राप्त करके आई है । यहाँ वाच्यार्थवापी स्नान करके आई और अधम के पास नहीं गई यह है इस वाच्यार्थ में कोई अस्तित्व एवं आनन्दानुभूति की क्षमता नहीं है जबकि व्यंग्यार्थ में सहृदयाह्लादकता एवं चमत्कारातिशय विद्यमान है । अतएव वाच्यार्थ अभिभूत हो गया है और व्यंग्यार्थ परमोत्कृष्टता के साथ विद्यमान है । इसीलिये आचार्य मम्मट ने ध्वनिप्रधान श्लोक का उदाहरण उत्तमकाव्य के समर्थन में दिया है । वस्तुतः इस श्लोक में ध्वनि की प्रधानता होने के कारण उत्तमकाव्य के समर्थन में दिया है । वस्तुतः इस श्लोक में ध्वनि की प्रधानता होने के कारण उत्तमकाव्य के उदाहरण की क्षमता है । मम्मट का यह उदाहरण सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन है ।

मध्यमकाव्य—उत्तमकाव्य अर्थात् ध्वनिप्रधान काव्य का उदाहरण प्रस्तुत करने के बाद मध्यमकाव्य अर्थात् गुणीभूतकाव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

"अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्यं तु मध्यमम्" ।

इसका आशय यह है कि जहाँ जिस रचना में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक एवं चमत्कारजनक न हो तो वहाँ उस रचना में मध्यमकाव्य अर्थात् गुणीभूत काव्य होता है । सामान्य रूप से मुख्य गुणीभूत के दो भेद होते हैं— (१) न्यूनत्व प्राधान्य गुणीभूतव्यंग्य । (२) तुल्यत्वप्राधान्यगुणीभूतव्यंग्य । प्रस्तुत उदाहरण न्यूनतत्व प्राधान्यगुणीभूत व्यंग्य का है यथा—

ग्रामतरुण तरुण्या नववंजुलमञ्जरी सनाथकरम् ।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

तात्पर्य यह है कि किसी ग्राम-तरुणी की मुख-कान्ति नूतन अशोक या वेतस की मंजरी को हाथ में लिये हुए तथा संकेत स्थल पर गये ग्राम तरुण को देखकर ग्राम तरुणी के मुख की कान्ति मलीन हो जाती हैं। यहाँ वाच्यार्थ यह है कि ग्राम-तरुणी के मुख की कान्ति मलीन हो जाती है यही वाच्यार्थ अधिक चमत्कारजनक तथा प्रभावोत्पादक है। व्यंग्यार्थ यह है कि कोई तरुणी तरुण से प्रतिज्ञाबद्ध होकर भी संकेतित स्थान पर न पहुँच सकी। इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक एवं सहृदयाह्लाद का कारण हो रहा है। अतः मम्मट ने इस पद्य को गुणीभूत व्यंग्य कहा है। अथवा मध्यमकाव्य के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह उदाहरण मम्मट जैसे वाग्देवता की प्रतिभा से ही सम्भव हो सकता है।

अधमकाव्य—उत्तम तथा मध्यम काव्य के उदाहरणों को स्पष्ट करने के पश्चात् काव्य के तृतीय भेद अर्थात् अधमकाव्य का स्वरूप इस प्रकार निरूपण किया है कि—"शब्द चित्र वाच्यचित्रमव्यंग्य का त्ववरं स्मृतं अर्थात् जिस रचना में व्यंग्यार्थ का अभाव हो रहा हो वहाँ उस रचना में अधमकाव्य कहा जाता है। यह अधमकाव्य (१) शब्द-चित्र एवं (२) अर्थ-चित्र भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ चित्र शब्द से गुण एवं अलङ्कारयुक्त रचना को ग्रहण किया जाता है। इसलिये गुण एवं अलङ्कारयुक्त रचना ही चित्र काव्य के अन्तर्गत स्वीकार की जाती है। यहाँ अव्यंग्य शब्द का अर्थ सर्वथा व्यंग्यरहित नहीं है क्योंकि सर्वथा व्यंग्यरहित वाक्य का होना सम्भव नहीं है। अतः यह समझना चाहिये जहाँ व्यंग्यार्थ अत्यल्प मात्रा में अर्थात् नगण्य हो वहाँ चित्रकाव्य होता है। प्रस्तुत उदाहरण अधमकाव्य के प्रथम भेद शब्द चित्र का अवलोकन कीजिये कि—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा,

मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।

भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुमः—

द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।

इसका भावार्थ यह है कि स्वच्छन्द रूप से उलझती हुई किनारों के गड्ढों में अति तीव्र गति से प्रवाहित होने वाली स्वच्छ जल की धारा से सांसारिक माया-दिजन्य मोह से रहित महर्षियों के स्नान की जाने वाली तथा उनके दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने वाली कहीं-कहीं दिखाई पड़ने वाले मेढकों से परिपूर्ण तथा बड़ी-बड़ी दरारों से युक्त विशालकाय वृक्षों को उखाड़ने में समर्थ विशाल लहरों के कारण

अत्यन्त गर्व धारण करने वाली मन्दाकिनी अर्थात् गंगा आप सभी के पापों को नष्ट करें।

यद्यपि इस पद्य में गंगा विषयक रतिभाव की अभिव्यञ्जना हो रही है तथा अन्य तीर्थों की अपेक्षा गंगा का प्रभावातिशय अभिव्यक्ति हो रहा है। तथापि प्रायः प्रतिवर्ण में अनुप्रास की चरम छटा विद्यमान होने के कारण रतिभाव, तथा गंगा का प्रभावितशय रूप में व्यंग्यार्थ समाप्त हो जाता है। अतः व्यंग्यार्थ अभाव में अव्यंग्यरूप अधमकाव्य के प्रथम भेद शब्द चित्र का उदाहरण हो जाता है।

अर्थचित्र का उदाहरण—अधमकाव्य के प्रथम भेद शब्दचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करने के पश्चात् अर्थचित्र का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्, भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमिलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

इसका तात्पर्य यह है कि स्वेच्छया भ्रमण के लिये महल से निकले हुये अभिमान को चूर्ण विचूर्ण करने वाले ह्यग्रीव को सुनकर घबड़ाये हुये देवराज इन्द्र के द्वारा बन्द कर ली गई अर्गला जिसकी वह भयभीत इन्द्रपुरी भय के कारण मानो द्वार रूपी आँखों को बन्द किये हुये हो। यद्यपि ह्यग्रीव के शौर्य का सशक्त वर्णन होने के कारण वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है। यथापि भिया निमीलिताक्षीव में कवि का तात्पर्य उत्प्रेक्षा प्रदर्शन होने के कारण वीर रस की प्रतीति नहीं होती है। अतः कवि का तात्पर्य उत्प्रेक्षाचित्रण में है। वीररस की प्रतीति में तात्पर्य न होने के कारण यह अर्थचित्र का उदाहरण माना है।

परन्तु अर्थचित्र का यह उदाहरण कुछ उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि वीररस की प्रतीति होती है। यहाँ स्वयं ह्यग्रीव (वीररस का) "आलम्बन" विभाव और शत्रु रूप इन्द्र का भय "उद्दीपन विभाव" मान का खण्डन "अनुभाव" स्वेच्छाभ्रमण जन्य धृति "व्यभिचारिभाव" है। इसलिये इस पद्य की व्यंग्यरहित अधम-अर्थचित्र का उदाहरण मानना उचित प्रतीत नहीं होता है। यदि उत्प्रेक्षा के कारण वीररसत्व तिरोहित हो गया है तो इसको गुणीभूत अर्थात् मध्यमकाव्य का उदाहरण मानना चाहिये। वस्तुतः इस पद्य को अर्थचित्र का उदाहरण मानकर इस श्लोक तथा लेखक कवि के साथ न्याय नहीं किया गया है। यह भी सम्भव हो सकता है कि हम अल्पज्ञों की दृष्टि से गुणीभूत का उदाहरण होना चाहिये परन्तु परममनीषी वाग्देवतावतार मम्मटाचार्य को विशिष्ट वैदुष्य की अतिशयावश अर्थचित्र का ही उदाहरण प्रतीत हुआ हो तथापि अब हम लोगों की दृष्टि से इस श्लोक में मध्यमकाव्य के उदाहरण की पूर्ति-क्षमता विद्यमान है। ●

प्रश्न १०—क्या मम्मट ने प्राचीन काव्य विधाओं का सम्मिश्रण एवं संकलन मात्र प्रस्तुत किया है? इस कथन के औचित्य एवं अनौचित्य पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।
(आगरा वि० वि० १९६६, ८४)

Discuss Mammata's definition of poetry in relation to some of the pre-Mammata and Post Mammata definitions. Bring out the special contribution of Mammata in this respect.

उत्तर—कुछ समालोचक विद्वानों का कथन है कि आचार्य मम्मट ने "सद-दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" में केवल पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न काव्य-परिभाषाओं का संकलन मात्र प्रस्तुत किया है। स्वयं (अपनी) की मौलिका नहीं है, क्योंकि मम्मट ने काव्य-लक्षण में आत्मातत्व रस का सन्निवेश नहीं किया है। यदि अपने मौलिक विचारों की प्रेरणा से काव्य-लक्षण लिखा होता तो अवश्यमेव अपने लक्षण में रस का सन्निवेश करते।

वस्तुतः मम्मट के आशय को न समझ सकने वाले व्यक्ति ही उनके काव्य-लक्षण में दोष खोजने का निरर्थक प्रयास करते हुये उपाहास का विषय बनते हैं। मम्मट ने पूर्व वैज्ञानिकता से युक्त विभिन्न आचार्यों द्वारा निर्मित काव्य-लक्षणों के ग्राह्य अंश को ग्रहण करके और त्याज्य अंश का परित्याग करके एक मौलिक, सरस एवं समर्थ काव्य-लक्षण का निर्माण किया है। इसीलिये अष्टम उल्लास में गुण को रस का धर्म स्वीकार किया है तथा सरसौ का भाव व्यक्त करने के लिये शब्दार्थयुगल का विशेषण सगुणौ माना है। कुछ विद्वान् विश्वनाथ सदृश सगुणौ का सरसौभाव मानना उचित नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि यदि सरसौ के लिये सगुणौ कहा है तो कहीं अच्छा होता, यदि मम्मट सगुणौ के स्थान पर सरसौ कह देते क्योंकि सगुणौ का मुख्य भाव सरसौ हृदय में रखकर शब्द से (गौण रूप से) सगुणौ कहा जाये। क्या यह द्राविड़ प्रणायाम नहीं है? अपितु अवश्य है।

इस आक्षेप का समाधान बहुत सरल है कि मम्मट ध्वनि प्रस्थापनाचार्य थे। अतः उन्होंने रस को आत्मतत्व के रूप में साक्षात् शब्दों से अर्थात् अभिधावृत्ति से नहीं कहा अपितु व्यञ्जना वृत्ति से काव्य की आत्मा रस स्वीकार करने के लिये ही अनलंकृती पुनः क्वापि का शब्दार्थयुगल का विश्लेषण दिया है तथा "यः कौमारहरः" इत्यादि पद्य को उदाहरण देकर लिखा है कि अत्र न कश्चित स्फुटोऽलङ्कारः। रसस्यप्रधान्यान्नालकारता इससे स्पष्ट है कि ध्वनिवादी मम्मटाचार्य ने रस-ध्वनि का उत्कर्ष व्यञ्जना द्वारा प्रतिपादित करने के लिये ही सरसौ न कहकर सगुणौ कहा है। वस्तुतः मम्मट का काव्य-लक्षण सर्वथा दोषरहित एवं मौलिक है। इसके अतिरिक्त मम्मट ने शब्द के तीनों भेदों को अर्थात् वाचक, लक्षण, व्यञ्जक एवं वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ को स्वीकार किया है। इसलिये व्यंग्य रूप रसध्वनि अथवा रस का उत्कर्ष द्योतित करने के लिये रसधर्म गुणों को शब्दार्थयुगल का विशेषण माना है। वस्तुतः मम्मट का सरसौ विशेषण रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से सफल एवं उत्कृष्ट विशेषण है।

मम्मट का समन्वयवादी दृष्टिकोण था। यह सभी विद्वान् एकमत से स्वीकार

करते हैं। इसीलिये प्राचीन आचार्यों के काव्य-लक्षणों का सम्यक् निरीक्षण करके अग्निपुराणोक्त तथा भामह, वामन, दण्डी, भोजराज, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक आदि के काव्य-लक्षण का समन्वित रूप तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि लिखकर मौलिक एवं वैज्ञानिक निर्दुष्ट काव्य-स्वरूप का प्रतिपादन किया है। अन्य काव्यों की अपेक्षा मम्मट का यह काव्य-लक्षण अधिक सशक्त एवं परिमार्जित है। कुन्तक ने जिस भाव को कई कारिकाओं के माध्यम से व्यक्त किया है। मम्भट ने उसी भाव को इस काव्य की पंक्ति के माध्यम से प्रकट किया है तथा सगुणौ और अदोषौ विशेषण जोड़कर काव्य-लक्षण में नवीनता उत्पन्न की है। इसके अतिरिक्त लोक-व्यवहार में शरीर के संस्कार करने के समय प्रथम दोष शान्ति एवं दोषापनयन रूप संस्कार किया जाता है तदनन्तर गुणाधान रूप संस्कार तदनन्तर अलङ्कार धारण करने आदि का समथ आता है। यदि अलङ्कार न भी हों तो भी दोषापनयन रूप संस्कार तथा गुणाधान रूप संस्कार करना आवश्यक होता है, क्योंकि दोषापनयन तथा गुणाधान रूप संस्कार के बिना जीवन में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती है। इसलिये आचार्य मम्मट ने कांव्य के शरीर रूप शब्दार्थयुगल का दोषापनयन करने के लिये ही अदोषौ तथा गुणाधानरूप संस्कार के प्रतिपादनार्थ ही रसधर्म रूप-गुण का उत्कर्ष स्पष्ट करते हुये सगुणौ विशेषण लिखा है अनलंकृती पुनः क्वापि लिखकर अलङ्कारों की गौणता की सूचना दी है। इस प्रकार लौकिक व्यवहारों के आधार से तथा समन्वयवादी दृष्टिकोण से एक उत्कृष्ट काव्य-लक्षण की मौलिक एवं वैज्ञानिक परिपूर्ण नवीन रचना करके तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि लिखकर काव्यजगत् का सन्मार्ग प्रशस्त एवं आलोकित किया है। अत: इस प्रकार थोड़े शब्दों में मम्मट ने सतर्कता एवं गाम्भीर्य से अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के अनुकूल ही मौलिक एवं अत्यन्त सुन्दर तथा उपयुक्त वैज्ञानिक काव्य-लक्षण का निर्माण किया है। अतएव काव्य जगत् मम्मट की देन की कृतज्ञता को सहर्ष स्वीकार कर रहा है। ●

प्रश्न ११--विभिन्न आचार्यों के संकेतग्रह सम्बन्धी मतों का विवेचन करते हुये मम्मट के द्वारा प्रतिपादित संकेतग्रह का निरूपण कीजिये। (१९७६)

Discuss संकेत-ग्रह according to the different Acharyas taking also into consideration as it is expressed by Mammat.

उत्तर—आचार्य मम्मट ने शब्द के (१) वाचक, (२) लक्षक, (३) व्यंजक तथा अर्थ के (१) वाच्य, (२) लक्ष्य, (३) लक्ष्य इन तीन प्रकार के शब्द तथा अर्थों का निरूपण करने के पश्चात् वाचक शब्द का स्वरूप प्रतिपादित करते हुये लिखा है कि,

"साक्षात्संकेतित योऽर्थमभिधते स वाचक:"

अर्थात् जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को अभिधा द्वारा कहता है, उस शब्द को वाचक शब्द और उसके अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि साक्षात् संकेत-ग्रह से युक्त अर्थ को अभिधा बोध कराती है। इस अभिधाजन्य अर्थ को वाच्य, शक्य, अभिधेय आदि के नाम से व्यवहृत करते हैं।

किन्तु यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह संकेतग्रह किसमें रहता है। इस संकेतग्रह के विषय में विभिन्न विद्वानों ने विचार किया है। कोई संकेत-ग्रह की स्थिति जातिवाचक शब्दों में मानता है तो कोई व्यक्तिवाचक और कोई जाति विशिष्ट व्यक्ति में संकेत-ग्रह को मानता है।

यद्यपि साधारण रूप से व्यवहार की क्षमता व्यक्तिवाचक शब्दों में ही होती है तो क्यों न व्यक्ति में संकेत-ग्रह मान लें। परन्तु व्यक्ति में संकेत-ग्रह स्वीकार करने से (१) आनन्त्य तथा (२) व्यभिचार नामक दो दोष उपस्थित हो जायेंगे।

(१) **आनन्त्य**—संसार में प्रत्येक जाति में व्यक्ति अनेक होते हैं। इस लिये विभिन्न स्थानों में स्थित व्यक्तियों के बोध के लिये अनन्त संकेत-ग्रह मानने होंगे। यदि आनन्त्य दोष से बचने के लिये दो चार व्यक्तियों में ही संकेत-ग्रह मान लें तो भी व्यभिचार दोष की उपस्थिति हो जायेगी। व्यभिचार शब्द का अर्थ नियम का अतिक्रमण करना है। संकेत-ग्रह की सहायता से ही शब्द के अर्थ का बोध होता है। यह नियम है कि यदि दो चार व्यक्तियों में संकेत-ग्रह मानकर अनेक व्यक्तियों का बोध हो जायेगा ऐसा मान लें तो नियम का अतिक्रमण करने के कारण व्यभिचार-दोष हो जायेगा। इसीलिये व्यक्ति में संकेत-ग्रह नहीं माना जा सकता है।

इसके अतिरिक्त महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' लिखकर (१) जातिवाचक, (२) गुणवाचक, क्रियावाचक, (४) यदृच्छावाचक भेद से शब्दों के चार भेदों का वर्णन किया है। व्यक्ति में संकेत-ग्रह मानने से भाष्यकार का यह शब्द विभाग नहीं बन सकेगा क्योंकि व्यक्ति में संकेत-ग्रह स्वीकार करने से जाति (गो) गुण (शुक्ल) क्रिया (चल) यदृच्छा (डित्थ आदि) चारों प्रकार के शब्दों से व्यक्ति का ही बोध होगा। इसलिये महभाष्यकृत शब्दों का चार प्रकार का विभाग नहीं बन सकेगा। इस प्रकार व्यक्ति में संकेत-ग्रह नहीं माना जा सकता है। अतः से व्यक्ति उपाधि रूप, (१) जाति, (२) गुण, (३) क्रिया तथा (४) यदृच्छा रूप धर्मों में संकेत-ग्रह मानना समीचीन होगा।

इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि—

यद्यप्यर्थ क्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्त योग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति "गौः, शुक्लः, चलोडित्थः" इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः।

अतः व्यक्ति में संकेत-ग्रह न मानकर व्यक्ति के उपाधिरूप धर्मों में संकेत-ग्रह मानना चाहिये।

यह उपाधि मुख्य रूप से (१) वस्तुधर्म, (२) और वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित भेद से दो प्रकार की होती है। (१) सिद्धरूप और (२) साध्यरूप भेद से वस्तुधर्म भी दो प्रकार का होता है। वस्तु धर्म का सिद्ध रूप भी (१) पदार्थ का प्राणपद (जीवनधायक) (२) विशेषाधान का कारण रूप भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से वस्तु का प्राणपद सिद्ध धर्म "जाति" होता है। जैसा कि वाक्यप्रदीप में भर्तहरि ने कहा है कि—

'नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगोः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः"

(१) जाति—अर्थात् गौ स्वरूप से गौ नहीं होती है और न अगौ होती है। अपितु गोत्व जाति के सम्बन्ध से ही गौ कही जाती है। इसीलिये वस्तु का प्राणपद जीवनाधायक वस्तुधर्म ही जाति कहा जाता है।

(२) गुण—इसके अतिरिक्त वस्तु का विशेषाधानसिद्ध वस्तुधर्म को ही "गुण" कहते हैं, क्योंकि शुक्ल आदि के गुणों के कारण ही वस्तु अपनी सजातीय वस्तु से भेद को प्राप्त होती है। गौः शब्द के साथ गुणवाचक, शुक्ल पीत, आदि विशेषण ही अन्य सजातीय गायों से भेद को स्पष्ट करते हैं।

(३) क्रिया—साध्यरूप वस्तुधर्म के पच् आदि क्रिया के चूल्हे को जलाये रखने तथा पकने पर उतारने आदि तक पूर्वापरीत समस्त क्रिया—कलाप को क्रिया कहते हैं—

(४) यदृच्छात्मक—डित्थ आदि शब्द को वक्ता स्वेच्छावशउपाधिरूप से अपने पुत्र आदि के लिये प्रयोग करता है अर्थात् किसी वस्तु अथवा किसी व्यक्ति का नाम डित्थ आदि रूढ़ि शब्दों से रखकर वक्ता अपनी इच्छा से संज्ञारूप में व्यवहृत करता है। इस प्रकार यह रुढ़िरूप डित्थादि शब्द यदृच्छात्मक कहे जाते हैं।

इस प्रकार मम्मट ने संकेतग्रह कहाँ अर्थात् किसमें मानना चाहिये इस का प्रतिपादन करने के लिये महाभाष्यकार के चार प्रकार के जाति, गुण, क्रिया यदृच्छा-वाचक शब्दों के भेद का उद्धहरण देखकर व्यक्ति की उपाधिरूप जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छात्मक शब्दों से संकेतग्रह स्वीकार किया है। महाभाष्यकार के "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" का उल्लेख करके मम्मट ने अपने मत पर प्रमाण रूप पतञ्जलि की मुद्रा लगाने का प्रयास किया है।

इस उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वस्तु में प्राणपदधर्म को "जाति" और उसके विशेषाधान हेतु को "गुण" कहते हैं। इसलिये वैशेषिक दर्शन में प्राप्त होने वाले परमाणु शब्द को विशेषाधान हेतु "गुण" नहीं मान सकते हैं क्योंकि यह पर-माणु शब्द २४ शब्दों के अन्तर्गत पठित होने के कारण पारिभाषिक गुण माना

जायेगा जैसे व्याकरणशास्त्र में ए, ओ, अ को "गुण" कहते हैं तथा आ, ऐ, औ को वृद्धि कहते हैं। इसी प्रकार गुणवाचक परमाणु शब्द वैशेषिक दर्शन में पारिभाषिक रूप में पढ़ा गया है। अतः यह परमाणु शब्द सूक्ष्मतम पदार्थ का प्राणपद धर्म है। विशेषाधान हेतु नहीं है। अतः केवल वैशेषिक दर्शन के गुणों में पठित होने के कारण परिमाणु या परमाणु को गुण नहीं कह सकते हैं, अपितु एक पारिभाषिक गुणत्व मानकर इसे 'जाति' ही मानेंगे।

अतः जिस प्रकार व्यक्ति की उपाधि, रूप, जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा रूपों धर्मों में संकेतग्रह मानने से गोत्व-धर्म जाति के द्वारा समस्त गो व्यक्तियों का बोध हो जायेगा तथा इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण सब कहीं एक ही होने के कारण शुक्लत्वादि विशिष्ट गुण में संकेतग्रह स्वीकार करने से पृथक् संकेतग्रह मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।

परन्तु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शङ्ख, दूध, कलई, रजत, वस्त्र आदि में रहने वाला शुक्लत्व धर्म विभिन्न रूप में प्रतीत होता है, तथा पाकक्रिया भी, गुड़, दाल, शाक आदि के भेद से अनेक प्रकार की होती है। इस प्रकार शुक्ल आदि में एक स्थान पर संकेतग्रह स्वीकार करने से कार्य नहीं चल सकेगा तथा जैसे व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं, वैसे ही गुण और क्रिया में (एक जगह में) संकेतग्रह मानने पर भी अनन्त्य और व्यभिचार दोष होंगे। अतः एक स्थान पर संकेतग्रह मानना उचित नहीं है।

इस प्रश्न का समाधान करते हुये मम्मट ने लिखा है कि—

"गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते"

अर्थात् शुक्ल आदि गुण, पाक आदि क्रियाओं में जो भेद दिखाई देता है वह वास्तविक भेद नहीं है। अपितु यह भेद उपाधिजन्य ही है। जैसे एक मुख का प्रतिबिंब दर्पण, जल, तैल, आदि आश्रय के भेद से भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः मुख का प्रतिबिंब एक ही है। भेद नहीं हैं। तैल, जल, दर्पण, आदि आश्रय के भेद से मुख का प्रतिबिंब का भेद प्रतीत होता है, परन्तु यह भेद वास्तविक नहीं है। अपितु उपाधिजन्य है। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाओं में जो भेद प्राप्त होता है। वह भी औपाधिक ही है। वास्तविक नहीं है। अतः गुण क्रिया आदि में संकेतग्रह मानने से कोई दोष नहीं आता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये लिखा है कि—

"हिमपयः शंखाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्लइत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादि पाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि।

इससे स्पष्ट है कि शुक्लत्वादि गुण में और पाकादि क्रियाओं में वास्तविक

भेद न होने से और के औपाधिक भेद होने के कारण गुण तथा क्रिया में एक जगह संकेतग्रह स्वीकार करने से कोई दोष नहीं होता है।

संकेतग्रह-विषयक नैयायिकमत

उपर्युक्त विवेचन में संकेतग्रह के विषय में वैयाकरण, साहित्यिक, और मीमांसक मतों का वर्णन करने के अनन्तर नैयायिक, तथा बौद्ध-मतों का संकेत करते हुए मम्मट ने लिखा है कि—

"तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति"

नैयायिकों के मत में संकेतग्रह न व्यक्ति में मानना उचित है और न जाति में मानना उचित है क्योंकि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं और केवल जाति में संकेतग्रह मानने से जाति का ही बोध हो सकेगा व्यक्ति का नहीं। यदि जाति में संकेतग्रह मानकर व्यक्ति का आक्षेप किया जायेगा तो शब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकेगा क्योंकि "शाब्दी आङ्काक्षा शब्देनैव पूर्यते" इस नियम के अनुसार अभिधा वृत्ति से उपस्थित अर्थ का ही शब्दबोध में अन्वय हो सकता है। अतः मम्मट ने "तद्वान्" पद का उल्लेख करके नैयायिक मत का संकेत किया हैं। "तद्वान्" का अर्थ जातिमान् है अर्थात् नैयायिक "जातिविशिष्टव्यक्ति" में संकेतग्रह मानते हैं। यह नैयायिक-मत है कि "व्यक्त्याकृतिजातायस्तु पदार्थः" इस न्यायसूत्र के अनुसार जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति में ही संकेतग्रह स्वीकार करना चाहिये।

बौद्धमत—"अपोहो वा शब्दार्थः" लिखकर मम्मट ने संकेतग्रह सम्बन्धी बौद्धमत का संकेत किया है। अतः बौद्ध के मत में शब्द का अर्थ "अपोह" होता है। यह "अपोह" शब्द बौद्ध दर्शन का पारिभाषित शब्द है। इसका अर्थ "अतद्व्यावृत्ति अथवा तद्भिन्नभिन्नत्व होता है। अर्थात् दश घट व्यक्तियों में जो 'घटः घटः' की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण "अघट व्यावृत्ति अथवा घटभिन्नभिन्नत्व" है अर्थात् घटरूप वस्तु समस्त संसार से भिन्न है। इसलिये घट में "घटःघटः" की एकमात्र प्रतीति होती है। इस प्रकार बौद्धधर्म "अपोह" में संकेतग्रह मानता है वस्तुतः संकेतग्रह में अधिक उपयोगी न होने के कारण बौद्ध एवं नैयायिक-मत का विशेष वर्णन ग्रन्थकार ने नहीं किया है केवल नाम निर्देश करके छोड़ दिया है। वस्तुतः नैय्यायिक एवं बौद्धों का संकेतग्रह सम्बन्धी विचार मम्मट को उचित नहीं प्रतीत हुआ, इसीलिये उनका अधिक विवेचन नहीं किया है।

मम्मट का सिद्धांत मत—आचार्य मम्मट ने संकेतग्रह के प्रसंग में चार मतों का उल्लेख किया है। उसमें महाभाष्यकार के "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः"। लिखकर प्रथम मत को दिखाया है। द्वितीय मत का उल्लेख इत्यन्ये और तृतीय, तथा चतुर्थ मत उल्लेख "कैश्चित्" शब्द से किया है। नरसिंह ठाकुर आदि विद्वानों का मत है कि मम्मट का इन मतों में कोई मत नहीं है। नरसिंह ठाकुर ने तो "तस्माद्-व्यक्ति पक्षएवक्षोदक्षमः" लिखकर व्यक्ति में ही संकेतग्रह स्वीकार करना चाहिये

यही उचित ठहराया है। परन्तु नरसिंह ठाकुर का मत यह उचित नहीं प्रतीत हो रहा है क्योंकि मम्मट ने सर्वत्र वैयाकरणों के सिद्धान्त का समादर किया है और महाभाष्यकार का नाम बड़े आदर के साथ और सिद्धान्त के समर्थन-रूप से यत्र तत्र उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट को "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" वाला महाभाष्य का मत अभीष्ट है। इसलिये वहाँ भाष्यकार के मत का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त मम्मट ने "शब्दव्यापारविचार" नामक एक छोटा सा प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है। उसमें भी मीमांसक आदि विद्वानों के संकेतग्रह सम्बन्धी मतों का खण्डन करके महाभाष्यकार द्वारा प्रतिपादित "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" के मत को स्वीकार करते हुये लिखा है कि—

"तत्र मुख्यश्चतुर्भेदोज्ञेयो जात्यादिभेदतः"

अर्थात् अभिधा द्वारा प्रतिपादित मुख्यार्थ (१) जाति (२) गुण (३) क्रिया (४) यदृच्छा भेद से चार प्रकार का होता है। अतः स्पष्ट है कि मम्मट ने महाभाष्यकार के मत को स्वीकार करते हुये ही व्यक्ति की उपाधि जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा रूप धर्म में ही संकेतग्रह माना है। इस प्रकार नरसिंह ठाकुर का कथन उचित एवं मान्य नहीं है। ●

प्रश्न—१२ साहित्य में शब्दशक्ति के उपयोग और महत्त्व पर विवेचन करते हुए भेद स्पष्ट कीजिये। (आगरा वि० वि० १९५६, ६०, ६४)

In what respect does the view of rhetoricians about शब्दशक्ति differ from those held by grammarians and logicians ?

उत्तर—वाग्देवतावतार मम्मट ने काव्य-लक्षण का स्वरूप स्पष्ट करते हुये शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर माना है, किन्तु यह शब्द और अर्थ क्या हैं, इसका विवेचन प्रस्तुत करते हुए शब्दों के (१) वाचक (२) लक्षक (३) व्यंजक ये तीन भेद करते हुये अर्थ के भी क्रमशः (१) वाच्य (२) लक्ष्य (३) व्यंग्य भेद किये हैं। अतः तीन प्रकार के अर्थ ज्ञान के लिये (१) अभिधा (२) लक्षणा (३) व्यंजना, नामक तीन शब्द शक्तियों का निरूपण किया है। शब्दों के भेद प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

"स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्तथा।"

काव्य में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना के द्वारा शब्दों के अर्थ का विवेचन वाच्य, लक्ष्य, तथा व्यंग्य भेद से किया है। "गंगायां घोषः" में गंगा शब्द के वाच्यार्थ को जलधारा रूप लक्ष्य तटरूप, व्यंग्य शीतलता तथा पावनता रूप तीनों अर्थों का ज्ञान क्रमशः अभिधा, लक्षणा, व्यंजना से होता है। मम्मट ने तीन प्रकार के शब्दों के अर्थ का निरूपण करने के लिये "वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः" लिखा है अर्थात् वाचक, लक्षक, व्यञ्जक के क्रमशः वाच्य लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ होते हैं। इस प्रकार अभिधा से

वाच्यार्थ, लक्षणा से लक्ष्यार्थ, व्यंजना से व्यंग्यार्थ, की प्रतीति होती है। अत: मम्मट ने तीन शब्द शक्तियों का विवेचन काव्य प्रकाश में किया है।

(१) अभिधा (वाच्यार्थ ज्ञान के लिये)
(२) लक्षणा (लक्ष्यार्थ ज्ञान के लिये)
(३) व्यंजना (व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिये)

महावैयाकरण नागेश ने अपने मञ्जूषा ग्रन्थ में शब्दार्थ बोध के प्रसंग में तीन वृत्तियों को स्वीकार करते हुये लिखा है कि—

"सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यंजना च"

इस प्रकार नागेश ने भी तीन शक्तियों को स्वीकार किया है तो अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन शब्द शक्तियों के स्वरूप क्या-क्या हैं? इसका उत्तर इस प्रकार है।

अभिधा—आचार्य मम्मट ने अभिधा का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि—

"स-मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्य।पारोऽस्याभिधोच्यते"

इस वाक्य का आशय यह है कि वाच्यार्थ को स्पष्ट करने वाली शब्दशक्ति को अभिधा कहते हैं। यह अभिधा का व्यापार मुख्य-व्यापार माना जाता है। इसलिये अभिधा से बोधित अर्थ को मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ तथा अभिधेयार्थ एवं शक्यार्थ कहते हैं। इस प्रकार अभिधावृत्ति से साक्षात् संकेतित अर्थ को धारण करने वाले शब्द को वाचकशब्द कहते हैं। संकेतित अर्थ वह होता है जो श्रोता को सुनने से ही ज्ञात हो जाये इसलिये साक्षात् संकेतित अर्थ को स्पष्ट करने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं। यह संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि—

"संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा"

अर्थात् (१) जाति (२) गुण (३) क्रिया (४) यदृच्छा भेद से संकेतित अर्थ के चार भेद होते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसी भाव को स्पष्ट करते हुये महाभाष्य में लिखा है कि—

"चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्ति:" अर्थात् जातिवाचक गौ: की, गुणवाचक शुक्ल की, क्रियावाचक चल की, यदृच्छवाचक डित्थ की प्रवृत्ति, निवृत्ति जाति, गुण, क्रिया यदृच्छा (अर्थात् संज्ञा) वाचक शब्दों की उपाधि में होती है। पतञ्जलि की 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति:' अनुकरण करते हुये आलंकारिकों ने संकेतित अर्थ के चार भेदों को माना है। इस प्रकार वाचक शब्द के वाच्यार्थ अथवा मुख्यार्थ ज्ञान के लिये अभिधा का आश्रय लिया जाता है अत: अभिधा का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है कि—अभिधावृत्ति के अभाव में वाच्यार्थ भी ज्ञात नहीं होगा। अत: अभिधा के महत्व को सभी विद्वान् मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं।

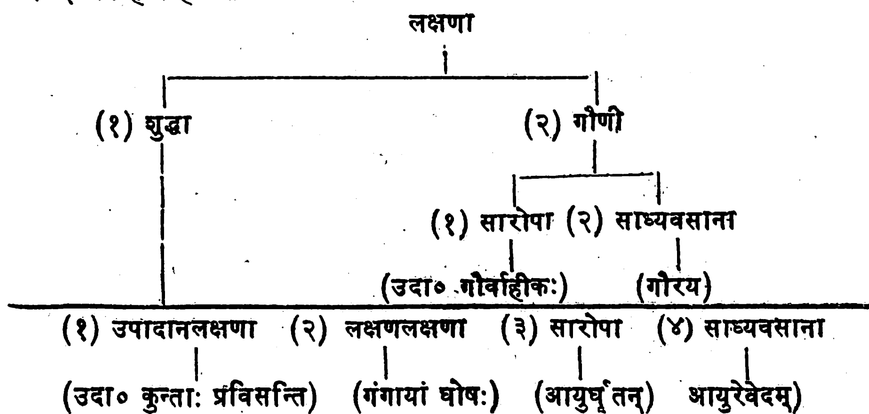
लक्षणा—लक्ष्यार्थ को स्पष्ट करने के लिये लक्षणा का स्वरूप प्रदर्शित करते हुये आचार्य मम्मट ने लिखा है कि—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽर्थप्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते त्सा लक्षणाऽऽयरोपिता क्रिया ॥

इसका आशय यह है कि मुख्यार्थ के बाध अर्थात् असंगत प्रतीत होने पर मुख्यार्थ से यह सम्बन्धित अर्थ में ही लक्षणा होती है अर्थात् लक्षणा मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थ में ही लक्षणार्थ को स्पष्ट करती है। किन्तु यह लक्षणा रूढ़ि अथवा प्रयोजन को मानकर ही प्रवृत्त होती है। जैसे कर्मणि कुशलः में कुशान जाति इस मुख्यार्थ (कुश लाने वाले अर्थ) का बाध दिखाई पड़ रहा है, क्योंकि प्राचीनकाल में कुश लाने वाले को ही कुशल कहा जाता था परन्तु आजकल किसी भी कार्य में निपुण देखकर कुशलोऽय पुरुषः' कहते हैं। अतः कुशल के मुख्यार्थ के बाधित होने पर रूढिवश अर्थात् परम्परा एवं प्रसिद्धि को हेतु मानकर कुशल का लक्षणा द्वारा चातुर अर्थ ग्रहण किया जाता है। अतः इसे रूढा लक्षणा भी कहते हैं। इसी प्रकार प्रयोजनवश होने वाली लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। जैसे 'गंगायां घोषः' में मुख्यार्थ (गंगा का जलधारा रूप अर्थ) के बाधित होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित तट में लक्षणा शीतलता एवं पावनता रूप विशेष प्रयोजन को मानकर होती है। आचार्य मम्मट ने इस लक्षणा के मुख्य दो भेद को (१) शुद्धा, (२) गोणी मानकर पुनः शुद्धा के दो भेद (१) उपादानलक्षणा। (२) लक्षणलक्षणा किया है। इसके बाद इन दोनों के सारोपा और साध्वसाना दो भेद का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार शुद्धालक्षणा के (१) उपादान-लक्षणा (२) लक्षण-लक्षणा (३) सारोपा (४) साध्यवसाना ये चार भेद होते हैं। गौणी के (१) सारोपा (२) साध्यवसाना दो भेद होते हैं। इस प्रकार शुद्धा और गौणी के दो भेदों को मिलाकर मम्मट के मत से लक्षणा के कुल ६ भेद होते हैं। इसीलिये मम्मट ने द्वितीय उल्लास में लक्षणा के भेद प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि 'लक्षणा षड्विधा' इसलिये लक्षणा के ६ भेद होते हैं जैसे—



इस प्रकार लक्षणा का भी महत्व अनुपम है। जिस प्रकार अभिधा के बिना वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। उसी प्रकार लक्ष्यार्थ का ज्ञान लक्षणा के बिना नहीं हो सकता है। अतः लक्षणा का काव्य में गौरव स्पष्ट ही सिद्ध है।

व्यञ्जना—

जिस स्थल पर अभिधा लक्षणा का व्यापार समाप्त हो जाता है। अर्थात् अभिधा लक्षणा के विरत होने पर भी जिस प्रयोजनरूप अर्थ की प्रतीति इष्ट होती है, उस विशेष अर्थ का बोध केवल व्यंजना से ही हो सकता है, क्योंकि व्यंग्यार्थ अथवा प्रयोजन विशेष अर्थ का बोध अभिधा से नहीं हो सकता है क्योंकि शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ संकेतित-अर्थ नहीं है। अभिधा केवल संकेतित अर्थ को स्पष्ट करती है। अतः संकेत-ग्रह के अभाव में अभिधा की प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है इसके अतिरिक्त जिस शीतलता पावनता को प्रयोजन मानकर लक्षणा की जाती है, वह लक्षणा भी शीतलता पावनता रूप अर्थ को नहीं ज्ञात करा सकती है क्योंकि लक्षणा की प्रवृत्ति (१) मुख्यार्थ बाध, (२) मुख्यार्थ योग, (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन रूप तीन कारणों के होंने पर ही होती है, परन्तु गंगायां घोषः में जिस शीतलता पावनता की सिद्धि के लिये तट में लक्षणा की जाती है पुनः शीतलता पावनता की सिद्धि के लिये यदि तट में लक्षणा करें, तो तट अर्थ मुख्यार्थ नहीं है और न तट में मुख्यार्थ की बाधा ही है तथा शीतलता पावनता रूप अर्थ को लक्षणा द्वारा ज्ञात करने के लिये कोई प्रयोजन चाहिये परन्तु इस प्रकार प्रयोजन की मिथ्या कल्पना करने से शास्त्र में अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः शीतलता पावनता रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये व्यञ्जनावृत्ति अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। इसी भाव को आचार्य मम्मट ने निम्नस्थ कारिका में व्यक्त किया है कि—

यस्य प्रतीतिमाधतुं लक्षणासमुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया॥

इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थरूप लोकोत्तर अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त किसी अन्यवृत्ति के द्वारा नहीं हो सकती है।

एक व्यञ्जना के (१) शाब्दी व्यञ्जना, (२) आर्थीव्यञ्जना ये दो भेद होते हैं। शाब्दीव्यञ्जना में शब्द की प्रधानता से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इसीलिये शाब्दीव्यञ्जना में शब्द को हटाकर उनके पर्यायवाची शब्द को रखने से व्यङ्ग्यार्थ समाप्त हो जाता है, अतः शब्द की प्रधानता से होने वाले व्यङ्ग्यार्थ स्थल में शाब्दीव्यञ्जना होती है। सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिः, कर्णार्जुनौ इत्यादि शाब्दीव्यञ्जना के भेद अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण माने जाते हैं। आर्थी व्यञ्जना में अर्थ की प्रधानता से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है तथा आर्थी व्यञ्जना में शब्द को परिवर्तित करके यदि समानार्थक शब्द रखेंगे तो भी व्यङ्ग्यार्थ होगा। अतः शब्द परिवृत्ति सह-व्यंजना को आर्थी-व्यंजना और शब्द परिवृत्ति असहव्यंजना को शाब्दी-व्यंजना कहते हैं। इस शाब्दी-व्यंजना के दो भेद (१) अभिधामूला-व्यंजना,

(२) लक्षणामूला व्यंजना होते हैं। द्वितीय उल्लास के अन्त में अभिधामूला-व्यंजना का स्वरूप प्रतिपादित करते हुये मम्मट ने लिखा है कि—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिवे।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद व्यापृतिरञ्जनम् ॥

अर्थात् (१) संयोग, (२) विप्रयोग, (३) साहचर्य, (४) विरोधिता, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिङ्ग, (८) अन्य शब्द की सन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) व्यक्ति (पुलिङ्ग स्त्रीलिंगादि), (१४) स्वर आदि के कारण अनेकार्थ शब्दों के अर्थ केवल एक अर्थ में नियंत्रित हो जाते हैं फिर भी सहृदयों के हृदय में अन्य अर्थों की प्रतीति होती है वह व्यंजना व्यापार से ही होती है। इसी व्यापार को अभिधामूला व्यंजना कहते हैं।

लक्षणामूलाव्यञ्जना—को अविवक्षितवाच्य भी कहते हैं। लक्षणामूला व्यंजना के अर्थान्तर-सक्रमित तथा अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि नामक दो भेद, होते हैं।

आर्थीव्यञ्जना—(१) वक्ता, (२) बोद्धव्य, (३) काकु, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्य सन्निधि, (७) प्रस्ताव, (८) देश, (९) काल, (१०) चेष्टादि के वैशिष्ट्य से सहृदयों के हृदय अन्य विशेष अर्थ को प्रतीति कराने वाले व्यापार को आर्थीव्यंजना कहते हैं।

इस प्रकार साहित्यशास्त्र में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना को उपाधि अथवा धर्म विशेष माना गया है। वस्तुतः किसी शब्द को वाचक तथा लक्षक और व्यंजक कहना उचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कोई भी शब्द अभिधा के सम्बन्ध से वाचक और लक्षणा के सम्बन्ध से लक्षक तथा व्यंजना के सम्पर्क से व्यञ्जक हो जाता है। इसीलिये शब्द को वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक कहना ठीक नहीं है। यही कारण है कि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को शब्द का स्वाभाविक धर्म व्यंग्य, व्यंजक सम्बन्ध को शब्द का नैमित्तक धर्म कहा है। इसी भाव को मम्मट ने निम्नस्थ पंक्ति से स्पष्ट किया है कि—

"स्याद् वाचको लाक्षणिक· शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।"

अर्थात् मम्मट के मतानुसार अभिधा, लक्षणा, व्यंजना इन तीन शब्द शक्ति रूप उपाधियों के कारण शब्द, वाचक लक्षक व्यंजक हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से अभिधा, लक्षणा के महत्व के साथ-साथ व्यंजना का महत्व काव्याशय समझने के लिये नितान्त उपादेय है क्योंकि ध्वनि प्रस्थापनाचार्य मम्मट ने ध्वनि के (१) वस्तु (२) अलंकार (३) रसध्वनि भेद करते हुये रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रम तथा काव्य का आत्मारस कहा है। अतः शब्द शक्तियों के महत्व में तथा उपयोगिता में संशय का अंश भी नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है। व्यंजना तो काव्य का प्राण ही है।

प्रश्न १३—अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद की समीक्षा करते हुये मम्मट के मतानुसार व्यञ्जना की अनिवार्यता स्पष्ट कीजिये ।

Illustrating 'अभिहितान्वयवाद and अन्विताभिधानवाद, prove the essentiality of व्यञ्जना' according to Mammat.

उत्तर—ग्रन्थकार को व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिये व्यंजना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार सम्भव प्रतीत नहीं होता है। अतः व्यंजना को स्वीकार करके (१) लक्षणामूला-व्यंजना (२) अभिधामूला-व्यंजना। यह दो भेद करते हुये लक्षणामूला-व्यंजना के भी (१) अर्थान्तरसंक्रमित (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इन दो भेदों का निरूपण किया है तथा अभिधामूला-ध्वनि के (१) असंलक्ष्यक्रम और (२) संलक्ष्यक्रम ये भेद प्रदर्शित करके असंलक्ष्यक्रम को रसादि-ध्वनि से अभिहित किया है। इसके अतिरिक्त असलक्ष्यक्रम-ध्वनि के (१) शब्दशक्त्युत्थ, (२) अर्थशक्त्युत्थ, (६) उभय-शक्त्युत्थ ये तीन भेद किये गये हैं। शब्दशक्त्युत्थ अर्थात् अभिधामूला व्यञ्जना के प्रसंग से अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थों का संयोगादि से एक अर्थ में नियन्त्रित करने पर भी अन्य विशेष अर्थ की प्रतीत होती है। वह प्रतीति व्यंजना के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार से सम्भव नहीं है। अतः व्यंजना मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि के बोध के लिये व्यंजना की आवश्यकता अनिवार्य है।

अर्थशक्त्युत्थ व्यंग्य में प्रथम वाच्यार्थ की उपस्थिति होती है। तदनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अर्थशक्ति अर्थात् अभिधा से उत्पन्न वाच्यार्थ से उक्त अर्थात् समुद्भूत व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने के कारण इस ध्वनि को अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि कहते हैं। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वाच्यार्थ का बोध कैसे होता है तथा वाच्यार्थ प्रतिपादक मत कौन-कौन से हैं तथा वाच्यार्थ बोध की प्रक्रिया क्या है ?

यद्यपि अर्थ विचार सम्बन्धी विवेचन, व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि अनेक शास्त्रों में प्राप्त होता है किन्तु मीमांसकों का अर्थ-विचार ही प्रधान माना जाता है इसीलिये मीमांसकों को वाक्यज्ञ के नाम से अभिहित करते हैं। मीमांसकों के भी दो सिद्धान्त (१) अभिहितान्वयवाद, (२) अन्विताभिधानवाद प्रसिद्ध हैं। (१) अभिहितान्वयवाद के प्रवर्त्तक कुमारिलभट्ट को तथा (२) अन्विताभिधानवाद के प्रवर्त्तक प्रभाकर गुरु को माना जाता है—अभिहितान्वयवाद—आचार्य मम्मट ने कुमारिल भट्ट के मत का प्रदर्शन करते हुए सिद्ध किया है कि जब वाक्यार्थ बोध ही इनके मत से अभिधा से नहीं हो सकता है, उसके लिये भी तात्पर्यावृत्ति को स्वीकार करते हैं तो फिर व्यंग्यार्थ की प्रतीति तो कभी भी अभिधा से नहीं हो सकती है, उस व्यंग्यार्थ के लिये व्यंजना अवश्य माननी होगी। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि—

"अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे: संकेतः कर्तुं न युज्यत इति सामांयरूपाणां पदार्थानामाकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावशात्परस्पर-संसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेष रूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्याभिधेयतायाम्।"

इसका आशय यह है कि जब अभिहितान्वयवाद के मत से वाच्यार्थ की भी प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती तथा उसके भी एक अभिधा से पृथक् तात्पर्यावृत्ति माननी पड़ती है, तो फिर अभिहितान्वयवाद के मत से व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त कैसे हो सकती है। अतः व्यंग्यार्थ के लिये अभिहितान्वयवादियों को भी व्यञ्जना स्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार यह निश्चित है कि मीमांसक कुमारिलभट्ट के मतानुयायियों के लिये व्यंग्यार्थ बोध के लिये व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है।

अन्विताभिधानवाद के मत में व्यञ्जना—

इस मत के प्रवर्त्तक प्रभाकर गुरु हैं। आपके मत से अभिधावृत्ति से ही अन्वित पदार्थों की उपस्थिति होती है इसीलिये अभिहितान्वयवाद के मत से वाक्यार्थ बोध के लिये अभिधा से उत्पन्न पदार्थों के अर्थ को अन्तिम पद से जोड़ने के लिये तात्पर्यावृत्ति की मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि तात्पर्यावृत्ति विरोधी प्रभाकर के मत से भी अभिधावृत्ति से अन्वित अर्थात् संकेतित अर्थ की ही उपस्थिति होती है। किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ की उपस्थिति नहीं हो सकती है, क्योंकि एक ही शब्द का अनेक शब्दों के साथ भिन्न-भिन्न रूप में प्रयोग होता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने अन्विताभिधान वादियों के शब्दबोध का उपपादन निम्नस्थ दो कारिकाओं का उद्भृतकर किया है कि—

शब्दवृद्धाभिधयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥
अन्यथानुपपत्त्यातु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम।
अर्थापत्यावबोधेन सम्बन्ध त्रिमाणकम् ॥२॥

इन दोनों कारिकाओं के द्वारा स्पष्ट किया है कि (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान तथा (३) अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणों से शब्दबोध होता है। अर्थात् संकेत ग्रह में इन तीन प्रमाणों का उपयोग होता है।

(१) प्रत्यक्ष व्यवहार में बालक उत्तम-वृद्ध की आज्ञा से मध्यम वृद्ध द्वारा किये जाने वाले आनयन आदि कर्मों से प्रत्यक्ष संकेतग्रह का ज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् अपनी इन्द्रियों से वाक्य को सुनता है और दोनों को देखता है।

(२) **अनुमान**—बालक उत्तमवृद्ध के वाक्यों को सुनकर मध्यम-वृद्ध के द्वारा आचरित गवानयनादि कर्मों से अनुमान करता है कि गाम् आनय, गाम् बधान:, जलम् आनय इत्यादि वाक्यों में बार-बार आनय पद के श्रवण से आनयन रूप कार्य और गाम् से सास्नादिमत् पशु विशेष का अनुमान करता है।

(३) **अर्थापत्ति**—शब्दबोध में सहायक प्रमाण को अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है अर्थात् अनुपद्यमान अर्थ को देखकर उसकी संगति करने वाले अर्थ की

कल्पना करने को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे "पीनो देवदत्त, दिवा न भुक्ते" इस वाक्य को सुनकर असंगत अर्थ की उपस्थिति होती है कि देवदत्तः दिन में नहीं खाता है और मोटा हो रहा है। जो दिन में नहीं खाता वह मोटा नहीं हो सकता परन्तु मोटा हो रहा है। इस अनुपद्यमान अर्थ की उपस्थिति से स्पष्ट होता है कि दिन में न खाने वाला मोटा नहीं हो सकता है। अतः मोटेपन की अन्यथा अर्थात् रात्रि भोजन के बिना प्रतीति असम्भव होने से अन्यथानुपपत्ति से उत्पन्न अर्थापत्ति प्रमाण ही से रात्रि भोज की प्रतीति होती है। गाम् आनय आदि प्रयोगों और उनके अर्थों के वाच्यवाचक सम्बन्ध का ग्रहण अर्थापत्ति प्रमाण से ही होता है। यद्यपि बालक इन तीनों प्रमाणों को नहीं जानता है तथापि ये तीनों प्रमाण उसके ज्ञान के सहायक होते हैं।

अतः चैत्र ? गाम् आनयः देवदत्तः ! अश्वमानय, देवदत्त ! गाम् नय इस प्रकार वाक्यों के व्यवहारों से बालक तत् तत् अर्थों का निश्चय करता है इससे स्पष्ट है कि अन्वयव्यतिरेक से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति करने में समर्थ वाक्य ही प्रयोग के योग्य है अतः वाक्यः के अन्तर्गत आये हुये अन्वितपदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेतग्रह होता है अर्थात् केवल अनन्वित पदार्थों के साथ संकेतग्रह नहीं होता है। इसी आशय से मम्मट ने "विशिष्टा एवं पदार्थाः वाक्यार्थः" लिखकर अन्विताभिधान मत को स्पष्ट किया है कि अन्वय-विशिष्ट परस्पर अन्वित पदार्थ वाक्यार्थ है। यही अन्विताभिधानवादियों का आशय है। आचार्य मम्मट का मत है कि अन्विताभिधान से अन्तिम पदार्थों की उपस्थिति भले ही हो जाए परन्तु सम्बन्ध विशेष की उपस्थिति नहीं हो सकती है, उसके लिये अभिहितान्वय-वादियों की तात्पर्या-वृत्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रकार एक वाच्यार्थ की उपस्थिति अभिधा से नहीं हो सकती है, तो फिर निःशेष च्यूत आदि में निधिरूप व्यंग्य की प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त कैसे होगी। अतः अन्विताभिधान-वादियों को भी व्यंग्य के लिये व्यंजना स्वीकार करनी होगी। अर्थात् जब वाच्यार्थ रूप वाक्यार्थ बोध के लिये अभिधा के अतिरिक्त तात्पर्या-वृत्ति माननी पड़ती है तब व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना का स्वीकार करना अनिवार्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधान-वाद इन दोनों के मत से वाक्यार्थ ज्ञान के अन्तर जो अनव्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, वह किस व्यापार से होता है। उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही हो सकती है। अतः व्यंग्यार्थ बोध के लिये दोनों के मत से भी व्यञ्जना की मान्यता अनिवार्य हो जाती है।

प्रश्न १४—मम्मट के मतानुसार लक्षणा के भेदों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

सारोपा और साध्यवसाना का अंतर स्पष्ट करते हुये लक्षणा के भेदों का

वर्गीकरण कीजिये। (आगरा वि० वि० ५१, ५६, ५७, ६२, ६६, ६५, ६६)
मेरठ वि० वि० ६९, ७०, ७९)

Explain and illustrate—लक्षणा तेन षड्विधा।

उत्तर—शब्द के अर्थ ज्ञान के लिये अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना नामक तीन शब्द-शक्तियों को स्वीकार किया है। शब्द के मुख्यार्थ बोध के लिये मूल कारण रूप अभिधा को शब्दशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। लक्ष्यार्थ बोध के लिये लक्षणा स्वीकार की गई है। अभिधा तथा लक्षणा को प्रायः वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक एवं अन्य दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है परन्तु व्यञ्जनाशक्ति की कल्पना आलंकारिकों की अपनी कल्पना है ब्राह्मणग्रन्थों में भी लक्षणा का स्वरूप प्राप्त होता है। मीमांसा तथा न्यायदर्शनों में भी लक्षणा का वर्णन प्राप्त होता है। महाभाष्यकार-पतञ्जलि ने महाभाष्य में तादात्म्य सम्बन्ध के चार भेदों का विवेचन किया है।

(१) ताटस्थ्य (मञ्चाः क्रोशन्ति) (२) तादधर्म्य (ब्रह्मदत्तः जटी)
(३) तत्सामीप्य (गंगायां घोषः) (४) तत्साहचर्य (कुन्ताः प्रविशन्ति)

इसी प्रकार महाभाष्यादि-व्याकरण ग्रन्थों से आलंकारिकों ने संकेत ग्रहण करके लक्षणा का स्वरूप वर्णित किया है। इसलिये आचार्य मम्मट ने लक्षणा के सम्मिलित तीन हेतुओं का कथन करते हुये लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट किया है अर्थात् रूढि अथवा प्रयोजनवश, मुख्यार्थ बोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थ में जो व्यापार होता है उसे लक्षणा कहते हैं तथा लक्षणाजन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। मम्मट ने द्वितीय उल्लास में लक्षणा का स्वरूप प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽर्थप्रयोजनात्।
अन्याऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥

इस कारिका का आशय यह है कि जब अभिधाशक्ति के द्वारा (१) मुख्यार्थ प्रतीति में बाधा एवं असंगति उत्पन्न होने पर तथा (२) मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थ ग्रहण करने पर रूढि अथवा प्रयोजन को कारण मानकर जिस व्यापार का आश्रय ग्रहण किया जाता है उसे लक्षणा कहते हैं।

इस प्रकार रूढि और प्रयोजनवश लक्षण के मुख्य दो भेद होते हैं।
(१) रूढि लक्षणा। (२) प्रयोजनवती लक्षणा।

रूढि लक्षणा—के उदाहरण 'कर्मणि कुशलः" दिया है। इस वाक्य में कुशल शब्द का कुशान् जाति अर्थात् कुशों को लाने वाला अर्थ व्युत्पत्ति से ज्ञात होता है किन्तु इस वाक्य में कुशल का मुख्यार्थ बाधित हो रहा है। अतः रूढिवश कुशल का लक्षणा द्वारा "चतुर" अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार कुशल का लक्ष्यार्थ "चतुर" ग्रहण किया जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण "गंगायां घोषः" है। यहाँ पर गंगा शब्द

का मुख्यार्थ जल की धारारूप मुख्यार्थ है किन्तु जलप्रवाह में घोष की स्थिति सम्भव नहीं है। अत: मुख्यार्थ के बाधित होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित तटरूप अर्थ में शीतलता, पावनता रूप प्रयोजन मानकर लक्षणा की जाती है अर्थात् शीतलता, पावनता रूप प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिये लक्षणा से मुख्यार्थ बाध होने पर लक्ष्यार्थ तट की प्रतीति होती है। मम्मटाचार्य ने लक्षणा के उपर्युक्त व्यापार को आरोपित व्यापार कहा है क्योंकि अभिधा का व्यापार को स्वाभाविक अर्थ को स्पष्ट करने वाला होने के कारण अभिधा के व्यापार को स्वाभाविक व्यापार तथा अभिधा को स्वाभाविक शब्दशक्ति कहते हैं। इसलिये शब्द का वाच्य-वाचक सम्बन्ध स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु लक्षणा का स्वाभाविक धर्म न होकर आरोपित धर्म होता है। क्योंकि मुख्यार्थ बाध होने पर स्वाभाविक सम्बन्ध स्वयं बाधित हो जाता है। अत: बुद्धि के द्वारा आरोपित व्यापार की कल्पना करके लक्ष्यार्थ लक्षित होता है। इसी आशय से लक्षणा का स्वरूप प्रतिपादन करते हुये मम्मट ने 'लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया' लिखा है।

सुलक्षणा के भेद—लक्षणा के मुख्य दो भेद (१) शुद्धा तथा (२) गौणी माने जाते हैं। शुद्धा के (१) उपादान-लक्षणा तथा (२) लक्षण-लक्षणा ये दो भेद होते हैं। इसीलिये उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिये निम्नस्थ कारिका को मम्मट ने अवतरित किया है—

स्वसिद्धये पराक्षेप:, पदार्थं स्वसमर्पणम् ।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव साद्विधा ॥

(१) उपादान-लक्षणा—उपादान लक्षणा शब्द के आशय को स्पष्ट करने के लिये अन्य शब्द का आक्षेप करती है जैसे 'कुन्ता: प्रविशन्ति' इत्यादि वाक्यों में अभिधाजन्य अर्थ के बाधित होने पर कुन्तधारी पुरुष का आक्षेप किया जाता है। इस प्रकार जड़ कुन्त की प्रवेश सिद्धि के लिये पुरुष का आक्षेप करने के साथ कुन्त की सत्ता भी बनी रहती है। इसीलिये इसको उपादान-लक्षणा कहते हैं।

(२) लक्षण-लक्षणा—का स्वरूप स्पष्ट करते हुये मम्मट ने "परार्थ स्वसमर्पण" लिखा है अर्थात् जो शब्द अन्य अर्थ की सिद्ध के लिये अपने को समर्पण कर दे तो वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है जैसे "गंगायां घोष" में गंगा शब्द घोष की सिद्धि के लिये अपने जलधारा रूप अर्थ को समर्पित करके तट को लक्षित करता है। ऐसे स्थलों पर लक्षण-लक्षणा होती है। अत: मुख्यार्थ बाध के होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित तट को लक्षित करके शीतलता, पावनता रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये गंगा पद जलधारारूप अर्थ को अर्पित कर देता है। इस व्यापार को लक्षण-लक्षणा कहते हैं।

सारोपा और साध्यवसाना—आचार्य मम्मट के उपादान तथा लक्षण-लक्षणा

का प्रतिपादन करने के अनन्तर शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के क्रमशः दो भेद सारोपा और साध्यवसाना किया है। इस प्रकार शुद्धा के चार तथा गौणी के दो भेद मिलकर लक्षणा के ६ भेद होते हैं।

सारोपालक्षणा—जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोपविषय (उपमेय) दोनों का शब्द से कथन किया गया हो तथा समानाधिकरण से निर्दिष्ट हो रहे हों तो वहाँ सारोपालक्षणा होती है। इसी भाव को निम्न पंक्ति के माध्यम से व्यक्त किया गया है—

"सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा"

साध्यवसाना लक्षणा—जहाँ पर आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा आरोप विषय अर्थात् उपमेय को निगीर्ण (अन्तर्भाव) कर लिया जाय, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। अथवा जिस स्थल में उपमेय का शब्द से कथन न किया गया हो केवल आरोप्यमाण उपमान का ही कथन किया गया हो तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। मम्मट की निम्नस्थ पंक्ति से साध्यवसाना का स्वरूप स्पष्ट हो रहा है कि—

"विषयन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका"

इसके अतिरिक्त ये दोनों सारोपा तथा साध्यवसाना भेद सादृश्य तथा सादृश्य को छोड़कर अन्य प्रसंग से प्रस्फुटित होते हैं तो क्रमशः गौणी और शुद्धालक्षणा होते हैं। जैसा कि मम्मट ने लिखा है कि—

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा गौणी शुद्धौ च विज्ञेयो।

इसका आशय है कि सारोपा और साध्यवसाना इन दोनों के भेद सादृश्य से गौणी तथा अन्य कार्य कारणादिभाव रूप सम्बन्धों के होने पर शुद्धा लक्षणा होती है। अतः सारोपा और साध्यवसाना के दो-दो भेद होकर चार भेद होते हैं। उनके नाम इस प्रकार समझने चाहियें।

(१) गौणीसारोपा, (२) गौणीसाध्यवसाना, (३) शुद्धासारोपा, (४) शुद्ध साध्यवसाना।

(३) **गौणीसारोपा**—आचार्य मम्मट ने गौणी सारोपा का उदाहरण "गोर्वाहीकः" दिया है। गो गत (बैल गत) अर्थ के साथ वाहीक के अर्थ का अभेद सम्बन्ध नहीं बन रहा है क्योंकि गो वाहीक दोनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। परन्तु लक्षणा के द्वारा जो मत जड़ता मन्दरा आदि गुणों का वाहीक (देश विशेष में) में आरोप करने पर दोनों के जाड्य मान्द्य, आदि गुणों की अभेदता सादृश्य सम्बन्ध से लक्षित होती है अर्थात् गोगत जड़ता, मन्दता आदि गुण वाहीक में अभेद प्रतीति सम्बन्ध से लक्षित होते हैं। गुणों की अभिन्नता से गौर्वाहीकः में अभेद प्रतीति होने के कारण इस लक्षण

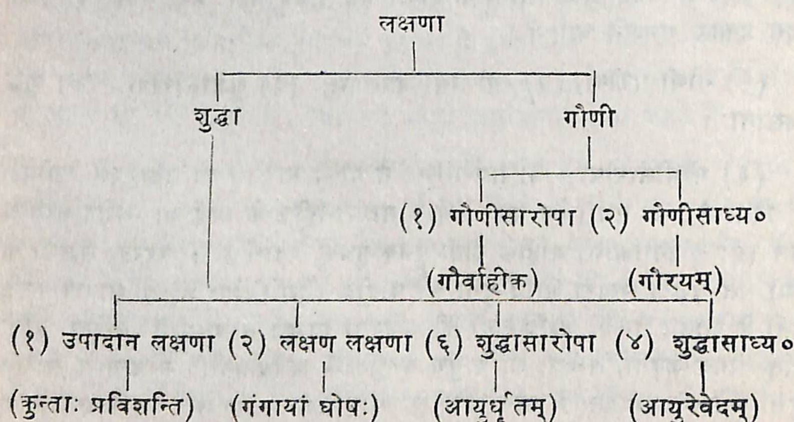
का नाम अन्वर्थक प्रतीत होता है। अत: गौणी सारोपा लक्षणा यह नाम उचित ही है।

(४) **गौणीसाध्यवसाना**—आचार्य मम्मट ने गौणीसाध्यवसाना का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये गौरय लिखा हैं। इस उदाहरण में आरोपविषय अर्थात् उपमेय का शब्दत: कथन नहीं किया गया है आरोप्यमाण उपमान गो के द्वारा उपमेय वाहीक अन्तर्भाव कर लिया गया है। अत: इसे गौणी साध्यवसाना-लक्षणा का उदाहरण समझना चाहिये।

(५) **शुद्धासारोपा**—मम्मटाचार्य ने शुद्धासारोपा का उदाहरण "आयुघृतम्" दिया है। इस उदाहरण में उपमान "आयु" तथा उपमेय 'घृत' दोनों का शब्द से कथन किया गया है तथा सादृश्य सम्बन्ध के अतिरिक्त कार्य-कारण सम्बन्ध से उपमान आयु तथा उपमेय का शब्द से कथन होने के कारण यहाँ शुद्धा सारोपा लक्षणा समझनी चाहिये। इसलिये कार्य-कारण सम्बन्ध से शुद्धा सारोपा लक्षणा के द्वारा दोनों में (आयु और घृत में) एकता की प्रतीति होती है।

(६) **शुद्धासाध्यवसाना**—ग्रन्थकार ने शुद्धासाध्यवसाना का उदाहरण "आयुरेवेदम्" लिखा है, यहाँ आरोप्यमाण उपमान आयु का शब्द से कथन किया गया है किन्तु आरोप विषय घृत का शब्द से कथन नहीं किया गया है। अर्थात् विषयी (उपमान) आयु ने विषय (उपमेय) घृत का कवल कर दिया है अथवा अपने में अन्तर्भाव कर लिया है अत: यहाँ शुद्धासाध्यवसान होती हैं।

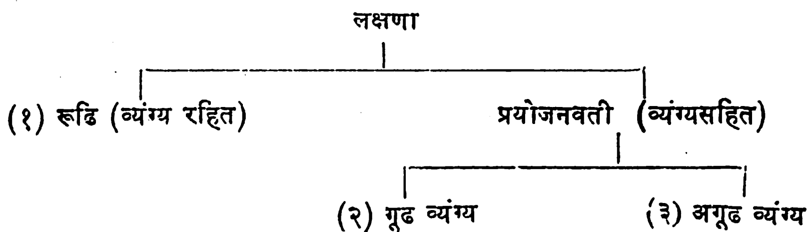
इस प्रकार 'लक्षणा तेन षड्विधा'' इस कथन के अनुसार मम्मट के मतानुसार लक्षणा के ६ भेदों का निरूपण किया है। लक्षणा के इन भेदों को निम्नस्थचक्र से समझा जा सकता है।



इस प्रकार आचार्य मम्मट ने लक्षणा के ६ भेद प्रतिपादित करने के अनन्तर

रूढि और प्रयोजन भेद के लक्षणा का वर्गीकरण किया है। अतः लक्षणा के (१) रूढि (२) प्रयोजन के दो भेद होते हैं। रूढि लक्षणा व्यंग्यरहित होता है तथा प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य सहित होती है। पुनश्च प्रयोजनवती लक्षण के दो भेद होते हैं (१) गूढव्यंग्य (२) अगूढव्यंग्य। इस प्रकार यह लक्षणा तीन प्रकार की होती है जैसे कि मम्मट ने लिखा भी है कि—

"तदेषा कथिता त्रिया"



आचार्य मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के ६ भेद करते हुये प्रयोजन को व्यंग्य माना है उन ६ भेदों के (लक्षणा के) प्रत्येक के (१) गूढव्यंग्य (२) अगूढ व्यंग्य ये दो-दो भेद होते हैं। इस प्रकार कुल १२ भेद होते हैं अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा के प्रथम ६ भेद और गूढ व्यंग्य और अगूढ व्यंग्य भेद से १२ भेद होते हैं। रूढि लक्षणा को मिलाकर लक्षणा के कुल १३ भेद होते हैं। अतः मम्मट के मतानुसार लक्षणा के १३ भेद होते हैं।

प्रश्न १५—व्यञ्जना सम्बन्धी मम्मट का आशय स्पष्ट कीजिये।

(आगरा वि० वि० १९५३, ६६, ८०)

Discuss Mammata's view about the concept and importance of व्यञ्जना।

उत्तर—आचार्य मम्मट ने शब्द के वाचक, लक्षक, तथा व्यञ्जक भेद करते हुए क्रमशः अर्थ के वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य भेद किये हैं। वाच्य-अर्थ का अभिधा से और लक्ष्यार्थ का लक्षणा से बोध होता है। तथा वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से विलक्षण-अर्थ-विशेषण का ज्ञान किस से होता है। इस विलक्षण अर्थ का बोध कराने वाली व्यञ्जना ही है। इस विलक्षण अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं तथा व्यंग्यार्थबोधक शब्द को व्यञ्जक शब्द कहते हैं और वह शब्दशक्ति जिससे व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है उसे व्यञ्जना कहते हैं। इस व्यंग्यार्थ को ही आनन्दवर्द्धन ने ध्वनिशब्द से अभिहित किया है तथा काव्य की आत्मा ध्वनि हैं यह मानते हुये लिखा है कि "ध्वनिरात्माकाव्यस्य"। इसीलिये मम्मट ने प्रथमोल्लास में उत्तम का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि **"इदमुत्तममतिशायिनिव्यंग्येवाच्यादध्वनिर्वुधैः कथितः"** इस से स्पष्ट है कि उत्तम-काव्य वही होता है जिसमें व्यंग्यार्थ की विशेषता परिलक्षित हो रही हो। अतः

व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिये व्यञ्जना प्रतीति के लिये व्यञ्जना का महत्व स्वयं सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त ध्वनि के मुख्य (१) वस्तु-ध्वनि, (२) अलंकारध्वनि, (६) रसध्वनि भेद करने से ध्वनि का महत्व विशेष बढ़ जाता है। मम्मट ने रसध्वनि को असंलक्ष्य-क्रम तथा रस माना है। अत: काव्य की आत्मा ध्वनि अर्थात् रसध्वनि अथवा रस को व्यञ्जित करने वाली व्यञ्जना का महत्व शब्दशक्तियों में सर्वोपरि स्वयं सिद्ध एवं स्पष्ट है।

गंगायां घोष: इस वाक्य का अभिधा से गंगा अर्थात् जलधर में घोष अर्थात् बस्ती अर्थ होता है किन्तु अभिधाजन्य अर्थ व्यवहार से बाधित होने पर शीतलता, पावनता रूप विशेष प्रयोज रूप-अर्थ को कारण मानकर मुख्यार्थ से सम्बन्धित तट में लक्षणा होती है अर्थात् लक्षणा से गंगातट में बस्ती यह अर्थ होता है। लक्षणा से तट का बोध होता है। अत: तट लक्ष्यार्थ माना जाता है। इस प्रकार लक्षणा के द्वारा तट अर्थ की प्रतीति होने पर शीतलता पावनता-रूप विशेष अर्थ की प्रतीति जिस शब्दशक्ति से होती है उसे व्यञ्जना कहते हैं तथा शीतलता, पावनता रूप विशेष अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने व्यंग्यार्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में अपने भावों को इस प्रकार व्यक्त किया है कि अभिधा से व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है क्योंकि शीतलता पावनता रूप व्यंग्यार्थ संकेतित अर्थ नहीं है अर्थात् शीतलता पावनता अर्थ में संकेतग्रह नहीं है। अत: संकेतशक्ति के अभाव में अभिधा प्रवृत्त नहीं हो सकती है तथा लक्षणा भी मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के अभाव में शीतलता पावनता रूप अर्थ को नहीं "बोध:" करा सकती है क्योंकि तट न तो मुख्यार्थ ही है और न तो "गंगातटे घोष:" इस तट लक्ष्यार्थ में बाधा ही है क्योंकि तट में बस्ती होती ही है तथा शीतलता पावनता रूप अर्थ को लक्षणा से सिद्ध करने के लिये रूढि अथवा प्रयोजन की कल्पना करनी होगी तो वह प्रयोजन क्या है जिसको मानकर लक्षणा से शीतलता पावनता का बोध किया जा सके। इस प्रश्न का यही उत्तर है कि कोई प्रयोजन नहीं है। अत: कारणों के अभाव में कोई कार्य नहीं होता है। यह व्यवहार से सिद्ध है तो शीतलता पावनता की प्रतीति कारणों के अभाव से लक्षणा से भी नहीं हो सकता है। इसीलिये आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास में लिखा है कि—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥

इसका भाव यह है कि जिस शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ की सिद्धि के लिये लक्षणा का आश्रय लेकर गंगायांघोष: का "गंगातटे घोष:" इस अर्थ की प्रतीति की जाती है परन्तु उस शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ की प्रतीति अभिधा: लक्षणा, तथा अनुमान आदि किसी अन्य व्यापार से नही हो सकती है। अत: शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ को प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त किसी व्यापार से नहीं होती है। शीतलता पावनता का बोध केवल व्यञ्जना से ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई शंका करे कि शीतलता पावनता रूप अर्थ का बोध अभिधा से ही जायेगा, व्यञ्जना मानने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि 'नाभिधासमथाभावात्' अर्थात् गंगायां-घोष: में शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है क्योंकि शीतलता पावनता रूप अर्थ संकेतित अर्थ नहीं है। अभिधा केवल संकेतित अर्थ को ही बताती है। अत: संकेत-शक्ति का अभाव होने के कारण अभिधा शीतलता पावन रूप विशेष अर्थ को स्पष्ट नहीं कर सकती है।

यदि यह कहा जाय कि शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ का बोध लक्षणा द्वारा हो जायेगा तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि गंगायां घोष: में लक्षणा से तट लक्ष्यार्थ की प्रतीति होने पर तट लक्ष्यार्थ में कोई अर्थ में बाधा नहीं है क्योंकि तट में बस्ती हो ही सकती है तथा प्रथम तट मुख्यार्थ नहीं है। और कोई बाधा भी नहीं है और शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ को लक्षित करने का कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार लक्षणा के तीन कारणों के अभाव में लक्षणा की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। इस भाव को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने लिखा है 'हेत्वभावान्नलक्षणा' अर्थात् उक्त लक्षणा के तीन कारणों के अभाव में लक्षणा की प्रवृत्ति न होने से शीतलता पावनता की प्रतीति लक्षणा से नहीं हो सकती है।

यदि शीतलता पावनता रूप अर्थ को लक्ष्यार्थ मानकर किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करली जाये तो अनवस्था दोष की आपत्ति उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि शीतलता पावनता रूप प्रयोजन अर्थ की लक्षणा द्वारा प्रतिपादित करने के लिये अन्य प्रयोजन स्वीकार करना होगा। पुनश्च अन्य प्रयोजन का क्या प्रयोजन होगा और उस प्रयोजन का भी प्रयोजन क्या होगा। इस प्रकार अनन्त प्रयोजन को स्वीकार करना होगा। जिससे शास्त्र में अनावस्था दोष हो जायेगा जिससे प्रतिपाद्य विषय ही समाप्त हो जायेगा। इसी आशय को व्यक्त करते हुए मम्मट ने लिखा है कि 'एवमप्यवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी।'

इसके अतिरिक्त यदि शीतलता पावनता को लक्ष्यार्थ मान लें तो लक्ष्यार्थ मनाने के लिये 'गंगायां घोष:' के गंगा शब्द के समान बस्ती धारणा की सामर्थ्य-हीनता होनी चाहिये अर्थात् गंगा शब्द स्वयं बस्ती को धारण करने में समर्थ होने पर लक्षणा का आश्रय लेकर तट को लक्षित करता है किन्तु लक्षणा द्वारा गंगातटे घोष: यह अर्थ प्रतीत होने पर तट लक्ष्यार्थ गंगा शब्द के समान बस्ती धारण करने में असमर्थ नहीं है तो फिर शीतलता पावनता रूप अर्थ को तट की तरह लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता है। इसी भाव को मम्मट से निम्नस्थ कारिका में व्यक्त किया है कि—

'लक्ष्यं न मुख्य नाप्यत्र बाधो योग: फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् च शब्द: स्खलद् गति: ॥'

अत: लक्षणा से शीतलता पावनता की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि त मुख्य नहीं है और न तट में बाधा ही है तथा शीतलता पावनता को लक्ष्यार्थ मान का प्रयोजन नहीं है और गंगा शब्द की तरह तट बस्ती को धारण करने में असम नहीं है। इस प्रकार शीतलता पावनता की प्रीतीति के लिये व्यञ्जना अवश्य मानन पड़ेगी ।

यदि यह कहा जाये कि शीतलता पावनता रूप विशिष्ट तट में लक्षणा क ली जाये तो व्यञ्जना मानने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस प्रश्न का सम धान करने के लिये मम्मट ने निम्न कारिका का अवतरण किया है कि—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।
ज्ञानस्यविषयोह्यन्य: फलमन्यदुदाहृतम् ॥

इसका आशय यह है कि शीतलता पावनता रूप विशिष्ट तट में लक्ष नहीं हो सकती है क्योंकि ज्ञान का विषय पृथक् और ज्ञान का फल पृथक् होता है गंगायां घोष: में लक्षणा से उत्पन्न लक्ष्यार्थ तट ज्ञान का विषय है और लक्ष्यार्थ ज्ञा का फल शीतलता, पावनता है। ये दोनों तट लक्ष्यार्थ और प्रयोजन अर्थात् शीतल पावनता रूप फल एक साथ एकत्रित नहीं हो सकते हैं क्योंकि विषय और फल कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। इस प्रकार शीतलता, पावनता विशिष्ट तट में लक्ष नहीं हो सकती है। इसका कारण ज्ञान का विषय तट और फल का विषय शीतलत पावनता दोनों पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं है। अत: शीतलता पावनता की प्रती केवल व्यञ्जना व्यापार से ही हो सकती है। परिणामस्वरूप प्रयोजन रूप वि अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना अवश्य माननी पड़ेगी ।

इस प्रकार केवल व्यञ्जना शक्ति ही व्यंग्यार्थ बोध करा सकती है। व्यंजना शक्ति के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) अभिधामूलाव्यंजना ।
(२) लक्षणामूलाव्यंजना ।

लक्षणामूलाव्यंजना—यद्यपि अभिधाशक्ति के समान ही अभिधामूलाव्यंज का प्रथम विवेचन करना चाहिये था और लक्षणामूला का तदन्तर करना चा था। परन्तु आचार्य मम्मट ने व्यजना प्रतिपादन से पूर्व ही लक्षणामूला व्यञ्जना संकेत गगायां घोष: में शीतलता, पावनता मानकर किया है। इससे यह ज्ञात हो है कि मम्मट ने व्यञ्जना का प्रथम भेद (१) लक्षणामूला और द्वितीय भेद (अभिधामूला व्यञ्जना माना है क्योंकि व्यञ्जना को सिद्धि लक्षणा के रहस्य स्पष्ट किये बिना नहीं हो सकती है। अत: गंगायां घोष: को लक्षणामूलाव्यञ्जना

उदाहरण मान सकते हैं। शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ की प्रतीति लक्षणामूला व्यंजना से ही होती है।

अभिधामूला व्यंजना—

जिस व्यंग्यार्थ के मूल में अभिघा हो तो वहाँ अभिधा मूला व्यञ्जना होती है अर्थात् अनेकार्थक हरि, राम, सैन्धव, अर्जुन आदि शब्द के अनेकार्थ एक अर्थ में अभिघा द्वारा प्रकरणादि से नियन्त्रित हो जाते हैं फिर भी एक ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण होता है। इस विलक्षण अर्थ की प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जना से ही होती है। अत: अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ संयोगादिवश अभिघा से एक अर्थ में नियन्त्रित होने पर भी विशेष अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह अभिधामूला व्यञ्जना से ही होती है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे संयोगादि क्या हैं जिनके कारण अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ एक अर्थ में अभिघा द्वारा नियन्त्रित हो जाते हैं। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये मम्मट ने भर्तृहरि द्वारा विरचित वाक्यपदीय से निम्नस्थ कारिकाओं को अवतरित किया है।

संयोगोविप्रयोगाश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरण लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालोव्यक्तिः स्वरादयः॥
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इस प्रकार कारिकाओं में वर्णित १४ कारणों से अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ अभिघा द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित होते हैं फिर भी जो विलक्षण अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधामूला व्यञ्जना से होती है। इस प्रकार व्यञ्जना का महत्व साहित्य में शरीरस्थ प्राण के समान माना जाता है। अतएव मम्मट ने व्यंग्यार्थ रहित काव्य को अधम तथा ध्वनि प्रधान को उत्तमकाव्य कहा है। ●

प्रश्न १६—व्यंजना के भेद प्रदर्शित करते हुये अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण प्रस्तुत कीजिये।

अथवा

लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट करते हुये अभिधामूला व्यंजना की सोदाहरण समीक्षा प्रस्तुत कीजिये।

Discuss 'अभिधामूला व्यंजना' with its kinds. (१९७४, ७७)

उत्तर—शीतलता, पावनता रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है क्योंकि शीतलता, पावनता रूप विशेष अर्थ संकेतित अर्थ नहीं है। अत: संकेतग्रह के अभाव में अभिघा नहीं प्रवृत्त होती है। इसके अतिरिक्त गंगायां घोषः में जिस शीतलता पावनता की प्रतीति के लिये लक्षणा की जाती है, उस शीतलता,

पावनता की प्रतीति लक्षणा से नहीं हो सकती है, क्योंकि लक्ष्यार्थ तट मुख्य नहीं है और लक्ष्यार्थ तट में कोई बाधा नहीं है। तथा रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई कारण नहीं है। इसलिये हेत्वभावान्नलक्षणा' इस कथनानुसार लक्षणा नहीं हो सकती है। शीतलता, पावनता रूप विशेष अर्थ की प्रतीति केवल व्यञ्जना व्यापार से ही होती है। यदि कोई कहे कि शीतलता, पावनता विशिष्ट तट में लक्षणा की जाय तो व्यंजना की आवश्यकता नहीं होती है परन्तु ऐसा हो नहीं सकता है क्योंकि ज्ञान का विषय अन्य और फल का विषय पृथक् होता है अर्थात् ज्ञान का विषय तट और फल का विषय शीतलता, पावनता पृथक् है। ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते हैं तथा मिल भी नहीं सकते हैं। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने लिखा है—

"ज्ञानस्य विषयोह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्"

इस प्रकार शीतलता, पावनता विशिष्ट तट में लक्षणा करना सम्भव नहीं है जैसा कि मम्मट ने लिखा है—**प्रयोजनेन सहित लक्षणीयं न युज्यते**। अतः व्यंजना के बिना शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती है इस प्रकार व्यंजना को व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये मानना अनिवार्य है। यह व्यंजना (१) अभिधामूला (२) लक्षणामूला भेद से दो प्रकार की होती है।

लक्षणामूला व्यंजना—इसका उदाहरण "गंगायां घोषः" है। शीतलता पावनता रूप विशेष अर्थ की प्रतीति के लिये लक्षणा की जाती है अर्थात् लक्षणा से तट लक्ष्यार्थ की प्रतीति करके व्यंजना से शीतलता, पावनता की प्रतीति होती है। अतः यहाँ शीतलता, पावनता की प्रतीति लक्षणामूला व्यंजना से होती है। इस लक्षणामूला व्यंजना को अविवक्षित वाच्यध्वनि कहते हैं तथा अविवक्षित वाच्यध्वनि के भी (१) अर्थान्तर-संक्रमित, (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि दो भेद होते हैं।

अर्थान्तरसंक्रिमितवाच्यध्वनि—अविवक्षितवाच्यध्वनि में वाच्यार्थ जब अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है तो उसे अर्थान्तरसंक्रिमितध्वनि अथवा लक्षणामूलाध्वनि कहते हैं।

त्वामस्मिवच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्रविधेहि तत्॥

कोई गुरु शिष्य की विजय एवं यश की कामना से प्रेरित होकर शिष्य से कहता है कि मैं तुमसे कह रहा हूँ यहाँ विद्वानों का समुदाय है। अतः अपनी बुद्धि को स्थिर करके (सावधानीपूर्वक) सम्भाषण आदि में प्रवृत्त होना। यहाँ वच्मि क्रिया से अहम् के वाचक अस्मि का बोध हो ही जाता है, क्योंकि जो गुरु सामने बैठे हुये शिष्य को उपदेश देता है उसको यह आवश्यकता नहीं रहती है कि मैं हूँ और तुमसे कह रहा हूँ। इस प्रकार वच्मि के साथ अस्मि का प्रयोग होने के कारण साधारण कथन अर्थ उपदेश में परिणत हो जाता है। इसलिये इस श्लोक का वाच्य अर्थ

अनुपयुक्त होकर अर्थान्तर में संक्रमित होने से लक्षणामूला ध्वनि के भेद से अर्थान्तर संक्रमित ध्वनि का उदाहरण माना जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि—जब वाच्यार्थ अनुपयुक्त होकर अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है तो उसे अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि कहते हैं। जैसे—

उपकृतं बहुतत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम्।

विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्वततः शरदांशतम्॥

इसका आशय यह है कि कोई मित्र अपने अपकारी मित्र से कहता है कि हे मित्र ! आपने मेरा बड़ा उपकार किया, कहाँ तक प्रशंसा करू। हे मित्र ! सदा आप ऐसा ही व्यवहार करें आपकी सज्जनता को कौन नहीं जानता है। आप बड़े सज्जन हैं, आप सैंकड़ों वर्षों तक जीवें। यहाँ अपकारी मित्र के प्रति उक्ति है। अतः उपकृत के अर्थ की संगति उचित नहीं प्रतीत हो रही है। विपरीत लक्षणा से एकदम उपकृतम् का अपकृतम् सुजनता का दुर्जनता सखे का शत्रो ! सुखितमास्व का अद्यैव म्रियस्व आदि उल्टा अर्थ हो जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ गृहीत होता है। अतः यह श्लोक अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि का उदाहरण माना जाता है।

अभिधामूला व्यंजना—जिस व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये अभिधा को आधार मानकर व्यंजना होती है उसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं। आचार्य मम्मट ने अभिधामूला व्यंजना का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥

अर्थात् जिस स्थल पर संयोगादि के कारण अनेकार्थ शब्दों के अर्थ किसी एक अर्थ में अभिधा द्वारा नियन्त्रित होने पर एक विलक्षण अर्थ की प्रतीति होती है, जो वाच्यार्थ से भिन्न होता है। इस विलक्षण वाच्यार्थ के भिन्न अर्थ की प्रतीति अभिधा-मूला व्यंजना के व्यापार से होती है। अतः इसे अभिधामूला व्यंजना कहते हैं किन्तु ये संयोगादि क्या हैं जिनके कारण अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ किसी एक अर्थ में अभिधा द्वारा नियन्त्रित हो जाते हैं। इस प्रश्न का समाधान करते हुए मम्मट ने वाक्यपदीय से दो कारिकाओं को उदधृत किया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्रान वच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः॥

इन कारिकाओं के आधार से (१) संयोग (२) विप्रयोग (३) साहचर्य (४) विरोधिता (५) अर्थ (६) प्रकरण (७) लिंग (८) अन्य शब्द की सन्निधि (९) सामर्थ्य

(१०) औचित्य (११) देश (१२) काल (१३) व्यक्ति (पुल्लिग स्त्रीलिंग रूप नपं० लिंग) (१४) स्वरादि अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने में कारण होते हैं। इन १४ कारणों से अनेकार्थक शब्दों का अर्थ में नियन्त्रण करने के उदाहरण निम्न प्रकार हैं।

(१) संयोग—"सशंखचक्रोहरि:" इस वाक्य में शंख तथा चक्र के संयोग से अनेकार्थक हरि के अनेक अर्थ अभिधा से नियन्त्रित होकर हरि का विष्णु अर्थ बोधित होता है, क्योंकि शंख चक्र का संयोग विष्णु से प्रसिद्ध है। अत: संयोग की विशेषता से हरि के अनेक अर्थ विष्णु में ही नियन्त्रित हो जाते हैं। फिर भी अन्य अर्थों की प्रतीति सहृदयों को होती है। वह प्रतीति अभिधामूला व्यंजना से होती है।

(२) विप्रयोग—"अशंखचक्रोहरि:" इस वाक्य में भी विप्रयोग अर्थात् वियोगवश अनेकार्थक हरि के अनेक अर्थ एक अर्थ (विष्णु) में नियन्त्रित हो जाते हैं क्योंकि जिस प्रकार शंख, चक्र का संयोग विष्णु से ही हो सकता है। उसी प्रकार शंख, चक्र का वियोग भी विष्णु से ही हो सकता है। अत: वियोग की उपस्थिति से हरि के अनेक अर्थ विष्णु अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाते हैं।

(३) साहचर्य—"रामलक्ष्मणौ" इस पद में साहचर्यश अनेकार्थक राम और लक्ष्मण के अनेक अर्थ, एक अर्थ अर्थात् दशरथ के पुत्र में नियन्त्रित हो जाते हैं। अत: साहचर्य के कारण राम-लक्ष्मण के अनेक अर्थ अवरुद्ध होकर केवल एक अर्थ दशरथ पुत्र की प्रतीति होती है।

(४) विरोधिता—"रामार्जुनगतिस्तयो:" इस पद में विरोधवश अनेकार्थक राम और अर्जुन के अनेक अर्थ एक अर्थ में अर्थात् राम से परशुराम और अर्जुन से कार्तवीर्य में नियन्त्रित हो जाते हैं।

(५) अर्थ—"स्थाणु भजभवच्छिदे" इसमें अनेकार्थक स्थाणु के अनेक अर्थ स्थाणु शब्द प्रयोजनरूप अर्थ के कारण एक अर्थ अर्थात् शिव में नियन्त्रित हो जाते हैं अत: स्थाणु शब्द प्रयोजनरूप अर्थ स्थाणु के अनेक अर्थों का शिव अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है।

(६) प्रकरण—"सर्वं जानाति देव:" इस वाक्य में अनेकार्थक देव शब्द के अनेक अर्थ प्रकरण अर्थात् प्रसंगवश एक अर्थ में (आप में) नियन्त्रित हो जाते हैं। अत: प्रकरणवश देव का अर्थ आप होता है।

(७) लिंग—"कुपितो मकरध्वज:" इस वाक्य में लिंग अर्थात् चिह्न के कारण मकरध्वज के अनेकार्थ, समुद्र, औषधिविशेष, कामदेव आदि नियन्त्रित होकर एक अर्थ अर्थात् कामदेव का बोध होता है। अत: चिह्न के कारण मकरध्वज का अर्थ कामदेव ग्रहण किया जाता है।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—"देवस्य पुराराते:" यहाँ अनेकार्थक देव शब्द

के अनेक अर्थ पुरारानि शब्द के सान्निध्य से एक अर्थ में अर्थात् शिव में नियन्त्रित हो जाते हैं। अतः इस वाक्य में देव का अर्थ शिव होता है।

(९) सामर्थ्य—"मधुनामत्तः कोकिलः" इस वाक्य में कोकिल मधु से मत्त हो रहा है। कोकिल को मत्त करने की सामर्थ्य केवल बसन्त में होने से अनेकार्थक मधु शब्द के अनेक अर्थों का एक अर्थ में अर्थात् वसन्त में नियंत्रण हो जाता है। इस प्रकार यहाँ सामर्थ्यवश मधु का अर्थ वसन्त ग्रहण किया जाता है।

(१०) औचित्य—"पातुवोदयितासुखम्" पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे इस वाक्य में अनेकार्थक मुख शब्द के अनेक अर्थ औचित्य के कारण साम्मुख्य अर्थात् आनुकूल्य अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं। अतः यहाँ औचित्य के कारण मुख का साम्मुख्य अर्थ बोधित होता है।

(११) देश—'भात्यत्रपरमेश्वरः' यहाँ परमेश्वर सुशोभित हो रहा है इस वाक्य में राजधानीरूप देश के कारण अनेकार्थक परमेश्वर के अनेक अर्थ एक अर्थ में अर्थात् राजा के अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं। अतः यहाँ देश अर्थात् राजधानी-रूप देश के कारण परमेश्वर का राजा अर्थ बोधित होता है।

(१२) काल—'चित्रभानुर्विभाति' चित्रभानु सुशोभित हो रहा है अर्थात् चमक रहा है। इस वाक्य का चित्रभानु शब्द अनेकार्थक होने के कारण चित्रभानु के अनेक अर्थ एक अर्थ में काल के कारण अर्थात् दिनरूप काल के कारण सूर्य और रात्रिरूप काल के कारण अग्नि अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं। अतः दिनरूप काल के कारण चित्रभानु का अर्थ सूर्य और रात्रि रूप काल के कारण चित्रभानु काअर्थ अग्नि बोधित होता है।

(१३) व्यक्ति–'मित्रं भाति' मित्र सुशोभित हो रहा है। यहाँ अनेकार्थक मित्र शब्द का प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। अतः व्यक्ति अर्थात् लिंग (पु० लिंग स्त्री-लिंग, नपुंसकलिंग) की विशेषता के कारण मित्र शब्द के अनेकार्थक एक अर्थ के (सुहृत् में) नियन्त्रित हो जाते हैं। अतः नपुंसकलिंग के कारण मित्र का सखा बोधित होता है।

(१४) स्वरादि—इसका उदाहरण लौकिक साहित्य में नहीं प्राप्त होता है अपितु वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है क्योंकि उदात्तअनुदात्त स्वरित आदि स्वरों का वर्णन वेद में किया है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मम्मट ने लिखा है—

'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरोविशेष प्रतीति कृत्।'

स्वरभेद का प्रभाव—ग्रन्थकार मम्मट स्वरभेद प्रदर्शित करने के लिये इन्द्र-शत्रु का संकेत किया है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्वरभेद के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्तमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपरात् ॥

इसका आशय यह है कि त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले पुत्र की काम से यज्ञ कराया, उस यज्ञ में 'इन्द्र शत्रुर्वधस्व' इत्यादि मन्त्र का 'ऊह' करके पा कराया कि—इन्द्र को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो।

यहाँ इन्द्रशत्रु शब्द के दो समास होते हैं—(१) इन्द्रस्य शत्रः अर्थात् इ को मारने वाला इस अर्थ में षष्ठी-तत्पुरुष समास होता है। (२) इंद्रः शत्रुः यस सः इस विग्रह में बहुव्रीहि-समास होता है। समास के कारण इन्द्रशत्रुः का अर्थ भि भिन्न हो जाता है। षष्ठी-तत्पुरुष समास में अन्तोदात्त स्वर होता है। परन्तु उच्च रण करते समय अन्तोदात्त के स्थान पर आद्युदात्त का उच्चारण किया जिससे अ ही उल्टा हो गया। परिणामस्वरूप इन्द्र के शत्रु का ही विनाश हो गया। इस प्रका अन्तोदात्त आद्युदात्त स्वर के भेद से अनेकार्थक इन्द्रशत्रु शब्द आदि के अनेक अ भिन्न अर्थ में नियन्त्रित वेद में ही होते हैं। अतः यहाँ स्वरभेद का उदाहरण नहीं दि है।

आदिग्रहणात—आदि ग्रहण से अभिनयादि के संकेतों से अनेकार्थक शब के अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं। जैसे 'एतावन्मात्रस्तनिका' इत्यादि में इस प्रका सुन्दरी नायिका इतने दिनों में ही ऐसी हो गई है इत्यादि में अभिनय आदि के संके में अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं।

इस प्रकार संयोगादि के कारण अनेकार्थ शब्दों के अनेक अर्थ एक अर्थ नियन्त्रित हो जाने पर भी अन्य अर्थों की प्रतीति सहृदयों के हृदय में होती है। य प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है क्योंकि अभिधा से अनेक अर्थ का एक अर्थ नियन्त्रण किया जा चुका है तथा मुख्यार्थ बाध आदि हेतुओं के अभाव में लक्ष भी नहीं हो सकती है। अतः अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ अभिधा से एक अर्थ नियन्त्रित होने पर जो अन्य अर्थ प्रतीत होते हैं वे केवल व्यंजन अर्थात् व्यंज व्यापार से ही प्रतीत होते हैं। इस व्यंजता व्यापार को अभिधा मूला व्यंजना कह हैं। मम्मट ने प्रस्तुत श्लोक का अवतरण अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण के लि किया है।

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।
यस्यानुप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥

इस श्लोक में राजा की प्रशंसा की जा रही है। अतः जितने अनेकार्थ शब्दों का प्रयोग हुआ है उनके अनेक अर्थ राजा की प्रशंसा रूप प्रकरण से एक अ अर्थात् राजा की प्रशंसा में नियन्त्रित हो जाते हैं फिर भी हाथी परक दूसरे अर्थ क प्रतीति के साथ उपमानोपमेय की प्रतीति होती है। राजा के सभी विशेष हाथी में भी लगते हैं। इस हाथी रूप दूसरे अर्थ की प्रतीति अभिधामू

व्यंजना से ही होती है । अतः यह अभिधामूला व्यंजना का उत्कृष्ट उदाहरण है ।

इसी प्रकार उपर्युक्त सभी संयोगादि कारणवश अभिधा द्वारा एक अर्थ में अनेक अर्थों का नियन्त्रण होने पर भी अन्य अर्थ अभिधामूला से सहृदयों को प्रतीत हो रहे हैं ऐसे स्थलों में अभिधामूला व्यंजना होती है ।

प्रश्न १७—मम्मट के मतानुसार अर्थव्यञ्जकता की सोदाहरण व्याख्या कीजिये । **(आगरा वि० वि० १९५५, ६१, ६६, ७२, ७७, ८०)**

What does **मम्मट** mean by **अर्थव्यञ्जकता** ? Explain fully.

उत्तर—आचार्य मम्मट ने द्वितीय उल्लास में शब्द के वाचक, लक्षक, तथा व्यंजक भेद करते हुए वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ का प्रतिपादन क्रमशः अभिधा तथा लक्षणा एवं व्यंजना के द्वारा किया है । प्रयोजनरूप विशेष अर्थ के बोध के लिये व्यंजनावृत्ति की अनिवार्यता स्वीकार की है तथा व्यंजना के (१) शाब्दी व्यंजना और (२) आर्थी व्यंजना भेद किया है और शाब्दी व्यंजना के अभिधामूला-व्यंजना तथा लक्षणामूला व्यंजना नामक दो भेदों का विवेचन करके अभिधामूला-व्यंजना के संयोगादि वश १४ भेदों का निरूपण किया है । अब यहाँ तृतीय उल्लास में आर्थी-व्यंजना के समस्त भेदों का निरूपण करने के उद्देश्य से लिखा है कि 'अर्थव्यञ्जकतौच्यते' अर्थात् वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्यार्थ का निरूपण किया जा चुका है । अब यहाँ अर्थ-व्यंजकता का स्वरूप तथा उसके भेदों का कथन करते हैं कि—

वक्तृ-बौद्धव्यकाकूनां वाक्यावाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्ताव-देश-कालादे-र्वेशिष्ट् यात् प्रतिभा जुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेवसा ।

आर्थी-व्यंजना अर्थ पर आधारित रहती है अर्थात् आर्थी-व्यंजना में अर्थ की प्रधानता रहती है । शब्द सहकारी भाव से रहता है । सहृदयों को प्रतीत अर्थ के अतिरिक्त एक अन्य विशेष अर्थ की प्रतीति हुआ करती है उसी को अर्थव्यंजकता कहते हैं अर्थव्यंजकता के अभाव में काव्य में कवित्व का अभाव होता है अर्थ वैचित्र्य के कारण ही कवि महाकवित्व पद पर आसीन होता है । यह अर्थ वैचित्र्य आर्थी-व्यंजना के द्वारा ही प्रतीति का विषय बनता है । यह आर्थीव्यंजना ही कवि प्रतिभा की परिचायिका होती है । उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से मम्मट ने अर्थ-व्यञ्जकता के दस भेदों का नाम परिगणन करके उदाहरण सहित स्पष्ट किया है । अतः आर्थी-व्यञ्जना १० प्रकार की होती है, जो नाम निम्न प्रकार है—

(१) वक्तृ-वैशिष्ट्य (२) बोद्धव्य-वैशिष्ट्य
(३) काकु-वैशिष्ट्य (४) वाक्य-वैशिष्ट्य
(५) वाच्य-वैशिष्ट्य (६) अन्यसन्निधि-वैशिष्ट्य

(७) प्रस्ताव-वैशिष्ट्य (८) देश-वैशिष्ट्य
(९) काल-वैशिष्ट्य (१०) अन्यविध-वैशिष्ट्य

मम्मट ने वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य अर्थ के आधार पर आर्थीव्यंजना का निरूपण किया है। परन्तु वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य के अनुसार आर्थीव्यंजना के तीन भेदों का कथन नहीं किया है। मम्मट द्वारा प्रदत्त आर्थीव्यंजना के उदाहरण निम्न प्रकार है—

(१) वक्तृ-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

अपितु थुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि-त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ।।

कोई नायिका अपनी चौर्यरति को छिपाती हुई सखी से कहती है कि हे सखि ! मैं बड़े-बड़े जल से परिपूर्ण घड़ों को लेकर जल्दी-जल्दी आ रही हूँ। परिश्रम के कारण पसीने की बूँदें छलक आयी हैं तथा लम्बी-लम्बी श्वासों के कारण श्रान्त हो रही हूँ। एक क्षण विश्राम कर लूँ। इस पद्य में वक्ता की विशिष्टता से चौर्यरति को छिपाने का प्रयत्न प्रतीत हो रहा है अर्थात् कोई स्त्री पानी भरने के बहाने से उपनायक से रति करके आ रही है तथा उसके मुख पर रतिचिह्न एवं पसीने की बूँदें स्पष्ट दीख रही हैं। कहीं कोई उसकी सखी स्पष्ट पसीने की बूंद आदि चिह्नों को देखकर चौर्यरति की शंका न करे इसीलिए शंका का अवसर समाप्त करती हुई पहले ही पसीना एवं लम्बी श्वासों का कारण बड़े-बड़े जल से परिपूर्ण घड़ों को लाना है। अन्य कुछ विपरीत शंका नहीं करनी चाहिये। इस वक्ता के वैशिष्ट्य से चौर्यरति छिपाने का प्रयत्न किया गया है।

बोद्धव्य-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

औन्निद्रयं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनि श्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह । परिभवति ।।

प्रस्तुत पद में कोई नायिका अपनी दूती के नायक के साथ रति करने के कारण क्रुद्ध होकर कहती है कि हे सखि ! तुम मुझ मन्दभागिनी के कारण निरतन्तर जागती रहती हो, अतः निद्रा का अभाव निर्बलता, चिन्ता, आलस्य, एवं निःश्वास आदि कष्ट तुम्हें भी भोगने पड़ रहे हैं। यह खेद का विषय है। यहाँ एक दूती का उस नायिका के कामुक नायक के साथ सम्भोग व्यंग्य है।

(३) काकु-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

"काकुर्ध्वनेर्विकारः" अर्थात् काकु का अर्थ-ध्वनि विकृत करके बोलना है अथवा किसी भावावेश वश तथा किसी विशेष उद्देश्य के कारण कण्ठ की ध्वनि में विशेष प्रकार का विकार अथवा परिवर्तन हो जाता है तो उसे "काकुः" कहते हैं। कि प्रस्तुत उदाहरण वेणी-संहार नामक नाटक से उद्धृत किया गया है कि—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः ।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
गुरुः खेदं खिन्ने मयिभजति नाद्यापि कुरुषु ॥

प्रस्तुत उदाहरण में सहदेव भीम को क्रोधित देखकर कहता है कि आपके इस प्रकार के सन्धि विरोधी व्यापार को देखकर अथवा सुनकर "कदाचित् खिद्यते गुरुः" अर्थात् बड़े भाई साहब धर्मराज युधिष्ठिर अप्रसन्न न हों तो भीम कहता है कि क्या गुरु अर्थात् युधिष्ठिर क्रोध करना भी जानते हैं। यदि जानते तो फिर उस प्रकार राजसभा में द्रौपदी को अपमानित देखकर क्रोध नहीं आया तथा १२ वर्षों तक वन में व्याधों के साथ वल्कल वस्त्र धारण करते हुए हम लोगों ने निवास किया तब भी क्रोध नहीं उत्पन्न हुआ। इसके अतिरिक्त विराट् के घर में अनुचित कार्यों को (रसोइया आदि को) करते हुए छिपकर निवास किया, उस समय भी क्रोध नहीं आया और आज भी उनको अर्थात् बड़े भाई साहब युधिष्ठिर को कौरवों पर क्रोध नहीं आ रहा है और मेरे ऊपर अप्रसन्न होंगे। यहाँ "काकु" से व्यंजित हो रहा है कि मेरे ऊपर क्रोध करना उचित नहीं है। क्रोध कौरवों पर करना उचित है।

यहाँ "काकु" से ध्वनित होने के कारण यह सन्देह उत्पन्न होता है कि गुणीभूत के ८ भेदों में परिगणित काक्वाक्षिप्तुतो नहीं है अर्थात् "काकु" से आक्षिप्त होने के कारण इस उदाहरण को गुणीभूत व्यंग्य के भेद काक्वाक्षिप्त का उदाहरण समझना चाहिये तथा ध्वनि का उदाहरण नहीं मानना चाहिये। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये आचार्य मम्मट ने लिखा है कि—

"न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

इसका आशय यह है कि "काकु" के वाच्य सिद्धि का अंग होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य है। यह सन्देह यहाँ करना उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ काकु से ही प्रश्न-मात्र की विश्रान्ति हो जाती है तथा काकु से व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है। अतः यहाँ व्यंग्य अर्थ न तो काक्वाक्षिप्त ही है और न वाच्य-सिद्धि का अंग ही है। इसलिये ध्वनि का यह उदाहरण हो सकता है, गुणीभूतव्यंग्य का नहीं है।

(४) वाक्य-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।
इदानीं साऽहं तौ च सैकपोलौ न च सा दृष्टिः॥

इसका आशय यह है कि कोई नायिका अपने कामुक नायक पर सन्देह एवं आश्चर्य व्यक्त करती हुई कहती है कि उस समय तुम मेरे कपोलों से अपनी दृष्टि को

दूसरी ओर नहीं ले जा रहे थे, परन्तु अब भी मैं वही हूँ और मेरे कपोल भी वे ही हैं केवल तुम्हारी वह दृष्टि नहीं है। यहाँ वाक्य की विशेषता से ध्वनित होता है कि उस समय मेरे कपोल पर मेरी सखी के प्रतिबिम्ब को देखने के कारण तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी और उसके चले जाने पर और ही हो गई है। अत: तुम्हारी कामुकता पर आश्चर्य होता है कि तुम्हरी कामुकता विलक्षण है। यह नायिका के वाक्य-वैशिष्ट्य से व्यंजित हो रहा है अर्थात् नायक का अनेक नायिकाप्रियत्व अभिव्यक्त हो रहा है।

(५) वाच्य-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी,
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदाया:।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि वे वान्ति वाता:,
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभू:॥

हे तन्वि ! सरस केलों के समूहों में सुशोभित्त, लताओं के कुञ्जों से रमणियों के हृदयों में भावों को अंकुरित करने वाला नर्मदा का रमणीक स्थान है तथा रति में अनुकूल मनोहर वायु चल रही है और स्मर शरसन्धान किये हुये आगे-आगे चलता है। यहाँ वाच्य-वैशिष्ट्य से व्यंजित हो रहा है कसुरत के अनुकूल अवसर एवं स्थान होने के कारण सुरत के लिये कुञ्जों में प्रवेश करो।

(६) अन्यसन्निधि का उदाहरण—

नुदत्यनाद्रमना:श्वश्रूर्मा गृहभरे सकले।
लक्षमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्राम:॥

कोई नायिका अपने पास उपस्थित अन्य लोगों के कारण स्पष्ट संकेत करने में असमर्थ होने के कारण सन्ध्या के समय मिलने का अवसर निकाल सकती है। यह बात व्यंजना से सूचित करती है क्योंकि मेरी कठोर सास घर के समस्त कार्य मुझसे ही कराती रहती है इसलिये समय नहीं मिलता है। कदाचित् यदि मिलता है तो सन्ध्या समय में ही मिलता है। कभी नहीं भी मिलता है। गुरुजन आदि की समीपता के कारण तटस्थ दूत आदि से सन्ध्या समय ही संकेत समय हो सकता है। यह अन्य सन्निधि से ध्वनित हो रहा है।

(७) प्रस्ताव वैशिष्ट्य का उदाहरण—

श्रुयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्यहरमात्रेण।
एवमेवकिमिति तिष्ठसि तत्सखि सज्जय करणीयम्॥

यहाँ कोई सखी उप-पति के पास जाने के लिये उद्यत किसी अभिसारिका से कहती है कि हे सखि सुना है तेरा प्रिय नायक एक प्रहर में आने वाला है। तो

फिर तुम इस प्रकार यों ही क्यों बैठी रहती हो। अतः प्रियतम के स्वागतार्थ शृंगार आदि से सज्जित होकर तदनुकूल कार्यों को क्यों नहीं करती हो। यहाँ अभिसार के लिये उद्यत नायिका को उसकी सखी अभिसार के वारण करती हुई मना रही है कि इस समय अभिसार करना उचित नहीं है क्योंकि तेरा प्रियतम आने वाला ही है। इस प्रस्ताव के वैशिष्ट्य से अभिसार के लिये मत जाओ। तथा कुछ समय धैर्य धारण करो, यह व्यंजित हो रहा है।

(८) देश-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितु समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः॥

यहाँ कोई नायिका विश्वस्त सखी से देश-वैशिष्ट्य से व्यंजित करती हुई कहती है कि सखि! आप किसी अन्य स्थान पर पुष्प चयन कर लो। मैं यहाँ हूँ। मैं दूर कहीं जाने में असमर्थ हूँ। हे सखियों प्रसन्न हो जाओ। मैं आपसे हाथ जोड़कर निवेदन कर रही हूँ। यहाँ एकान्त स्थान है। अतः प्रच्छन्न कामुक से मिलने का मुझे अवसर प्रदान करने के लिये अन्यत्र पुष्पचयन के लिये चली जाओ। यह देश-वैशिष्ट्य से व्यंजित किया।

(९) काल-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

गुरुजनपरवश-प्रिये किं भणामि तव मन्दभागिन्यहम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज, स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्॥

कोई नायिका प्रवास गमनोद्यत प्रियतम से कहती है कि हे प्रियतम! गुरुजनों की आज्ञापालक! मन्द, भागिनी मैं आप से क्या कहूँ। आप आज विदेश जा रहे हैं, तो जाइये मुझे क्या करना है यह स्वयमेव सुन लोगे। यहाँ वसन्तकाल की उपस्थिति की विशेषता से व्यञ्जित हो रहा है कि वसन्तकाल में आपके बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता है अर्थात् मेरी मृत्यु का समाचार एक दिन सुन लेना। आपकी दशा क्या होगी, यह मैं नहीं जानती हूँ। यह ध्वनित हो रहा है।

(१०) आदि-पद ग्राह्य चेष्ट-वैशिष्ट्य का उदाहरण—

द्वारोप्रान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया,
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।
आनीतं पुरतः शिरोंशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने,
वाचस्तत्र निवारित प्रसरणं सोचित दोर्लते॥

कोई नायक अपने मित्र से नायिका के आचरणों का वर्णन करता हुआ कहता है कि हे मित्र! जिस समय मैं दरवाजे पर पहुँचा तो उस परम सुन्दरी ने अपनी दोनों उरुओं को फैलाकर एक दूसरे से चिपका लिया और सिर पर घूँघट डाल

लिया। आँखें नीची करके बोलना बन्द कर दिया तथा अपनी दोनों भुजाओं को सिकोड़ लिया। यहाँ चेष्टा-वैशिष्ट्य से प्रच्छन्नरूप से स्थित प्रियतम विषयक अभिप्राय विशेष की व्यंजना हो रही हैं। अथवा

संकेतविकालमनस विटं ज्ञात्वा विदग्धया।

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥

यहाँ किसी चतुर नायिका ने अपने नायक के संकेत काल जानने की इच्छा का अनुभव करके प्रसन्न नेत्रों के संकेत से हाथ में लिये हुये क्रीड़ा-कमल को बन्द कर लिया। यहाँ नायिका के द्वारा नायक के सामने कमल बन्द करने की चेष्टा रूप व्यापार से व्यंजित किया है कि मेरे मिलने का समय सायंकाल ही है। अर्थात् संकेत समय सायंकाल है। यह सूचित कर रही है। यह चेष्टा-वैशिष्ट्य से ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार मम्मट ने आर्थीव्यंजना के १० भेदों के उदाहरण पृथक्-पृथक् दिये हैं वैसे तो दो तीन, या अधिक भेदों को एक स्थान पर मिलाकर एक या दो उदाहरणों में दश भेदों का अन्तर्भूत करके दर्शन किया जा सकता था। तथापि मम्मट का पृथक्-पृथक् वर्णन करने का आशय यह है कि—

निराकांक्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते। वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन निराकांक्षता।

अर्थात् जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये तथा अवसर होने के सभी भेदों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं। वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से मिलकर भी इनके उदाहरण समझ लेना चाहिये।

आर्थीव्यंजना के १० उदाहरणों में वाच्य-अर्थ की व्यंजकता का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। इसी प्रकार लक्ष्य तथा व्यंग्य-अर्थ की व्यञ्जकता समझ लेनी चाहिये। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये लिखा है कि—

"अनेन क्रमेण लक्ष्यव्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम्"

इसी क्रम से लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों की व्यंजकता के उदाहरण भी समझ लेने चाहियें।

प्रश्न १८—मम्मट के मतानुसार ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

अथवा

ध्वनि से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिये।

(आगरा वि० वि० १९५२, ५७, ५८, ६३, ७२, ७७, ८०)

Explain fully the theory of dhvani (ध्वनि) and show how Mammata has established it on a firm flooting.

उत्तर—आचार्य मम्मट ने प्रथम उल्लास में काव्य-स्वरूप तथा काव्य के तीन

भेदों का निरूपण किया है। (१) ध्वनि-प्रधान काव्य को उत्तमकाव्य, (२) ध्वनि की अपेक्षा वाच्यार्थ के अधिक चत्मकारी होने पर मध्यमकाव्य अथवा गुणीभूतव्यंग्य काव्य और (३) ध्वनिरहित काव्य को अधमकाव्य कहते हैं। ध्वनि का स्वरूप बतलाते हुए आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अर्थात् व्यञ्जना के द्वारा व्यंजित होने वाला व्यंग्यादि अर्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा विलक्षण कोई अर्थ विशेष सहृदय विद्वानों के द्वारा अनुभूयमान रमणियों के मुख, कर आदि अंगों के अतिरिक्त परम रमणीय लावण्य के समान ध्वन्यमान अर्थ महाकावियों के सुभाषित वाक्यों में प्रतीत होता है, उस प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि कहते हैं। अत: जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ विशेष चमत्कारी हो तो वहाँ ध्वनि की प्रधानता होने के कारण उत्तम काव्य होता है। यह मम्मट की मान्यता है यही आशय व्यक्त करते हुये उत्तम काव्य का स्वरूप निम्न प्रकार लिखा है, कि—

"इदमुत्तममतिशायिनिव्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

इसका आशय यह है कि जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी हो तो वहाँ ध्वनिकाव्य अथवा उत्तमकाव्य होता है। ध्वनि के प्रमुख स्थापक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए लिखा है कि—"ध्वनिरात्मा काव्यस्य"। आनन्दवर्द्धन के पश्चात् ध्वनिविरोधी सम्प्रदाय ने ध्वनि का खण्डन करने का प्रयास किया किन्तु मम्मट रूपी ध्वनि-समर्थक सूर्य के उदय होते ही ध्वनि-विरोधीरूपी अन्धकार ऐसा नष्ट हुआ कि पुनः उसके दर्शन साहित्याकाश में नहीं हो सके अर्थात् मम्मट ने आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) लक्षणामूलक-ध्वनि। (२) अभिधामूलक-ध्वनि।

लक्षणामूलक-ध्वनि को अविवक्षित-वाच्य और अभिधामूलक ध्वनि को विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि कहते हैं।

(१) लक्षणामूलक ध्वनि

जहाँ जिस रचना में लक्ष्यार्थ प्रतीति के अनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो तो उसे लक्षणामूलक-ध्वनि कहते हैं। इसी को अविवक्षितवाच्य-ध्वनि भी कहते हैं। अविवक्षितवाच्य-ध्वनि के दो भेद होते हैं।

(१) अर्थान्तर संक्रमितवाच्य-ध्वनि। (२) अत्यन्ततिरष्कृतवाच्य-ध्वनि।

(१) अर्थान्तरसंक्रमित—अर्थान्तरसंक्रमित का आशय यह है कि वाच्यार्थ के अनुपयुक्त होने से अपने किसी विशेष भेदरूप अर्थान्तर में परिणत होने पर इसे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य-ध्वनि कहते हैं। जैसे—

त्वामस्मिवच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

इस श्लोक के माध्यम से कोई गुरु शिष्य की हितकामना से कहता है कि मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ (इस सभा में) विद्वानों का समूह विद्यमान है। इसलिये अपनी बुद्धि को स्थिर करके तुम्हें व्यवहार करना चाहिये। यहाँ वच्मि के साथ अस्मि का प्रयोग निरर्थक एवं पुनरुक्ति दोषों का सूचक है। क्या ? यह संदेश नहीं किया जा सकता है क्योंकि त्वामस्मिवच्मि का अर्थ बाधित होने पर लक्षणा के द्वारा वच्मि का उपदेश देता हूँ और 'अस्मि', का मैं (तुम्हारा) शुभचिन्तक यहीं हूँ यह लक्ष्यार्थ होता है। यहाँ वच्मि और अस्मि अपने वाक्यार्थ को छोड़कर अन्य अर्थ (उपदेश तथा शुभचिन्तक) में संक्रमित हो जाते हैं। अतः लक्षणामूलक-ध्वनि से हितसाधनता व्यंजित हो रही है। इस प्रकार लक्षणामूलक-ध्वनि के भेद अर्थान्तर-संक्रमित वाच्यध्वनि का यह उदाहरण माना जाता है।

(२) **अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि**—जहाँ शब्द का वाच्यार्थ अत्यन्त-तिरस्कृत होकर अपने वाच्यार्थ को छोड़कर अन्य विशेष अर्थ में परिणत हो जाता है तो उसे अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य-ध्वनि कहते हैं अर्थात् जहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ को छोड़कर अन्य भिन्न अर्थ में परिणत हो जाता है तो उसे अत्यन्त-तिरस्कृत वाक्यध्वनि कहते हैं। जैसे—

उपकृत बहुतत्र किमुच्यते सुजनता प्राथमिकता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदासखे ? सुखितमास्व ततः शरदा शतम्॥

कोई व्यक्ति अपने विश्वस्त एवं अपकारी मित्र से कहता है कि हे मित्र आपने मेरा बड़ा उपकार किया है तथा आपकी सज्जनता विश्वविख्यात है। उसकी कहाँ तक प्रशंसा करें। हे मित्र ! आप ऐसे ही सदा व्यवहार करते हुये सैकड़ों वर्षों तक सुख से जीवित रहें, यहाँ अपकारी के प्रति कहे गये उपकृत, सुजनता आदि का वर्णन पूर्णरूप से अनुपयुक्त एवं प्रतिकूल प्रतीत हो रहा। अतः लक्षणा के द्वारा अर्थ अत्यन्ततिरस्कृत होकर विपरीत अर्थ को प्रकट करता है अर्थात् उपकृतम् का अर्थ अपकार सुजनता का अर्थ दुर्जनता के रूप में परिणत हो जाता है। अतः वाच्यार्थ को सर्वथा तिरस्कृत करके अन्य भिन्नार्थ की प्रतीति होने से यहाँ अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्यध्वनि स्वीकार की गई है जिससे यह ध्वनित हो रहा है कि तुम जैसा अपकारी लोकप्रसिद्ध धूर्त्त का आज ही प्राणान्त हो जाये।

अभिधामूलक ध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही हो तो वहाँ अभिधामूलक ध्वनि होती है। जिसको विवक्षित-वाच्य-ध्वनि भी कहते हैं। क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ अपने अर्थ को प्रतिपादन करने में उत्सुक न होकर रमणीयता पोषक व्यंग्यार्थ को प्रकट करता है। अतः उसे विवक्षितवाच्य

अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि कहते हैं। इस विवक्षितान्य-परवाच्य-ध्वनि के दो भेद होते हैं—

(१) असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य (२) संलक्ष्यक्रम व्यंग्य।

(१) **असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य**—जहाँ वाच्य तथा व्यंग्यार्थ में पौर्वापर्यभाव न प्रतीत हो रहा हो अर्थात् वाच्य और व्यंग्य का क्रम होने पर भी अतिशीघ्रता वश क्रम का ज्ञान न हो तो वहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है। जिस प्रकार कोई कमल के १०० पत्तों को एक साथ रखकर ऊपर से कील रखकर भेद दें तो यहाँ क्रम की प्रतीति आदि शीघ्रता के कारण नहीं होती है। यद्यपि इस भेदन क्रिया में क्रम है किन्तु प्रतीति नहीं होती है। इसी प्रकार रस की प्रतीति में विभावादि क्रम होने पर भी प्रतीति न होने से रस को असंलक्ष्य क्रम कहा गया है। अतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम होने पर भी जब शीघ्रतावश प्रतीति न हो तो वहाँ असंलक्ष्य व्यंग्य होता है। इसके अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता आदि का भी समावेश माना जाता है।

(२) **संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य**—जहाँ पर वाक्यार्थ के ज्ञान के बाद व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो अर्थात् जहाँ वाच्य और व्यंग्य का क्रम लक्षित हो रहा हो वहाँ संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य होता है। यह संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य (१) शब्दशक्त्युत्थ (२) अर्थशक्त्युत्थ (३) उभय-शक्त्युत्थ भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें शब्द शक्त्युत्थ के वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि ये दो भेद होते हैं। अर्थ-शक्त्युत्थ के १२ भेद होते हैं। उभय-शक्त्युत्थ का एक भेद होता है। इस प्रकार संलक्ष्य क्रम व्यंग्य के १५ भेद होते हैं।

ग्रन्थकार ने ध्वनि के १ भेदों का कथन किया है। किन्तु सर्वप्रथम मुख्य रूप से ध्वनि के (१) वाच्यतासह (२) वाच्यताअसह ये दो भेद होते हैं। पुनः वाच्यता-सह के (१) अविचित्र (२) विचित्र ये दो भेद होते हैं। इस अविचित्र को वस्तु-ध्वनि और विचित्र को अलंकार-ध्वनि कहते हैं तथा वाच्यताअसह को "रसध्वनि" कहते हैं क्योंकि "रसध्वनि" वाच्यता को सहन नहीं करता है। इस प्रकार ध्वनि के मुख्य तीन भेद होते हैं—

(१) वस्तुध्वनि (२) अलंकारध्वनि (३) रसध्वनि।

ध्वनि-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य जी हैं। यद्यपि आपसे पूर्व रस, अलंकार आदि का पर्याप्त विवेचन हो चुका था। तथापि ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्द्धन को ही प्राप्त हुआ है। आनन्दवर्द्धन ने "काव्य-स्यात्मा ध्वनिः" लिखकर काव्य की आत्मा को ध्वनि माना है। इसके बाद अभिनव-गुप्त ने ध्वन्यालोक पर लोचन नामक टीका लिखकर ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया है। आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय का पर्याप्त विरोध भी हुआ। किन्तु आचार्य मम्मट ने ध्वनि-विरोधी मतों का इस प्रकार खण्डन किया कि वे ध्वनि-

विरोधी सदा के लिये अस्त हो गये। इस प्रकार मम्मट ने गवेषणा एवं विवेचन शैली की उत्कृष्टता से ध्वनि-सिद्धान्त को सुदृढ़तम बना दिया है। अधिक क्या कहें मम्मट ने ध्वनि का विस्तृत रूप प्रदर्शित करते हुए रस को ध्वनि की संज्ञा प्रदान कर "ध्वनिरात्माकाव्यस्य" के सिद्धान्त की पुष्टि की है अर्थात् रस कभी वाच्य नहीं होता है। क्योंकि वह अलौकिक एवं विलक्षण होने के कारण व्यंजना के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अतः रस-ध्वनि है तथा काव्य की आत्मा को रस मानना भी ध्वनि का पोषक है। इसके अतिरिक्त ध्वनि-सिद्धान्त काव्य के भावपक्ष को ही नहीं प्रभावित करता है। अपितु कलापक्ष को भी आत्मसात् किये हुए है। इसलिये अभिनवगुप्त का मत है कि वस्तुतः रस काव्य की आत्मा है। वस्तु ध्वनि और अलंकारध्वनि तो रस में समाविष्ट होकर रहते हैं। यही कारण है कि वस्तुध्वनि अर्थात् व्यंग्य तथा अलंकारध्वनि अर्थात् अलंकार-व्यंग्य वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होते हैं। इस प्रकार अनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय को सुदृढ़ता एव स्थिरता मम्मट ने प्रदान की है। इसीलिये मम्मट को ध्वनि-प्रस्थापनाचार्य कहा जाता है। ●

प्रश्न १९—मम्मट का रसध्वनि अर्थात् असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिये।

(आगरा वि० वि० १९६१, ६२, मेरठ वि० वि० १९६८, ७३, ७८)

Discuss what Mammata means by असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिकाव्य।

उत्तर—आचार्य मम्मट ने ध्वनि का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी अर्थात् सहृदयाह्लादक हो तो वहाँ उस अर्थ को ध्वनि कहा है, अर्थात् ध्वनिप्रधान रचना को उत्तम काव्य कहा है जैसा कि प्रथमोल्लास में उत्तमकाव्य का स्वरूप प्रतिपादित करते हुये लिखा है कि—

"इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"

इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंयार्थ के अधिक चमत्कारी होने पर व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं। मम्मट ने ध्वनि के प्रमुख दो भेदों का उल्लेख काव्यप्रकाश में किया है।

(१) अभिधामूलक ध्वनि (२) लक्षणामूलक ध्वनि

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि—जहाँ वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही हो तो उसे अभिधामूलक ध्वनि कहते हैं। इस अभिधामूलक ध्वनि को ही विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि भी कहते हैं। वाच्यार्थ विवक्षित रहता है तथा वाच्यार्थ अन्यपरक अर्थात् व्यंग्यपरक होता है। इसीलिये व्यंग्यपरक वाच्यार्थ के स्थलों में अभिधामूलक अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि वाच्यार्थ अपने अस्तित्व एवं गौरव की रक्षा के प्रति सजग नहीं रहता है, अपितु व्यंग्यार्थ स्पष्ट करने में ही उत्सुक प्रतीत होता है।

ध्वनि के (१) वस्तु (२) अलंकार (३) रसध्वनि ये तीन भेद होते हैं। ध्वनिप्रतिपादक आचार्य रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। अतः जहाँ वाच्यार्थ रसादि व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये सचेष्ट एवं उत्सुक प्रतीत होता है, तो वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि होती है अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ ज्ञान के बाद तुरन्त व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो वहाँ विवक्षितान्यवाच्यध्वनि होती है। ग्रन्थकार मम्मट ने विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनि के दो भेदों का वर्णन काव्य-प्रकाश में किया है।

(१) असंलक्ष्यक्रमध्वनि (२) संलक्ष्यक्रमध्वनि।

(१) असंलक्ष्यक्रमध्वनि---"न संलक्ष्यते क्रमः यस्य सः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में क्रम होने पर भी अतिशीघ्रता के कारण क्रम की प्रतीति न हो तो वहाँ असंलक्ष्यक्रमध्वनि कहते हैं, जैसे कमल के १०० पत्तों को नीचे ऊपर रखकर एक ऊपर कील रखकर जोर से चुभा दें, तो क्रम होने पर भी कमल पत्तों के भेदन का क्रम शीघ्रता के कारण प्रतीत नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ क्रम तो होता है, किन्तु शीघ्रतावश प्रतीत न होने पर असंलक्ष्यक्रमध्वनि अथवा व्यंग्य करते हैं। इस असंलक्ष्यक्रमध्वनि को ही रसादि ध्वनि के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता, भाव-शान्ति आदि को स्वीकार किया जाता है। रसादि ध्वनि को असंलक्ष्यक्रमध्वनि कहने का तात्पर्य यह है कि इस रसादि ध्वनि में विभाव-अनुभावादि का क्रम होते हुए भी प्रतीत नहीं होता है। यद्यपि विभाव-अनुभाव आदि की क्रमिक उपस्थिति के द्वारा ही रसादि की प्रतीति होती है, तथापि रसादि की प्रतीति इतनी जल्दी होती है कि क्रम का ज्ञान ही नहीं हो पाता है अर्थात् विभावादि के अनन्तर ही रसादि की प्रतीति होती है और क्रम भी होता है। किन्तु व्यंग्यार्थ की प्रतीति शीघ्रतावश अवाच्यार्थ के क्रमिक ज्ञान पर ध्यान ही नहीं जाता है क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति इतनी जल्दी होती है कि पाठक रसमग्न होकर रसास्वाद में तल्लीन हो जाता है और विभावादि के क्रम का अथवा वाच्यार्थ के क्रम का ध्यान ही नहीं कर पाता है। इसके अतिरिक्त यदि रसादि ध्वनि में क्रम न होता तो मम्मटाचार्य इसका नाम अक्रमव्यंग्य लिखते। इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य अपने अन्यर्थक अर्थ को प्रकटित करता हुआ यथा नाम तथा गुण प्रतीत हो रहा है। अतः यहाँ क्रम की सम्यक् प्रतीति न हो और प्रधानरूप से रसादि ध्वनि व्यंजित हो रहा है तो उसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य, अर्थात् रसध्वनि एवं उत्तम काव्य कहते हैं।

यह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य एक प्रकार का होता है क्योंकि इसके रस, भाव आदि अनेक असंख्य अवान्तर भेद होने के कारण गणना असम्भव हो जाती है जैसे उदा-हरण के लिये श्रृंगार रस को ही लीजिये। यह श्रृंगार संयोग तथा वियोग भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें यदि कोई संयोग श्रृंगार के अवान्तर भेदों को (आलिंगनादि को) गणना करना चाहें तो असंख्य अवान्तर भेद हो जायेंगे। जिससे

विषय प्रतिपादन में अनवस्था दोष हो जायेगा । अतः असंलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद नहीं मानते हैं ।

अलंकारशास्त्र में रसादि ध्वनि को अलौकिक एवं चमत्कारजनक माना गया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने चमत्कार गुण, रीति, अलंकार आदि को भी इस ध्वनि के साथ जोड़ दिया है। अतः विभिन्न काव्यलक्षणकारों के काव्यात्मतत्वों को (रीति, अलंकार आदि को) ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट करके ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए "ध्वनिरात्माकाव्यस्य" यह काव्यलक्षण किया है ।

इस प्रकार रसभावादि प्रधान काव्य को ध्वनिकाव्य कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि विभावादि क्रम होने पर अति शीघ्रतावश लक्षित नहीं होते हैं, क्योंकि विभावादि के साथ ही रस, भावादि की प्रतीति, तत्क्षण हो जाती है। इसी को व्यक्त करने के लिये काव्यप्रकाश में लिखा है कि—

रसोदयो हि विभावानुभाव व्यभिचारिभिः प्रथमाविर्भूतैरनन्तरमाविष्क्रियन्ते इत्यस्ति क्रमः । स चाशुभावि त्वान्वलक्ष्यते। विभावादिसमकालमेव रसादीनां । प्रतीयमानत्वात् ।

(२) **संलक्ष्यक्रमव्यंग्य**—जहाँ वाच्यार्य तथा व्यंग्यार्थ के क्रम की सम्यक् प्रतीति अनुभूत हो रही हो तो वहाँ संलक्ष्यक्रमध्वनि अथवा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य होता है अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ ज्ञान के अनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो तो उसे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहते हैं। अतः इस संलक्ष्यक्रमव्यंग्य को विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का दूसरा भेद माना जाता है।

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के (१) असंलक्ष्यक्रम व (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ये दो भेद होते हैं। तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को वाच्यता असह कहते हैं अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ सह्य नहीं होता है । उसको रसादिध्वनि कहते हैं । संलक्ष्यक्रमव्यंग्य को वाच्यतासह कहते हैं तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के (१) वस्तुध्वनि और (२) अलंकारध्वनि ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार मुख्य ध्वनि के ३ भेद होते हैं—

(१) रसादिध्वनि, (२) वस्तुध्वनि, (३) अलंकारध्वनि ।

इस तीनों ध्वनियों से उदाहरण निम्न प्रकार देखे जा सकते हैं ।

(१) **रसादिध्वनि का उदाहरण**—

शून्यं वासगृह विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इसमें नायक, नायिका के पारस्परिक प्रेमपूर्ण मिलन तथा विघ्नरहित सम्भोग

की अभिव्यक्ति हो रही है। यद्यपि शून्य आवास स्थान रूप उद्दीपन विभाव और आलिंगन रूप अनुभाव तथा लज्जा, हर्ष आदि रूप व्यभिचारीभाव और परस्पर नायक, नायिका के विश्वास रूप रति की अभिव्यक्ति होने से क्रम की उपस्थिति विद्यमान रहती है।

तथापि शृंगार रस की अभिव्यक्तिजन्य आनन्द की तन्मयता के कारण, विभावादि क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता है। अतः यहाँ विभावादि क्रम के होने पर भी प्रतीत नहीं होती है। अतः रसादि ध्वनि का असंलक्ष्यक्रमध्वनि नाम उचित ही है। मम्मट ने असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को ही रस माना है। अतः यह उदाहरण संयोग शृंगार का होते हुये रसध्वनि का उदाहरण है। रसादि में आदि शब्द से भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि का ग्रहण किया जाता है।

(२) वस्तु ध्वनि का उदाहरण—

पथिक। नात्र स्रस्तरमस्तिमनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नतपयोधरं वीक्ष्य यदि वससि तद् वस॥

इस श्लोक में कोई स्मरपीडित नायिका रातभर ठहरने के लिये आवास की याचना करने वाले पथिक को सम्बोधित करती हुई कहती है, हे पथिक! इस पथरीले गाँव में कोई भी बिस्तर आदि नहीं है। अतः यदि उन्नत पयोधर (स्तन, मेघ) देखकर रहना चाहते हो तो रह सकते हो। इस वाच्यार्थ से वस्तुरूप व्यंग्यार्थ की अभिव्यन्जना हो रही है हे पथिक यदि तुम रतिक्रीड़ा में समर्थ हो तो रह सकते हो अर्थात् यदि उपभोगक्षम हो तो निश्चित होकर रहिये इस प्रकार अलंकार-शून्य होने के कारण ध्वनि का यह उदाहरण माना जाता है।

(३) अलंकारध्वनि का उदाहरण—

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद! प्रभो।
अहितः सहितः साधुयशोभि रसतामसि॥

प्रस्तुत श्लोक में राजा की प्रशंसा करते हुये कहा है कि हे राजन्! आप 'हर्षद' हैं शत्रुओं के लिये आनन्द के विघातक और मित्रों के लिये आप आनन्ददायक हैं। 'समितः प्राप्तैरुत्कर्षैरमितः, आप युद्ध-भूमि में प्राप्त अपरिमित यश से परिपूर्ण हैं और आप 'असताम्' दुष्टों के लिये 'अहित' दण्डधर हैं और 'साधुयशोभिः सहितः' विपुल यश से सुशोभित हैं। यहाँ यह विरोध के वाचक अपि शब्द के अभाव के कारण 'अमितः' समितः' 'अहितः सहितः' में विरोधाभास अलंकार व्यंग्य है। यद्यपि उपमा आदि अलंकार स्वयं सुशोभित होता है। किसी अन्य को सुशोभित नहीं करते हैं क्योंकि व्यंग्यार्थ सबसे प्रधान होती है। तथापि ब्राह्मण श्रमण-न्याय से व्यंग्य दशाओं में भी अलंकार पद का प्रयोग होता है जैसे—कोई ब्राह्मण जैसे साधु (श्रमण) हो जाये, तो फिर वह ब्राह्मण नहीं रह जाता है तथापि पहली दशा के अनुसार उसको 'ब्राह्मण-श्रमण' कहते हैं। इसी प्रकार व्यंग्य होने पर भी उपमा आदि अलंकार पदों का प्रयोग ब्राह्मण-श्रमण न्याय से ही होता है।

इस प्रकार मम्मट के द्वारा प्रतिपादित असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रमध्वनि के मुख्य तीन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुये असंलक्ष्यक्रम ध्वनि को ही काव्य की आत्मा अथवा रसध्वनि माना गया है।

प्रश्न २०—रस सम्बन्धी सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुये साधारणीकरण व्यापार का विवेचन कीजिये। **(मेरठ वि० वि० १९८१)**
(आगरा वि० वि० १९५७, ५८, ६०, ६२, ६३, ७४, ७६)

Examine critically the psychological nature of साधारणीकरण व्यापार in the process of the development of रस।

उत्तर—संस्कृत साहित्य में प्रतिपादित रस की प्राचीनता एवं रस की महत्ता सर्वविदित है। तैत्तिरोयउपनिषद् में रस का महत्व प्रदर्शित करते हुये लिखा है कि—

'रसो वै सः यं लब्ध्याऽनन्दी भवति'।

इस प्रकार रस को ब्रह्म प्रतिपादित करते हुये कहा कि जिसको प्राप्त करके मानव आनन्द को प्राप्त करता है वह रस ही है। वेदव्यास जी ने भी रस का महत्व स्वीकार करते हुये काव्य का प्राण रस माना है जैसे कि निम्न पंक्ति से स्पष्ट हो रहा है कि—

'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्'

इसके अतिरिक्त आदि कवि महर्षि बाल्मीकि ने अपने आदि काव्य की रचना करुण रस प्रेरणा एवं करुण रस के उद्रेक से प्रेरित होकर ही की है जो बाल्मीकि का करुणरसरूप पद्य लौकिक साहित्य का प्रथम छन्द स्वीकार किया जाता है। यथा—

मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रोञ्चमिथुनादेकम वधीः काममोहितम्॥

ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बाल्मीकि के इसी श्लोक को आधार स्वीकार करके ध्वनि का मूल तत्व रस माना है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि रस के सर्वप्रथम प्रवर्त्तक कौन थे। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये राजशेखर ने इसका प्रवर्त्तक नन्दिकेश्वर को माना है, परन्तु नन्दिकेश्वर का रस प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं प्राप्त है तथा नन्दिकेश्वर को रस प्रवर्त्तक स्वीकार करने का कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता है। अतः नन्दिकेश्वर को रस-प्रवर्त्तक नहीं माना जाता है। (१) इसके अतिरिक्त इसका स्वरूप सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। अतः रस सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रस-सूत्र की रचना की। यद्यपि नाट्यशास्त्र से पूर्व रस का आविर्भाव हो चुका था। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध वासुकि, नारद, ब्रह्म आदि से भी था। ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं तथापि नारद, ब्रह्मा आदि के कोई ग्रन्थ न प्राप्त होने के कारण प्रमाणरूप में कुछ नहीं कहा

जा सकता है। अतः भरतमुनि को ही रस का प्रवर्त्तक कहा जाता है। नाट्याचार्य भरतमुनि के मत से 'आस्वाद्य' को रस कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अनेक प्रकार के सुसंस्कृत व्यञ्जनादि भोज्य-पदार्थ खाते हुये 'आस्वादन' से आनन्दानुभूति होती है उसी प्रकार सहृदय अभिनयादि की निपुणता से व्यंज्यमान रस का अनुभव अथवा आस्वाद प्राप्त करते हैं। अतः रस के सम्बन्ध में भरतमुनि का मत है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यही भाव भरतमुनि के प्रख्यात निम्नस्थ रस सूत्र में व्यक्त हो रहा है कि—

'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'—(१) भरतमुनि के बाद अग्निपुराण में रस की व्याख्या दृष्टिगोचर होती है। वेदान्त में प्रतिपादित अद्वैतब्रह्म चैतन्य एवं स्वयं प्रकाशक तथा आनन्दस्वरूप जो ब्रह्म अथवा ईश्वर कहा गया है। अग्निपुराण के मतानुसार वह ब्रह्म ही काव्य का रस-चैतन्यता एवं चमत्कार का जनक होता है (३) इसके पश्चात् भामह और दण्डी ने साक्षात् रस के विषय में कुछ नहीं कहा है किन्तु अलंकारों का निरूपण करते हुये अलंकारों के अन्तर्गत रसवद् अलंकारों का भी निरूपण किया गया है। (४) इसके बाद वामन ने साहित्य जगत् में पदार्पण करके भामह तथा दण्डी द्वारा प्रतिपादित रसवद् अलंकारों के बन्धन से रस को निकालकर रस को गुणक्षेत्र में प्रतिष्ठापित किया। (५) आनन्दवर्द्धन ने रस को ध्वनि मानकर काव्य को आत्मा ध्वनि स्वीकार की है। (६) कुन्तक ने रससिक्तवाणी को काव्य नहीं माना। (७) अग्निपुराण के मत को स्वीकार करते हुये भोज ने अग्निपुराणोक्त रस का दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाकर रस को अखण्ड तथा एक स्वीकार किया है किन्तु शृंगार रस को रसराज स्वीकार किया है।

(८) काव्यप्रकाशकार ने रसस्वरूप स्पष्ट करते निम्न कारिकाओं को लिखा है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
इत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावानुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

इन कारिकाओं का आशय यह है कि लोक में जो कारण (युवक, युवती) कार्य पारस्परिक चेष्टायें और 'सहकारी कारण निद्रा का न आना, रातें जागना, कराहना आदि) होते हैं। ये लोक में होने वाले कारण, कार्य एवं सहकारी कारण आदि अभिनयरूप नाटक में अभिनीत होने पर तथा काव्य में वर्णित होने पर रति आदि स्थायीभाव के (कारण) होते हैं। तब लोक के कारण, कार्य सहकारी कारण आदि को नाटक तथा काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव कहते हैं और उन विभाव अनुभावादि के द्वारा व्यक्त हुए स्थायीभाव को रस कहते हैं। मम्मट की

इन कारिकाओं में भरतमुनि के रस-सूत्र का आशय स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है। भरतमुनि के रस सूत्र की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने की है। जिनमें ४ व्याख्याकारों के नाम (१) भट्टलोल्लट (२) शंकुक (४) भट्टनायक (४) अभिनवगुप्त, प्रमुख माने जाते हैं।

(१) भट्टलोल्लट—भट्टलोल्लट ने निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति स्वीकार किया है। इसीलिये भट्टलोल्लट को उत्पत्तिवादी आचार्य कहा जाता है तथा उसके मत को उत्पत्तिवाद के नाम से अभिहित किया गया है। आपके मत से नायक-नायिका रूप आलम्बन विभाव से तथा उद्यान आदि उद्दीपन-विभाव से रस प्रथम उत्पन्न होता है। तदनन्तर कटाक्षादि अनुभाव से रस प्रतीत होता है तथा फिर निद्राक्षय, कराह आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्ट हुआ रस अभिनेता नट में प्रतीत होता है। इस प्रकार यह समझना चाहिये कि स्थायीभावों के साथ विभावों का उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध तथा अनुभावों का गम्यगमक भाव सम्बन्ध और व्यभिचारी भावों का पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध माना है। यह मत मीमांसक तथा वेदान्तियों का मत माना जाता है।

इस मत में प्रथम दोष यह माना गया है कि अभिनेता नट में रस की उत्पत्ति मानना नितान्त असंगत है।

(१) क्योंकि जब रस की उत्पत्ति नट में होती है तो फिर सामाजिकों को अभिनय से क्या लाभ ? (२) तथा अभिनीयमान सीताराम के अभाव में अर्थात् अब इस लोक में विद्यमान् न होने के कारण अभिनय से रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। (३) इसके अतिरिक्त नट तो अर्थ के लोभ से अभिनय करता है। इसलिये हृदय में भयभीत होता रहता है कि मेरा अभिनय सामाजिकों को रुचिकर लग रहा है या नहीं। अतः नट में उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जा सकती है।

शंकुक—आपका मत नैयायिक मत माना जाता है। इसलिये शंकुक को अनुमितिवादी आचार्य कहा जाता है। आपके मत से रस अनुमेय है तथा विभाव आदि अनुमापक हैं। इत्यादि स्थायीभाव नायक में विद्यमान रहते हैं। निष्पत्ति अर्थात् रस की विभावादि के द्वारा अनुमिति होती है। रस मुख्यरूप से राम में विद्यमान रहता है। सहृदय सामाजिक रस नट में अनुमान करते हैं। शंकुक का यह अनुमितिवाद भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद पर ही आश्रित सहृदय सामाजिक पर नायक रामादि का आरोप प्रतीत होता है। अन्तर केवल इतना है कि भट्टलोल्लट के मत में सहृदय सामाजिक नट पर नायक रामादि का आरोप कर लेता है और शंकुक के मत में सामाजिक नट में रस का अनुमान करता है।

शंकुक का यह अनुमान लौकिक अनुमान से विलक्षण है। शंकुक के कथनानुसार लोक में ४ प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं।

(१) सम्यक्ज्ञान (यह राम है, यही राम है)

(२) मिथ्याज्ञान (राम को राम न समझना)

(३) संशयज्ञान (यह राम है या नहीं है)

(४) सादृश्यज्ञान (यह राम के समान है)

परन्तु शंकुक ने इन चारों अनुमान के प्रकारों से भिन्न चित्रतुरगन्याय से राम के रूप का अनुमान नट में कर लिया जाता है अर्थात् जिस प्रकार चित्रस्थ घोड़े को देखकर मान लेते हैं कि वास्तव में यह घोड़ा है। उसी प्रकार सहृदय सामाजिक अभिनय के समय अभिनय की कुशलता से नट को राम समझ लेते हैं और विभावादि के द्वारा अभिनेता नट में राम का अनुमान करते हैं। अतः विभाव अनुभावादि के द्वारा अनुमाप्य अनुमापक सम्बन्ध से रस की अनुमिति होती है।

वस्तुतः शंकुक का यह अनुमितिवाद भी दोषपूर्ण है। शंकुक के मतानुसार विभावादि नट में रस की अनुमिति नहीं हो सकती है, क्योंकि विभावादि नट वस्तुतः विभावादि नहीं हैं अपितु कृत्रिम विभावादि हैं। कृत्रिम विभावादि में रस की अनुभूति सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त अनुमिति तो परोक्ष वस्तु की होती है। तो प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। उसको परोक्ष नहीं कह सकते हैं, क्योंकि रसजन्य आनन्द की अनुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान से हो सकती है परोक्ष ज्ञान से नहीं। इसके अतिरिक्त अनुमान के व्याप्ति, लिङ्ग परामर्श आदि हेतु निश्चित होते हैं। हेतुओं के अभाव में अनुमान हेत्वाभाव कहा जाता है। अतः अनुमान के हेतुओं के अभाव में अलौकिक रस की अनुमिति नहीं हो सकती है। इस प्रकार शंकुक का यह अनुमितिवाद भी उचित नहीं प्रतीत होता है।

भट्टनायक--सांख्यमतावलम्बी भट्टनायक का रस सम्बन्धी सिद्धान्त मुक्तिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। आपने संयोग का अर्थ भोज्यभोजक सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ मुक्ति माना है। आपके मत से रस की निष्पत्ति अभिनेय रामादि में भी नहीं होती है तथा अभिनेता नट में भी नहीं होती है क्योंकि दोनों उदासीन हैं। रस के प्रति दोनों उत्सुक नहीं हैं। वास्तव में रस की निष्पत्ति सामाजिकों में होती है। भट्टनायक ने भट्टलोल्लट तथा शंकुक के मतों का खण्डन करते हुये कहा है कि लोल्लट रस की उत्पत्ति मुख्यरूप से अभिनेय राम में और गौणरूप से अभिनेता नट में मानते हैं। किन्तु रसानुभूति तो उदासीन व्यक्ति में नहीं होती है। इस प्रकार तटस्थ राम तथा नट से सामाजिकों का सम्बन्ध नहीं बनता है। अतः तटस्थ राम और नट में क्रमशः मुख्य और गौणरूप से रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है, इसलिये भट्टलोल्लट का मत उचित प्रतीत होता है। शंकुक ने तटस्थ नट में रस की अनुमिति स्वीकार की है किन्तु अनुभूति तो परोक्षज्ञान की होती है प्रत्यक्ष ज्ञान की नहीं होती है। रस की अनुभूति तो प्रत्यक्ष होती है। अतः परोक्षानुभूति न होने के कारण अनुमितिवाद भी उचित नहीं है। व्यंजनावादी अभिनवगुप्त ने रस की निष्पत्ति सामाजिकों में स्वीकार की है तथा सामाजिकों में रस की उत्पत्ति

या अनुमिति न मानकर अभिव्यक्ति स्वीकार की है। परन्तु भट्टनायक के मत से रस की अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती है क्योंकि अभिव्यक्ति तो विद्यमान वस्तु अथवा व्यक्ति की होती है क्योंकि वस्तु अथवा व्यक्ति की सत्ता अभिव्यक्ति से पूर्व और बाद ही विद्यमान रहती है। जबकि रस तो केवल अनुभूति के क्षण ही अनुभूत होता है। अनुभूति से पूर्व और पश्चात् रस की सत्ता विद्यमान नहीं रहती है। अत: अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद भी मान्य एवं समीचीन नहीं है। इस प्रकार भट्टनायक ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, तथा अभिव्यक्तिवाद का खण्डन करके मुक्तिवाद का प्रतिपादन किया है।

भट्टनायक ने भुक्तिवाद का समर्थन करने के लिये अभिधा के साथ भावकत्व और भोजकत्व नामक दो व्यापारों की नूतन कल्पना की है।

(१) अभिधा-व्यापार के द्वारा काव्य का केवल अर्थबोध ही किया जा सकता है।

(२) भावकत्व व्यापार अभिधा उत्पन्न अर्थ को परिष्कृत करके सामाजिकों के लिये आस्वाद्य बना देता है अर्थात् अभिधा से उत्पन्न काव्य का अर्थ एक नायक-नायिका की प्रेम कथा से सम्बन्धित होता है। भावकत्व व्यापार इस कथा को परिष्कृत करके व्यक्ति विशेष से (रामादि से) पृथक् करके (सामाजिकों के हृदय से) साधारणीकरण कर देता है। इस प्रकार भावकत्व व्यापार से राम का रामत्व सीता का सीतात्व दूर होकर एक पुरुष और सामान्य स्त्री रूप हो जाता है। साधारण नायक-नायिका के रूप में उपस्थित होता है और उनका प्रेम साधारण दाम्पत्य की कोटि में आ जाता है। यह भावकत्व व्यापार ही साधारणीकरण व्यापार है।

(३) इस प्रकार उपर्युक्त भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण हो जाने के पश्चात् भोजकत्व व्यापार से साधारणीकरण की प्राप्त विभावादि रस रूप में स्वाद का विषय बनते हैं अर्थात् भट्टनायक के मतानुसार सर्वप्रथम काव्य का अर्थबोध होता है फिर उसका चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् रजोगुण और तमोगुण के अभिभूत होने से सत्वगुण का उद्रेक होता है। सत्वगुण की अतिशयिता होने पर सामाजिक साधारणीकृत विभावादि की आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं तथा यह आनन्दानुभूति रस होती है तथा यह आनन्दानुभूति वेद्यान्तर स्पर्श शून्य और सामान्य आनन्द की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। अत: इस आनन्दानुभव को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

भट्टनायक का यह यह साधारणीकरण व्यापार काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण सिद्धांत है। यह साधारणीकरण व्यापार ही सामाजिकों को रस दशा तक पहुँचाता है। वस्तुत: भट्टनायक का यह मत इतना सशक्त एवं सत्य है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने भी साधारणीकरण की गौरवता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण को केवल शब्द का व्यापार ही नहीं स्वीकार किया है अपितु मानसिक व्यापार भी माना है तथा भोजकत्व व्यापार को रसास्वाद के अन्तर्गत

और भावकत्व व्यापार को ध्वनि के अन्तर्गत स्वीकार किया है। सांख्यवादी भट्टनायक ने साधारणीकरण को मानसिक व्यापार तथा मनोवैज्ञानिक व्यापार माना है। यह साधारणीकरण व्यापार केवल शब्दव्यापार नहीं है क्योंकि अभिधा हीं शब्द व्यापार है। भावकत्व व्यापार तो अन्तःकरण का धर्म है। अतः साधारणीकरण को मानसिक व्यापार माना जाता है। इसके अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार भी साधारणीकरण रूप मानसिक व्यापार का अनुसरण कर रहा है और सत्तवोद्रेक ऐसे मानसिक व्यापार का उद्भावक होता है। इस प्रकार भट्टनायक का यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक है।

अभिनवगुप्त–आपका रस सम्बन्धी सिद्धांत अभिव्यक्तिवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अभिनवगुप्त का यह मत भट्टनायक के मत का अनुसरण करता हुआ प्रतीत हो रहा है। आपने भावकत्व और भोजकत्व व्यापार को साक्षात् उस नाम से नहीं अभिहित किया है अपितु भावकत्व को साधारणीकरण के नाम से और भोजकत्व को रसाभिव्यक्ति के नाम से स्वीकार किया है तथा भट्टनायक के सत्तवोद्रेक से अभिनवगुप्त ने वेद्यान्तर (स्पर्शशून्य) की प्रेरणा प्राप्त की है। भट्टनायक ने अपने भुक्तिवाद सिद्धान्त के प्रतिपादन में स्थायी भावों का उल्लेख नहीं किया है तथापि साधारणीकरण ऐसे मनोवैज्ञानिक व्यापार को स्वीकार करने वाले भट्टनायक को सहृदय हृदयस्थित स्थायीभाव की सत्ता अवश्य स्वीकार रही होगी। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने रस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करके रस की विलक्षणता सिद्ध की है। अभिनवगुप्त के मतानुसार साधारण व्यापार द्वारा स्थायीभाव ही विभावादि के द्वारा व्यंजित होकर शृंगारादि रस रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

इस प्रकार इस संक्षिप्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम दो मत (१) भट्टलोललट का उत्पत्तिवाद और (२) शंकुक का अनुमितिवाद रससिद्धि के लिये उपयुक्त नहीं है। अन्य दो मत (३) भट्टनायक का भक्तिवाद तथा (४) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही रस सिद्धि के समीचीन एवं उपादेय तथा तर्कसंगत है। आजकल अभिनवगुप्त का अभिव्यक्ति वाद ही अधिक मान्य समझा जाता है। ●

प्रश्न २१—अभिनवगुप्त के रस सिद्धान्त का तर्कसंगत विवेचन करते हुये रस का अलौकिकत्व सिद्ध कीजिये।

(आगरा वि० वि० १९५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ६४, ६५, ७८, ८०)

Write the theory of Rasa as propounded by श्रीमदाचार्यभिनवगुप्तवाद and show how it differs from other theories given in the काव्यप्रकाश in salient points.

उत्तर—भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त की मान्यता अतिप्राचीन है। तैत्तिरीयउपनिषद् में रस का संकेत "रसौ वै सः" के रूप में उपलब्ध होता है। किन्तु रस-स्वरूप का स्पष्टीकरण भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है। अत-

एव भरतमुनि को ही रस-सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। भरतमुनि ने रस को आस्वाद्य कहा है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के सुसंस्कृत व्यंजनों के आस्वाद से लोग रसानुभूति अर्थात् आनन्द की अनुभूति करते हैं। उसी प्रकार नाट्य की निपुणता से विभावादि से व्यंजित रस का सहृदय सामाजिक आस्वादन करते हैं। अत: भरतमुनि के मत से विभावादि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जैसा कि भरतमुनि का अभिप्राय उसके निम्नलिखित रस-सिद्धान्त प्रतिपादक रस-सूत्र से अभिव्यक्त हो रहा है । यथा—

"विभावानु भावव्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः ।"

भरतमुनि के इस रस-सूत्र के आधार से ही रस स्वरूप का प्रतिपादन विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार किया है । अग्निपुराण तो रस को चैतन्यस्वरूप तथा चमत्कारजनक स्वीकार करते हुये दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। भामह तथा दण्डी ने भी अलंकारों के प्रसंग में रसवद् अलंकारों की मान्यता स्वीकार करते हुये रस की महत्ता स्वीकार की है। आनन्दवर्द्धन ने रस का गौरव समझते हुए ध्वनि के तीन भेद करके ध्वनि अर्थात् मुख्य रूप से रस ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।

कुन्तक ने रससिक्त रचना को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। भोज ने रस का महत्व प्रतिपादित करते हुये श्रृंगार को रसराज माना है।

भरतमुनि ने मुख्यरूप से ४ रसों की सत्ता स्वीकार करते हुये शेष चार रसों की उत्पत्ति श्रृंगारादि चार रसों से मानी है। अग्निपुराण में भी भरतमुनि के मत का प्रतिपादन मिलता है। यद्यपि भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या अनेक विद्वानों ने की है तथापि उनमें चार विद्वानों की व्याख्या का प्रमुख स्थान माना जाता है। रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भरतमुनि के रससूत्र के व्याख्याताओं के ११ नामों का संकेत किया है । परन्तु मुख्य चार संतों को ही स्वीकार किया है। उनके चार नाम (१) भट्टलोल्लट, (२) शंकुक, (३) भट्टनायक, (४) अभिनवगुप्त हैं। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक टीका का प्रणयन किया है तथा भरतमुनि के रस-सिद्धान्त पर पर्याप्त तर्कसंगत विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने रससूत्र की व्याख्या करने वाले अनेक विद्वानों का मत प्रदर्शित करते हुए मुख्य रूप से (१) भट्टलोल्लट, (२) शंकुक, (६) भट्टनायक की व्याख्या की समीक्षा करते हुये रस की अभिव्यक्ति स्वीकार की है। सर्वप्रथम भट्टलोल्लट के मत की समीक्षा की है।

भट्टलोल्लट—आपके मत से निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति और संयोग का उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध है। इसीलिये भट्टलोल्लट को उत्पत्तिवादी आचार्य माना जाता है तथा उनके मत को उत्पत्तिवादी कहा जाता है। आपके मत से अभिनेय राम में रस की उत्पत्ति मुख्य रूप से होती है तथा गौण रूप से अभिनेता नट में रस की

उत्पत्ति होती है। परन्तु अभिनेय राम के परोक्ष होने के कारण रस की उत्पत्ति राग में नहीं हो सकती है क्योंकि रस की अनुभूति प्रत्यक्ष होती है। इसके अतिरिक्त रस की उत्पत्ति नट में यदि स्वीकार की जाती है तो सामाजिकों को नाटक से क्या लाभ होगा तथा अभिनेता नट में रस की उत्पत्ति इसलिये भी नहीं स्वीकार की जा सकती है क्योंकि नट तो अर्थ लोभवश अभिनय करता है। अतः नट के हृदय में भय विद्यमान रहता है कि मेरा अभिनय सामाजिकों को रुचिकर प्रतीत हो रहा है या नहीं। इस भय से आक्रान्त होने के कारण भी नट में रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः भट्टलोल्लट का मत मान्य नहीं है।

शंकुक—नैयायिक शंकुक को अनुमितिवाद मत का प्रतिपादक माना जाता है। आपके मत से सहृदय सामाजिक अभिनेता नट में चित्रतुरंगन्याय से नट को नट जानते हुये भी नट न स्वीकार कर राम का आरोप मानकर राम मानते हैं। आशय यह है कि शंकुक विभावादि के द्वारा अनुमाप्य अनुमापक सम्बन्ध से रस का नट में सामाजिक चित्रतुरंगन्याय से अनुमान करते हैं। इस प्रकार अभिनेय नायक नायिका आदि के मूल भावों का अनुकरण ही आपके मत से रस होता है। परन्तु शंकुक का यह अनुमितिवादी (१) अनुमान पर आधारित होने कारण तथा (२) अनुमान के व्याप्तिलिंग परामर्श एवं पक्ष, सपक्ष, विपक्ष आदि हेतुओं के अभाव के कारण, (३) इसके अतिरिक्त अनुमान का ज्ञान होने के कारण रस की प्रत्यक्षानुभूति होती है। अतः रस प्रत्यक्ष अनुभूत होने के कारण अनुमिति का विषय नहीं हो सकता है। इसलिये शंकुक का अनुमितिवाद भी उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सका है।

भट्टनायक—भट्टनायक सांख्यवादी आचार्य थे। आपके मतानुसार निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति और संयोग का अर्थ भोज्य भोजक भाव है। आपका मत भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। भट्टनायक के मतानुसार रस की निष्पत्ति अभिनेय राम में नहीं हो सकती है। तथा अभिनेता नट में भी रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि ये दोनों अभिनेय राम और अभिनेता नट उदासीन हैं। तटस्थ इन दोनों में रस की निष्पत्ति संभव नहीं हो सकती है। वास्तविक रसानुभूति तो सामाजिकों में होती है। अतः भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद तथा शंकुक का अनुमितिवाद स्वीकार्य मत नहीं माने जाते हैं। भट्टनायक ने अभिधा के अतिरिक्त (१) भावकत्व तथा (२) भोजकत्व नामक दो व्यापारों की कल्पना की है। अभिधा केवल अर्थमात्र का बोध कराती है तथा भावकत्व व्यापार के द्वारा रामादि के विशिष्ट व्यक्तित्व का परिहार करके **"साधारणीकरण"** हो जाता है और भोजकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीकृत विभावादि का रसरूप अनुभूति का विषय होता है। यह रसानुभूति रस है। रस तो एक अलौकिक आनन्दरूप रस है। रस तो एक अलौकिक आनन्दानुभूति है। अतः रस को वेद्यान्तर (स्पर्श शून्य) तथा ब्रह्मानन्द सहोदर कहा जाता है।

अभिनवगुप्त—व्यंजनावादी अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के भुक्तिवाद से प्रेरणा

प्राप्त करके अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की है। आपने भट्टनायक के भुक्तिवाद का स्वरूप और अधिक परिष्कृत किया है। भट्टनायक के भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापार की आवश्यकता न मानकर व्यंजना व्यापार से ही रस की अभिव्यक्ति स्वीकार की है। अतः आपके मतानुसार व्यंजना के द्वारा ही सकल विघ्नों की समाप्ति तथा विभावादि के संयोग से अर्थात् व्यंग्य व्यंजक सम्बन्ध से निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति होती है जिसे भुक्ति या आस्वाद कहते हैं। भावकत्व व्यापार की व्यंजना का प्रथम उन्मेष है तथा द्वितीय उन्मेष भोगीकरण है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के मतानुसार विभावादि के द्वारा संयोग से अर्थात् व्यंग्य व्यंजक सम्बन्ध में रस की निष्पत्ति अर्थात् अभिव्यक्ति सामाजिकों को होती है अर्थात् रत्यादि स्थायीभाव विभावादि के द्वारा साधारणीकृत होकर शृंगारादि रसों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। रसानुभूति की दशा में सामाजिक इतना आनन्दविभोर हो जाता है कि उसे कुछ ज्ञात नहीं रहता है कि—ये विभावादि मेरे हैं या शत्रु के हैं या तटस्थ के हैं न मेरे हैं और न शत्रु के हैं, न तटस्थ के हैं। इसका आशय यह है सामाजिकों को रसानुभूति दशा में कुछ भी अन्य ज्ञान नहीं रहता है। इसलिये रस को वेद्यान्तर (स्पर्श शून्य) कहा गया है। अतः सामाजिक रसानुभूति काल में अन्य ज्ञान के सम्पर्क से शून्य अथवा रहित होकर स्वयं प्रकाशक रस का आस्वादपानक रस के समान करता है। यही आस्वाद्यमान रस स्फुरित सा होता हुआ सामाजिकों के हृदय में प्रविष्टसा होता हुआ सकल अंगों में व्याप्त सा होता हुआ अन्य सांसारिक रागद्वेष आदि के ज्ञान को तिरोहित सा करता हुआ ब्रह्मानन्द के समान आनन्दानुभूति कराता है। यही कारण है कि अलौकिक आनन्दानुभूति कराने के कारण इसको अलौकिक तथा वेद्यान्तर स्पर्श शून्य और ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं।

(१) **रस की अलौकिकता**—अलंकारशास्त्र में अलंकारिकों ने रस को वेद्यान्तर स्पर्श शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर, अखण्ड, चिद्रूप, स्वयं प्रकाशक तथा अलौकिक स्वीकार किया है। इस ब्रह्मानन्द सहोदर रस को सभी सामाजिक नहीं प्राप्त करते हैं। कोई बिरले ही सहृदय सामाजिक रसानुभूति के आनन्द को प्राप्त करते हैं। जैसे साधना करने वाले योगियों में कोई बिरला ही योगी ब्रह्मानन्द की दशा को प्राप्त होता है। अतः काव्यानन्द की प्राप्ति सभी को नहीं होती है। क्योंकि रस अलौकिक है। वह लौकिक नियन्त्रणों से सर्वथा रहित है। इसलिये अलौकिक वेद्यान्तर स्पर्श शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर रस अलौकिक है और उसकी अनुभूति बिरले सामाजिकों को अथवा पाठकों को होती है।

(२) **रस की अलौकिक सिद्धि**—अभिनवगुप्त ने रस को अलौकिक माना है अर्थात् रस लौकिक वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है। क्योंकि सांसारिक सभी वस्तुयें दो प्रकार की होती हैं। (१) कार्य, (२) ज्ञाप्य। घटपट आदि कारण विशेष से उत्पन्न होने के कारण कार्य कहे जाते हैं तथा दूसरे प्रकार की वस्तुयें ज्ञाप्य होती हैं जैसे —

दीपक के प्रकाश से घट का ज्ञान होता है तो यहाँ दीपक के द्वारा ज्ञात होने के कारण घट ज्ञाप्य कहा जाता है अर्थात् पूर्व सिद्ध पदार्थ का किसी साधन के द्वारा ज्ञान होने पर उस पदार्थ को ज्ञाप्य कहा जाता है और जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं है, किसी कारण विशेष के व्यापार से जिसकी उत्पत्ति होती है तो वह पदार्थ कार्य कहा जाता है। परन्तु रस को न तो कार्य अथवा न तो ज्ञाप्य कह सकते हैं। कार्य इसलिये नहीं कह सकते हैं कि घट कार्य कारण अर्थात् कुम्भकार के नष्ट होने पर भी विद्यमान रहता है परन्तु रस तो विभावादि के नष्ट होने पर प्रतीत ही नहीं हो सकता। अतः रस को कार्य नहीं कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त रस को ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि रस लौकिक वस्तु के समान पूर्वसिद्ध एवं ज्ञान के पश्चात् विद्यमान नहीं रहता है। रस की प्रतीति तो सहृदयों को क्षणिक होती है। अर्थात् रस का अस्तित्व अनुभव क्षण से पूर्व नहीं रहता है तथा अनुभव के पश्चात् भी नहीं रहता है। अतः रस को ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार रस कार्य और ज्ञाप्य दोनों से भिन्न होने के कारण रस की अलौकिकता सिद्ध हो रही है।

(२) **लौकिक वस्तुओं के दो प्रकार** के कारण होते हैं। (१) कारण और (२) ज्ञापक। किन्तु जब रस का कार्य तथा ज्ञाप्य ही नहीं है तो उसके (३) कारण और (४) ज्ञापक, ये दो कारण भी नहीं हो सकते हैं। अतः अलौकिक रस के हेतु व्यंग्य-व्यंजक भाव तो कारण और ज्ञापक से विलक्षण होने के कारण अलौकिक ही है। इस प्रकार अलौकिक रस का हेतु व्यंजक भाव भी अलौकिक होने के कारण रस की औकिकता में सन्देह ही नहीं उत्पन्न होता है।

(३) इसके अतिरिक्त लौकिक पदार्थ तो वर्तमान, भूत, भविष्यकाल के नियन्त्रण में नियन्त्रित रहते हैं। परन्तु स्वयं प्रकाशक रस न भूत है और न वर्तमान है तथा न भविष्य है। रस तो काल त्रयातीत है क्योंकि रस कार्य तथा ज्ञाप्य में होने के कारण वर्तमान की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। इसलिये भी रस अलौकिक है।

(४) यदि रस को नित्य कहें तो रस नित्य भी नहीं है क्योंकि विभावादि के प्रथम रसानुभूति असम्भव है। अतः जब रस की सत्ता रसानुभूति से पूर्व नहीं होती है तो रस को नित्य नहीं कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त रस को परोक्ष ज्ञान का विषय भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि रस की प्रतीति साक्षात् आनन्द स्वरूप होती है। इस प्रकार रस प्रत्यक्ष भी नहीं है क्योंकि रस एक अलौकिक शब्द ज्ञान है। इससे भी रस की अलौकिकता सिद्ध है।

(५) रसानुभूति को न निर्विकल्प ज्ञान और न सविकल्पक ज्ञान कह सकते हैं जैसे—घट को देखकर दर्शक के चित्त में "यह कुछ है" ऐसा ज्ञान होता है निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं किन्तु रस तो विभावादि के ज्ञान से सम्बद्ध तथा आनन्द-स्वरूप होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान की कोटि में नहीं आता है। सविकल्पक ज्ञान

भी रस का सिद्ध नहीं होता है क्योंकि सविकल्पक ज्ञान तो जाति की नाम आदि की योजना से बद्ध होता है—जैसे घटपट आदि ज्ञान के लिये नाम जाति आदि का ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिये घटपट आदि सविकल्पक ज्ञान की परिधि से नियन्त्रित होते हैं किन्तु रस तो केवल अनुभूति का विषय है इसलिये रस से विकल्पक ज्ञान से भिन्न होता है। अतः रस के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ज्ञान न हो सकने के कारण रस की अलौकिकता स्वयं सिद्ध हो रही है।

वस्तुतः काव्य की आत्मा रूप, रस एक अनिर्वचनीय तथा विलक्षण वस्तु है क्योंकि अलौकिक वस्तुओं के समान रस के कार्य एवं ज्ञाप्य तथा कारण और ज्ञापक न होने के कारण रस एक अलौकिक तत्व है लेकिन सहृदय, हृदय संवेद्य वेद्यान्तर स्पर्श शून्य, अखण्ड, आनन्दस्वरूप, ब्रह्मानन्द सहोदर है। अतः रस एक अलौकिक एवं विलक्षण सहृदयाह्लादक काव्य का प्राण तत्त्व है। इस प्रकार रस की अलौकिकता में सन्देह का स्थान नहीं है।

प्रश्न २२—गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम काव्य) के भेदों का सोदाहरण विवेचन कीजिये। (आगरा वि० वि० १९५७, ५८, ६०, ६२, ६३ ६४, ६६, ८७)

Explain the eight kinds of the गुणीभूतव्यङ्ग्य as enumerated by मम्मट and give illustrations of any two of them.

उत्तर—आचार्य मम्मट ने प्रथम उल्लास में तीन प्रकार के—(१) ध्वनि प्रधान उत्तमकाव्य, (२) व्यंग्यार्थ गौण हो जाने पर मध्यकाव्य, (३) व्यंग्यार्थ रहित रचना को अधमकाव्य—काव्यों का कथन किया है। चतुर्थ उल्लास में ध्वनि प्रधान अर्थात् उत्तम काव्य का विस्तार के साथ निरूपण करने के पश्चात् पञ्चम उल्लास के प्रारम्भ में ही मध्यकाव्य अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण करते हुए, गुणीभूतव्यंग्य के ८ भेदों का निरूपण निम्न प्रकार से किया है—

अगूढमपरस्याङ्गं वाक्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्य प्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्॥

इस प्रकार गुणीभूत व्यंग्य अर्थात् मध्यकाव्य के आठ भेदों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है।

(१) अगूढ़व्यंग्य, (२) अपरस्याङ्गभूतव्यंग्य, (३) वाच्यसिद्ध्यङ्गभूतव्यंग्य (४) अस्फुट अर्थात् गूढ व्यंग्य, (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य, (६) तुल्यप्राधान्यव्यंग्य, (७) काक्वाक्षिप्तव्यंग्य, (८) असुन्दरव्यंग्य।

इन आठ गुणीभूतव्यंग्य में भेदों के अगूढ व्यंग्य अर्थात् स्पष्ट व्यंग्य को अस्फुट व्यंग्य अर्थात् गूढ व्यंग्य को भी गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है क्योंकि ध्वनि की मान्यता सहृदय संवेद्य होने के कारण सहृदयों के अनुभव के अनुसार ही स्वीकार की जाती है। सहृदयों के अतिरिक्त सामान्य व्यक्तियों के द्वारा अनायास गृहीत किये जाने वाला व्यंग्य अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण वाक्यार्थ के समान ही

हो जाता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी न होने के कारण स्पष्ट व्यंग्य को गुणीभूतव्यंग्य कहा गया है। इसी प्रकार जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहृदयों को भी सरलता से न हो तो वहाँ भी व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी नहीं स्वीकार किया जाता है। अतः वहाँ उस अस्फुट अर्थात् गूढ़ व्यंग्य को भी गुणीभूतव्यंग्य माना जाता है। जहाँ सहृदयों को व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तो वहाँ ध्वनिकाव्य अथवा उत्तम-काव्य होता है इस उपर्युक्त आशय का संकेत करने के उद्देश्य से ही मम्मट से निम्नस्थ पंक्ति का अवतरण किया है कि—

"कामिनीकुचकलशवद् गूढ चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव।"

इसका आशय यह है कि आन्ध्रप्रदेश की स्त्रियों के स्पष्ट प्रतीत होने वाले कुचों के समान अगूढ व्यंग्य (स्पष्ट व्यङ्ग्य) शोभा को नहीं धारण करता है तथा गुजरात की स्त्रियों के अति अस्पष्ट कुचों के समान गूढ व्यङ्ग्य भी चमत्कारजनक नहीं होता है। परन्तु महाराष्ट्र देश की स्त्रियों के न अतिस्पष्ट और न अतितिरोहित कुचकलश के समान सहृदय हृदयसंवेद्य व्यङ्ग्यार्थ ही उत्तमकाव्य की कोटि को प्राप्त होता है। अतः इस उपमा के अनुसार अगूढ व्यङ्ग्य, तथा गूढव्यङ्ग्य को ध्वनिप्रधान अर्थात् उत्तमकाव्य न स्वीकार करके मध्यकाव्य के रूप में स्वीकार करके गुणीभूत-व्यङ्ग्य के भेदों में परिगणन करना उचित ही है।

(१) अगूढ व्यंग्य का उदाहरण—

जहाँ व्यंग्यार्थ गूढ न हो अर्थात् साधारण व्यक्तियों को भी सरलता से प्रतीत हो रहा हो वहाँ अगूढ व्यंग्य अर्थात् स्पष्ट व्यंग्य होता है। जैसे—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि॥

प्रस्तुत श्लोक में विराट के यहाँ पाण्डव अज्ञात रूप से रहे थे तो उस समय, अर्जुन बृहन्नला के रूप से संगीत एवं नृत्य की शिक्षा देता था। इस प्रकार गर्हित जीवन यापन करते हुए अर्जुन कहता है कि शत्रुओं के द्वारा की जाने वाली निन्दा मेरे कानों में आकर गर्म लोहे की शलाकाओं के समान चुभती है तथा मैं अर्जुन आज बृहन्नला के वेष में निन्दनीय करधनी गूँथने का काम कर रहा हूँ। इस प्रकार मैं जीते हुये भी मृतक के समान हूँ क्या करूं अर्थात् अज्ञातवास की एक वर्ष की अवधि काटनी ही है। इसीलिये शत्रुओं की निन्दा को सहन कर रहा हूँ और गर्हित कार्य कर रहा हूँ। यहाँ जीवन पद अर्थान्तर में संक्रमित होकर स्पष्ट रूप से ध्वनित करता है कि मेरा यह जीवन मृतक के समान है अर्थात् मैं इस समय कुछ नहीं कर

सकता हूँ, क्योंकि समय बलवान होता है इत्यादि व्यंग्य स्पष्ट रूप से प्रतीत हो रहा है। इसलिये यह अगूढ व्यंग्य गुणीभूत का उदाहरण माना जाता है।

(२) इतराङ्गगुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण--

जहाँ पर व्यंग्यार्थ गौण होकर रस तथा भावादि व्यंग्यार्थ का अथवा वाच्यार्थ का उपकारक अंग हो जाता है तो उसे अपरांग अथवा इतरांग गुणीभूत-व्यंग्य कहते हैं । जैसे—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्यूरुजघनस्पर्शीनीवीविस्र सनः करः ।।

भूरिश्रवा की पत्नी भूरिश्रवा के कटे हुये हाथ को देखकर कहती है कि यह हाथ वही है जो करधनी को खींचता था तथा जो हाथ पीन स्तनों का स्पर्श करता था, तथा नाभि उरुस्थल आदि अंगों का स्पर्श करता था और नीवी को खोलता था। यहाँ ध्वन्यमान शृंगार रस करुण रस का अंग हो जाने के कारण अपरांग अथवा इतरांग गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण हो गया है।

(३) वाच्यसिद्ध्यंग गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण--

जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ सिद्धि का अंग अर्थात् सहायक बन जाता है, तो उस व्यंग्यार्थ को वाच्यसिद्धि का अंग होने के कारण गुणीभूतव्यंग्य वाच्यसिद्ध्यंग का उदाहरण मानते हैं । जैसे—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्

मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ।।

मेघ रूपी सर्प के उत्पन्न विषरूप जल वियोगिनी स्त्रियों के बलात् चक्कर, बेचैनी, अलसता, ज्ञान और चेष्टा का विनाश, मूर्च्छा, तम, अर्थात् अन्धापन शारीरिक दुर्बलता और मरण को उपस्थित करता है। यहाँ पर विष पद से हलाहल विष व्यंग्य है। विष का अर्थ जल भी होता है। मेघ पर आरोपित सर्परूप वाच्यार्थ की सिद्धि का विषरूप हलाहल व्यंग्य अंग अर्थात् उपकारक हो गया है। इसलिये यह उदाहरण वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य का माना जाता है।

(४) अस्फुट व्यंग्य का उदाहरण—

जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रतीति रूप से न हो रही हो वहाँ अस्फुट व्यंग्य गुणीभूत काव्य होता है जैसे—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेद भीरुता ।

नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ।।

यहाँ कोई नायिका, नायक को लक्ष्य करके कहती है कि आपके दर्शन न होने पर देखने की इच्छा होती है और दर्शन होने पर विरह का भय उत्पन्न हो

जाता है । अतः आपके दर्शन प्राप्त होने और न होने पर दोनों दशाओं में सुख की प्राप्ति नहीं होती है । यहाँ इस श्लोक में नायिका का आशय सहृदयों को भी परिश्रम से ही ज्ञात होता है कि हे प्रिय आप ऐसा कुछ करें कि आप कभी मुझसे अदृष्ट न हों जिससे विरह का भय न रह जाय । अर्थात् आप सदा मेरे पास ही उपस्थित रहें यह व्यंग्यार्थ है । परन्तु यह व्यंग्यार्थ सहृदयों के लिये भी अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण अस्फुटव्यंग्य का उदाहरण माना जाता है ।

(५.) सन्दिग्ध प्राधान्य—

जहाँ व्यंग्यार्थ तथा वाच्यार्थ दोनों समान रूप से चमत्कारी हों अर्थात् यह प्रतीत न हो रहा हो कि वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी है अथवा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी है । यह निर्णय न हो सके तो वहाँ सन्दिग्ध प्राधान्य गुणीभूतव्यंग्य होता है जैसे—

हरस्तु किञ्चत्परिवृत्तधैर्यश्चयंश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।

उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयाभास विलोचनानि ॥

चन्द्रोदय होने पर समुद्र के समान अधीर होकर शिवाजी ने बिम्ब नामक फल के समान रक्तपूर्ण अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के मुख पर अपने तीनों नेत्रों को प्रेरित किया अर्थात् तीनों नेत्रों को पार्वती के मुख में गड़ा दिये । यहाँ शिवजी पार्वती के मुख का आलिंगन करना चाहते थे । यह व्यंग्यार्थ मुख्य है अथवा अप्रतिम पार्वती के मुख को देखने रूप वाच्यार्थ नेत्रों को गड़ा देना प्रधान है । यह निर्णय नहीं हो सकने के कारण यहाँ सन्दिग्ध प्राधान्य गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण कहा गया है ।

(६) तुल्यप्राधान्य का उदाहरण—

जहाँ व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों समान रूप से चमत्कारी होते हैं । तो वहाँ तुल्यप्राधान्य गुणीभूतव्यंग्य होता है । जैसे—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवताभेव भूतये ।

जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्ममायते ॥

प्रस्तुत श्लोक के माध्यम से परशुराम ने रावण को सन्देश प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि हे रावण ब्राह्मणों के तिरस्कार का त्याग करने से ही आप का कल्याण हो सकता है । ऐसा करने पर अर्थात् ब्राह्मणों के अपमान परित्याग करने पर मैं जमदग्नि का पुत्र परशुराम आपका मित्र रहूँगा । अन्यथा मैं तुमसे खिन्न हो जाऊँगा । यहाँ यह व्यंग्य है कि मैंने (परशुराम ने) क्षत्रियों का संहार किया है । उसी प्रकार राक्षसों का भी विनाश कर डालूँगा । इस व्यंग्य वाच्यार्थ समानता होने के कारण यह उदाहरण तुल्यप्राधान्यगुणीभूतव्यंग्य का माना जाता है ।

(७) काक्वाक्षिप्त व्यंग्य का उदाहरण—

काकु अर्थात् उच्चारण सम्बन्धी विकार से जो व्यंग्य आक्षिप्त किया जाता है, उसे काक्वाक्षिप्त व्यंग्य कहते हैं जैसे—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

यहाँ भीम सन्धि प्रस्ताव से क्रुद्ध होकर सहदेव से कहता है कि आप सब के राजा युधिष्ठिर पाँच गांव की शर्त से दुर्योधन के साथ सन्धि करें तो क्या मैं क्रोध से युद्ध में कौरवों का नाश नहीं करूंगा और दुःशासन के हृदय का रक्तपान नहीं करूंगा तथा दुर्योधन की जाँघों को गदा से नहीं तोड़ूंगा। इस वाच्यार्थ से क्रुद्ध भीम के स्वर विकार के कारण ध्वनित हो रहा है कि युधिष्ठिर सन्धि क्यों न कर लें पर मैं (भीम) तो कौरवों का नाश अवश्य करूंगा तथा अपनी पूर्वकृत प्रतिज्ञाओं को अवश्य पूर्ण करूंगा। यह काकु से अर्थात् स्वर-विकार से आक्षिप्त होने के कारण काक्वाक्षिप्त व्यंग्य गुणीभूत का उदाहरण माना जाता है।

(८) असुन्दर व्यंग्य का उदाहरण—

जहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है तो वहाँ असुन्दर व्यंग्य होता है।

वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यङ्गानि ॥

कोई नायिका अपने नायक को संकेतस्थल पर पहुँचे हुये जानकर दुःखी हो रही है कि बेत की लता की झाड़ी में उड़ते हुये पक्षियों के कोलाहल को सुनकर गृहकार्य में व्यस्त वधू के अंगों में पीड़ा होने लगी,। यहाँ दत्त संकेत नायक के लता मण्डप में प्रवेश करने रूप व्यंग्य से गृहकार्य में व्यस्त वधू के अंग शिथिल हो गये यह वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक है। अतः व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ के अधिक चमत्कारजनक होने के कारण यह उदाहरण असुन्दर-गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण माना जाता है।

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य अथवा मध्यमकाव्य के ८ भेदों का सोदाहरण निरूपण किया है। आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्द्धन के मतानुसार गुणीभूत व्यङ्ग्य के ४२ मुख्य भेदों को स्वीकार करके ३३३ उपभेदों का परिगणन किया है। ●

प्रश्न २३—लक्षणा और व्यञ्जना का अन्तर स्पष्ट करते हुए व्यञ्जना की अनिवार्यता सिद्ध कीजिये।

अथवा

क्या लक्षणा के अन्तर्गत व्यञ्जना को स्वीकार किया जा सकता है या नहीं ? तर्कसंगत उत्तर दीजिये। (आगरा वि० वि० १९५६, ६१, ६५, ८५)

What is nature of Vyanjana of distinguished from Lakshana ? Adduce some of the arguments which you think to be strongest in support of Vyanjana.

उत्तर—आचार्य मम्मट ने शब्द के तीन भेद (१) वाचक (१) लक्षण (३) व्यञ्जक, प्रतिपादित करके वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य इन अर्थों को स्वीकार किया है अर्थात् वाचक शब्द से वाच्यार्थ और लक्षक शब्द से लक्ष्यार्थ, व्यञ्जक शब्द से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इन तीन प्रकार के अर्थों का बोध अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना नामक तीन शब्दशक्तियों के माध्यम से होता है अर्थात् अभिधा से वाच्यार्थ की, लक्षणा से लक्ष्यार्थ की, व्यञ्जना से व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति होती है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि शब्दशक्तियों को क्यों स्वीकार नहीं किया गया। केवल एक अभिधाशक्ति को ही स्वीकार कर लेते। इसका उत्तर यह है कि अभिधा केवल संकेतिक अर्थ का बोध कराती है तो संकेतित अर्थ से भिन्न लक्ष्य तथा व्यङ्ग्यार्थ दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है जैसे **"गंगायां घोषः"** इस वाक्य का वाच्यार्थ गङ्गा में अर्थात् जल-प्रवाह में बस्ती होता है परन्तु अनुभव में जलप्रवाह में बस्ती नहीं हो सकती है। अतः यहाँ अभिधा से वक्ता का आशय स्पष्ट नहीं हो सका अर्थात् मुख्य (वाच्य) अर्थ के बाधित हो जाने पर दूसरी शब्द शक्ति को मानना पड़ा। उसी का नाम लक्षणा है।

इस प्रकार अभिधा से कार्य न चलने पर लक्षणा मानना अनिवार्य हो गया है। अतः लक्षणा से मुख्यार्थ बाधित होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित प्रयोजनवश अर्थात् शीतलता और पावनता को प्रयोजन न मानकर तट में लक्षणा होती है। इस प्रकार **'गङ्गायां घोषः** का लक्ष्यार्थ **'गङ्गातटे घोषः'** और शीतलता, पावनता व्यङ्ग्यार्थ होता है। अब एक और प्रश्न उत्पन्न होता है कि वाच्यार्थ के लिये अभिधा और मुख्यार्थ बाध होने पर रूढ़ि या प्रयोजन को मानकर लक्ष्यार्थ के लिये लक्षणा को स्वीकार किया गया है। तो अब व्यञ्जना की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न के समाधानार्थ मम्मट ने लिखा है—

यस्य प्रतीति माधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैक गम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥

इसका आशय यह है कि जिस प्रयोजन विशेष अर्थात् शीतलता, पावनता की सिद्धि के लिये लक्षणा की जाती है, उस शीतलता, पावनतारूप विशेष प्रयोजन की

सिद्धि किसी अन्य अभिधा अथवा लक्षणा से नहीं हो सकती है इसलिये शीतलता, पावनता रूप प्रयोजन विशेष की सिद्धि व्यञ्जना व्यापार के द्वारा ही होती है। क्योंकि शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन में संकेतशक्ति न होने से अभिधा नहीं प्रवृत्त हो सकती है। इसी आशय से मम्मट ने लिखा है—**'नाभिधा समयाभावात्'** अत: संकेतित अर्थ के अभाव के कारण शीतलता पावनता की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि शीतलता, पावनता रूप प्रयोजन की सिद्धि लक्षणा से मानने का प्रयत्न किया जाय तो यह लक्षणा भी शीतलता, पावनतारूप व्यंग्यार्थ का बोध नहीं करा सकती है क्योंकि जब मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा से तट की प्रतीति हो जाती है तो फिर तट में बाधा नहीं रहती है तथा स्वयं मुख्यार्थ नहीं है तट तो लक्ष्यार्थ है। इसके अतिरिक्त तटरूप लक्ष्यार्थ में बांध न होने पर और शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन का कोई प्रयोजन न होने पर लक्षणा की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। अत: अभिधा और लक्षणा की प्रवृत्ति से भिन्न स्थल होने पर व्यञ्जना से ही शीतलता, पावनतारूप व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि हो सकती है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए मम्मट ने द्वितीय उल्लास में लिखा है कि—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योग: फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्द: स्खलद्गति॥

इससे स्पष्ट है कि तट लक्ष्यार्थ है मुख्यार्थ नहीं है और तटरूप लक्ष्यार्थ में बस्ती हो सकती है अर्थात् कोई बाधा नहीं है और शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी अन्य प्रयोजन को स्वीकार करना होगा अर्थात् प्रयोजन के अभाव में शीतलता, पावनता का बोध लक्षणा से नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त गङ्गा शब्द की भाँति 'तट' लक्ष्यार्थ बस्ती धारण करने में असमर्थ नहीं है। अत: व्यञ्जना के द्वारा ही शीतलता, पावनतारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। यदि कोई शीतलता, पावनता का लक्षणा से बोध करने के लिये किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना करले तब तो लक्षणा से शीतलता, पावनता की प्रतीति हो जानी चाहिये। इसके उत्तर में मम्मट ने लिखा है कि यदि शीतलता, पावनता का कोई प्रयोजन मानकर लक्षणा करने की चेष्टा करेगा तो शास्त्र में अनवस्था दोष हो जायेगा। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि—

"एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी"

अत: किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना तो मूल विषय को ही समाप्त कर देगी तो फिर शीतलता, पावनतारूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति के लिये व्यञ्जना अवश्य माननी होगी।

यदि कोई यह कहे कि शीतलता, पावनता विशिष्ट तट में लक्षणा करने से

व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं रह जायेगी, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय 'तट' और फल का विषय **"शीतलता, पावनता"** ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते हैं। इसलिये प्रयोजन विशिष्ट "तट" में लक्षणा नहीं हो सकती है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये लिखा है कि—

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुहाहृतम् ॥

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का विषय **'तट'** और प्रयोजन का विषय शीतलता, पावनता, पृथक्-पृथक् होने के कारण प्रयोजन के साथ **'तट'** में लक्षणा करना उचित नहीं है अतः शीतलता, पावनतारूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही हो सकती है, लक्षणा से नहीं।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में अन्तर— लक्षणावादी के मत का खण्डन करने के लिये मम्मट ने निम्नस्थ उदाहरणों को प्रस्तुत किया है—

(१) रामोऽस्मि सर्व सहे।
(२) रामेण प्रिय जीवितेन तू कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्।
(३) रामोऽसौभुवनेषु विक्रम गुणैः प्रसिद्धि पराम् ॥

इन उदाहरणों में (१) व्यङ्ग्यार्थ के समान ही राम के लक्ष्यार्थ अनेक होते हैं। (२) व्यञ्जना के समान विशेष व्यवहार का हेतु होता है। (३) व्यङ्ग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ की प्रतीति शब्द और अर्थ से होती है। (४) व्यङ्ग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ भी प्रकरण आदि की अपेक्षा रखता है। इसलिये व्यङ्ग्यार्थ, लक्ष्यार्थ से भिन्न नहीं होता है। अतः लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना के स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस व्यञ्जना-विरोधी तर्क का खण्डन करते हुये कहा कि यद्यपि लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ के समान अनेक अर्थों वाला होता है, तथापि लक्ष्यार्थ अनेकार्थक वाच्यार्थ के समान नियत होता है अर्थात् मुख्यार्थ से विपरीत लक्ष्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक होते हुये भी कहीं **"नियत सम्बन्ध"** और **"अनियत सम्बन्ध"** तथा कहीं **"परम्परित सम्बन्ध"** वाला भी होता है। इसलिये व्यङ्ग्यार्थ और लक्ष्यार्थ में पर्याप्त अन्तर होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ बोध के लिये व्यञ्जना मानना आवश्यक है।

(१) इसके अतिरिक्त लक्ष्यार्थ की प्रतीति मुख्यार्थ बाध के बिना नहीं हो सकती है जबकि व्यङ्ग्यार्थ के लिये मुख्यार्थ बाधादि कारण नहीं होते हैं। इससे भी लक्षणा से पृथक् व्यञ्जना मानना अनिवार्य हो जाता है जैसे —

अवश्रु रत्र निमज्जति अत्राहं दिवसे प्रलोकय।
मा पथिक रात्र् यन्ध शय्यायां प्रम निमेक्ष्यसि ॥

इस श्लोक को कहने वाली कोई स्वैरिणी स्त्री है। वह किसी ठहरने की इच्छा रखने वाले पुरुष से कहती है कि मेरी सास यहाँ सोती हैं और मैं यहाँ सोती हूँ। यह तुम दिन में भली-भाँति देख लो क्योंकि तुम्हें रतौंधी आती है। कहीं ऐसा न हो तुम रात में मेरी खाट पर आकार **'गिरना'** यह वाच्यार्थ है तथा इस वाच्यार्थ का बाध नहीं है। परन्तु कहने वाली स्त्री का तात्पर्य इतना ही नहीं है अपितु वह पुरुष को रात्रि में अपने पास आने का संकेत करती है। यहाँ वाच्यार्थ निषेध रूप है और व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप है। इसके अतिरिक्त मुख्यार्थ बाध के बिना विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। यह विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है तथा मुख्यार्थ बाधादि के बिना प्रतीत होने के कारण लक्ष्यार्थ भी नहीं है। अतः वाच्यार्थ से भिन्न तथा लक्ष्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना मानना आवश्यक है।

(१) अभिधावृत्ति जिस प्रकार संकेतशक्ति के बिना प्रवृत्त नहीं होती है उसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के बिना प्रवृत्त नहीं होती है, किन्तु व्यञ्जना संकेतशक्ति के अभाव की तथा मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के अभाव की अपेक्षा करके **'श्वश्रुरत्र निमज्जति''** इत्यादि उदाहरणों में निषेधार्थक वाच्यार्थ से भिन्न विधि अर्थ रूप गुप्त आमन्त्रण का व्यङ्ग्यार्थ व्यञ्जित करती है। विधिरूप आमन्त्रण लक्षणा के द्वारा प्रतीत नहीं हो सकता है। अतः व्यञ्जना का क्षेत्र लक्षणा से सर्वथा भिन्न होने के कारण व्यञ्जना अवश्य माननी पड़ेगी।

(२) अभिधा और लक्षणा से शब्द के अनेकार्थक ज्ञात होते हैं कि वे अनेकार्थक नियत सम्बन्ध से भिन्न नहीं होते हैं जबकि व्यञ्जना नियत सम्बन्ध से, अनियत सम्बन्ध से तथा परम्परित सम्बन्ध से भी व्यङ्ग्यार्थ को प्रतीत करती है। अतः व्यञ्जना, अभिधा और लक्षणा दोनों से भिन्न हैं।

(३) व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ के साथ नहीं होती है, अपितु लक्ष्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इससे भी व्यञ्जना की लक्षणा से भिन्नता स्पष्ट सिद्ध है।

(४) व्यञ्जना से लक्षणामूलक व्यङ्ग्य की ही प्रतीति नहीं होती है, अपितु अभिधामूलक व्यंग्य की भी प्रतीति होती है अतः लक्षणा के अन्तर्गत व्यञ्जना कभी नहीं आ सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्यञ्जना, अभिधा तथा लक्षणा दोनों से भिन्न एवं विलक्षण है। व्यञ्जना के बिना वास्तविक कवि का आशय तथा काव्यानन्द अलौकिक का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है। अतः व्यङ्ग्यार्थ बोध के लिये व्यञ्जना की उतनी आवश्यकता है जितनी आवश्यकता वाच्यार्थ के लिये अभिधा की है तथा लक्ष्यार्थ बोध के लिये लक्षणा की आवश्यकता है। अतः व्यञ्जना अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है।

प्रश्न २४---वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर स्पष्ट करते हुये व्यञ्जना अनिवार्यता सिद्ध कीजिये। **(आगरा वि० वि० १९५२, ६२, ८८)**

Describe the nature of distinction between वाच्यार्थ and व्यङ्ग्यार्थ and discuss what it leads to.

उत्तर---आचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण करने के पश्चात् व्यञ्जना की अपरिहार्यता स्वीकार करते हुये कहा है कि ध्वनि के जितने भेद हैं। उनकी प्रतीति व्यञ्जना-व्यापार से भिन्न अन्य किसी व्यापार से नहीं हो सकती है इसी उद्देश्य से मम्मट ने ध्वनि से सर्वप्रथम (१) वाच्यतासह और (२) अवाच्यतासह के दो भेद किये हैं---(१) विचित्र (२) अविचित्र। ये दो भेद करते हुये विचित्र को अलंकार ध्वनि और अविचित्र को वस्तु ध्वनि के अतर्गत प्रतिपादित किया है। रस, भावादि ध्वनि को वाच्यता असह के अन्तर्गत स्वीकार किया है क्योंकि रसादि-ध्वनि कभी वाच्य नहीं हो सकती है। रसादिध्वनि तो सदा व्यंग्य ही होती है। अतः सर्वविध व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। इसी आशय से लिखा है कि---**"रसादिलक्षणस्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः"** अर्थात् रसादिरूप अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता है क्योंकि शृङ्गारादि शब्द के कथन से रस की प्रतीति होती है और शृङ्गारादि के अभाव में भी विभावादि के द्वारा रस की प्रतीति होती है। इसलिये रसादिध्वनि सदा व्यंग्य होती है वाच्य नहीं हो सकता है।

मुख्यार्थ बाधादि कारणत्रय के अभाव में रसादिध्वनि को लक्ष्य भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं। अतः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना का मानना अनिवार्य सिद्ध हो जाता है ध्वनि के प्रमुख तीन भेद होते हैं जो निम्न प्रकार हैं---(१) रसादिध्वनि, (२) वस्तुध्वनि, (३) अलंकारध्वनि।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रसादिध्वनि वाच्य नहीं हो सकती अर्थात् अभिधामूलध्वनि में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रसादिरूप अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना-वृत्ति स्वीकार करना अनिवार्य है।

लक्षणा मूलध्वनि में अथवा वस्तुध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता---

लक्षणा मूलध्वनि के अर्थान्तर संक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में वस्तुरूप व्यंग्य के अभाव में लक्षणा ही नहीं हो सकती है क्योंकि अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण **"त्वामस्मिवच्मि"** इत्यादि में वच्मि, अस्मि, आदि उपदेश आदि अर्थों में संक्रमित हो जाते हैं अर्थात् उपदेश आदि व्यङ्ग्यार्थ ही लक्षणा का आधार बनता है क्योंकि प्रयोजनरूप व्यंग्य के बिना लक्षणा की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। इस प्रकार उपदेश आदि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति संकेतित अर्थ न होने के कारण अभिधा से नहीं हो सकती है तथा मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के बिना लक्षणा

के द्वारा भी वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के उदाहरण **"उपकृतं बहुतत्रकिमुच्यते"** इत्यादि पद्य में अत्यन्त तिस्कृत वाच्यध्वनि से उपकृत का अपकृतम् आदि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी व्यञ्जना के बिना नहीं हो सकती है क्योंकि संकेतशक्ति के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती है और मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती है। इस प्रकार इस विवेचन से स्पष्ट है कि लक्षणा मूलध्वनि के अर्थान्तिर संक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि इन दोनों में व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति के लिये व्यञ्जना को मानना अनिवार्य है।

अभिधा मूलशब्द शक्त्युत्थ ध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता—

अभिधा मूलध्वनि के (१) असंलक्ष्यक्रम तथा (२) संलक्ष्यक्रम ये दो भेद होते हैं। असंलक्ष्यक्रमध्वनि को रसध्वनि कहते हैं। रसादिध्वनि की प्रतीति के लिये व्यञ्जना की अनिवार्यता पूर्व पृष्ठ में प्रतिपादित की जा चुकी है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के (१) शब्दशक्त्युत्थ (२) अर्थशक्त्युत्थ (३) उभयशक्त्युत्थ ये तीन भेद होते हैं।

शब्दशक्त्युत्थ नामक अभिधा मूलध्वनि में संयोगादिवश अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ अभिधा द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित होने पर भी अनभिधेय अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार से सम्भव नहीं हो सकती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार प्रासंगिक तथा अप्रासंगिक अर्थों के उपमानोपमेयभाव आदि अलंकार भी व्यञ्जना से ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार अभिधामूलक ध्वनि के भेद शब्दशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य में भी व्यञ्जना मानना अनिवार्य है।

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये पहले वाच्यार्थ की उपस्थिति होती है। वाच्यार्थ के बाद व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होने के कारण ही इस ध्वनि का नाम अर्थशक्त्युत्थ है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वाच्यार्थ अर्थात् वाक्यार्थ की उपस्थिति कैसे होती है। इस विषय में मीमांसकों का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। मीमांसकों में भी दो सम्प्रदाय (१) अभिहितान्यवाद (२) अन्विताभिधानवाद वाक्यार्थ बोध के लिये अति प्रसिद्ध हैं किन्तु जब अभिहितान्वयवादियों के मत से वाक्यार्थ की प्रतीति ही अभिधा से नहीं होती है अर्थात् वे तात्पर्यावृत्ति की कल्पना करके वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ मानते हैं तो फिर अभिहितान्वयवादियों के मत में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना के बिना नहीं हो सकती है। अतः अभिहितान्वयवादियों के मत से भी व्यंजना मानना अनिवार्य है।

अन्विताभिधानवाद के मतानुसार वाक्यार्थ बोध के लिये तात्पर्यावृत्ति नामक वृत्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि अभिधा द्वारा अन्वित पदों का अर्थ ज्ञात होता है। अतः अन्वित पदों में संकेतग्रह होता है। इस प्रकार वाक्यार्थ का बोध अभिधा से होता है उसके लिये तात्पर्यावृत्ति मानना उचित नहीं है यदि अन्विताभिधान स्वीकार भी करें तो भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना के बिना

नहीं हो सकती है क्योंकि अन्विताभिधान से अधिक से अधिक सामान्य रूप से अन्वित अर्थ में ही संकेतग्रह स्वीकार किया जा सकता है परन्तु इससे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है। अतः अन्विताभिधानवाद के मानने पर भी व्यञ्जना मानना अनिवार्य है।

इसके अतिरिक्त जो कहा जाता है कि **"नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"** इसका आशय यह है कि नैमित्तिक अर्थात् कार्य को देखकर तदनुकूल कारण की कल्पना की जाती है परन्तु शब्द अर्थ का स्वयं प्रकाशक होता है इसलिये शब्द का कारकत्व रूप नहीं बनता है केवल ज्ञापकत्वरूप बनता है तथा ज्ञापकत्व भी अर्थ ज्ञान होने के अनन्तर ही हो सकता है, अज्ञात का नहीं संकेत शक्ति तो केवल सामान्य रूप से अन्वित मात्र में ही रहता है, विशेष में नहीं होता है। इसलिये जब तक शब्द रूप निमित्त का नियतनिमित्त विशेष के साथ संकेतशक्ति न स्वीकार की जाय तब तक विशेष अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है। इस प्रकार नैमित्तक कार्य को देखकर निमित्त कारण की कल्पना की जाती है। व्यञ्जना-स्थल जैसे विलक्षण व्यापारों में यह कहना विवेकपूर्ण नहीं माना जाता है। अतः विशेष अर्थ अर्थात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना अनिवार्य है।

भट्टलोल्लट का व्यञ्जना विरोधी मत—

मीमांसक मतावलम्बी लोल्लट भी व्यञ्जना को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार वीर पुरुष के द्वारा छोड़ा हुआ एक बाण कवच-भेदन तथा उरोविदारण एवं प्राणहरण करने में समर्थ होता है वैसे ही अभिधा का भी दीर्घ-दीर्घतर व्यापार मानकर वक्ता के आशय का (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य का) ज्ञान किया जाता है। इस प्रकार अभिधा के १० भेद स्वीकार करके व्यञ्जना का खण्डन किया है। इसके समर्थन में **"यत् परः शब्द सशब्दार्थः"** दिया है अर्थात् जिस अर्थ को बोध करने कराने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है उस शब्द का उतना ही अर्थ होता है। जिस वाच्यार्थ बोध के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका उतना ही वाच्यार्थ होगा। इसी प्रकार लक्ष्यार्थ बोध करने के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका भी उतना ही अर्थ होगा। इसके अतिरिक्त अन्यार्थ (व्यंग्यार्थ) के बोध के लिये प्रयुक्त शब्द से अन्यार्थ की प्रतीति अभिधा से ही हो जायेगी जिसे वाच्यार्थ ही कहेंगे। अतः अभिधा के अतिरिक्त वाच्यार्थ आदि सभी प्रकार के अर्थों के बोध के लिये किसी अन्य शक्ति अथवा व्यापार को नहीं मानना चाहिये। अभिधा ही सभी अर्थों को उपस्थित करने में समर्थ है।

व्यञ्जना-विरोधी भट्टलोल्लट के मत का खण्डन

आचार्य मम्मट ने लोल्लट के मतों का खण्डन करते हुये लिखा है—**"तेऽप्य-तात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तिर्देवानां प्रियः"** अर्थात् "यत्परः शब्दः सशब्दार्थः" के

तात्पर्य को जानने के कारण ही व्यञ्जना का खण्डन करते हैं किन्तु तात्पर्य क्या है जिसे लोल्लट प्रभृति नहीं जानते हैं। यही स्पष्ट करने के लिये **"भूतं भव्यायोपदिश्यते"** को ग्रन्थकार ने उद्धृत किया है। भूत अर्थात् सिद्ध भव्य अर्थात् क्रियारूप के साथ-साथ पठित होने पर पदार्थ-क्रिया के लिये अंगरूप कहा जाता है। इस नियम के अनुसार क्रिया पदार्थ के साथ अन्वित कर्त्ता, कर्म, करण आदि प्रधान क्रिया की सम्पादक अपनी क्रिया के सम्बन्ध में साध्य सादृश्य हो जाते हैं। अत: अदग्धदहन न्याय से जितना भाग अप्राप्त होता है उतने का ही विधान किया जाता है। जैसे—**"लोहितोष्णीषाः ऋत्विज प्रचरन्ति"** इस वाक्य में ऋत्विजों का भ्रमण प्रकरान्तर से सिद्ध होने के कारण उष्णीष के केवल लाल रंग का विधान किया गया है और **"दध्नाजुहोति"** इत्यादि विधिवाक्यों में होम के अन्य प्रमाणों से सिद्ध होने पर दधि आदि के केवल कारणत्व का विधान किया जाता है। इस प्रकार भूत (सिद्ध) पदार्थ कभी मुख्य अर्थात् साध्य नहीं होता है। साध्यता की प्रतीति गौण होती है। मुख्य रूप में क्रिया ही साध्य होती है।

इसके अतिरिक्त कहीं दो कार्यों का भी विधान होता है जैसे **"सोमेन यजेत्"** यहाँ सोम और याग दोनों का प्राप्त न होने पर भी दोनों का विधान होता है। कहीं तीन का भी विधान होता है। जैसे **"रक्तं पटं वय"** इत्यादि में आवश्यकतानुसार कभी केवल बुनने का और कभी तीनों का विधान होता है। अतएव जो जहाँ विधेय होता है वहाँ वह ही तात्पर्य होता है। यही **"यत्परः शब्दः सशब्दार्थः"** का तात्पर्य है परन्तु जिस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है उसका वाचक शब्द वाक्य में अवश्य गृहीत होना चाहिये। अत: इस प्रकार यह समझना चाहिये कि वाक्य में गृहीत किसी एक शब्द के अर्थ में वाक्य के अन्य पदों का तात्पर्य होता है। शब्द से अनुपात अर्थ में तात्पर्य नहीं होता है। व्यंग्यार्थवाचक किसी शब्द का वाक्य में उपात्त होने के कारण **यत्परः शब्दः सशब्दार्थ** यह नियम व्यंग्यार्थ बोध में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। इस प्रकार अभिधा से व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव न होने से व्यंजना मानना अनिवार्य हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि अभिधा से सभी वाच्यादि अर्थों की प्रतीति हो जाती है तो **"पुत्रस्तेजातः, कन्या ते गर्भिणी जाता"** इत्यादि वाक्यों से ध्वन्यमान "हर्ष" तथा "शोक" भी वाच्यार्थ हो जायेंगे तथा **"श्रुतिलिङ्ग वाक्य प्रकरण संस्थान समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्"** इसी वाक्य की दुर्बलता और प्रबलता नियम युक्तियुक्त नहीं रह जायेगा। इस नियम के प्रतिपादक मीमांसक ही हैं अर्थात् जब अभिधा से ही वाच्यलक्ष्य और व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जायेगी तो फिर श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या इन ६ नियमों में पूर्वपूर्व की बलवत्ता क्यों स्वीकार की जाती है ? जब अभिधा ही सभी अर्थों को स्पष्ट करने की सामर्थ्य रखती है तो श्रुति, लिङ्गादि ६ प्रमाणों की प्रबलता, दुर्बलता आदि का निश्चय भी अभिधा से

हो जाना चाहिये परन्तु ऐसा वे स्वयं नहीं मानते हैं। अतः अन्विताभिधान के मत में भी **"निशेषच्युत चन्दनमित्यदि"** उदाहरणों में निषेधरूप वाच्यार्थ से (नगतासिसे) विधिरूप व्यंग्यार्थ (गताऽसि) की सिद्धि व्यञ्जना से ही होती है।

इसके अतिरिक्त साहित्यशास्त्र में दोषों का प्रतिपादन करते हुये नित्य और अनित्य दो प्रकार के दोषों की व्यवस्था की गई है। यदि वाच्य, वाचक से भिन्न व्यंय व्यंजकभाव नहीं माना जायेगा तो नित्य और अनित्य दोषों की व्यवस्था भंग हो जायेगी क्योंकि **"रुचि कुरु"** इस वाक्य में रु को छोड़कर "चिकु" शब्द पढ़ने से अश्लीलता का वाचक हो जाता है जो किसी पद का वाच्यार्थ नहीं हैं। यदि इस अश्लील अर्थ को व्यंग्य न माना जायेगा तो साहित्यशास्त्र में अश्लील दोष की व्यवस्था भंग हो जायेगी जबकि यहाँ अश्लील माना जाता है तथा यदि पिनाकी और कपाली को समान अर्थ वाला मानेंगे तो कपाली शब्द से जो विशेष चमत्कार अनुभूत होता है उनकी प्रतीति नहीं होगी। **"द्वयं गत सम्प्रति वचनीयतम्"** इत्यादि श्लोक से कपाल धारण करने वाले दरिद्र और वीभत्सरूप शिव का अर्थ पिनाकी से व्यंजित नहीं होता है। अतः पिनाकी की अपेक्षा कपाली में अधिक चमत्कार होने के कारण वाच्य वाचक से भिन्न व्यंग्य व्यंजकभाव होता है, यह मानना ही पड़ेगा तथा जिस प्रकार अभिधा से वाच्यावाचकभाव की सिद्धि होती है उसी प्रकार व्यंग्यव्यंजक भाव की सिद्धि के लिये व्यंजना का मानना अनिवार्य हो जाता है।

वाच्य और व्यङ्ग्य में अन्तर

वाच्यार्थ तो सभी ज्ञाताओं के लिए एक और निश्चित होता है जैसे— **"गतोऽस्तमर्कः"** का वाच्यार्थ (सूर्य छिप गया) सदा एक ही रहता है जबकि व्यञ्जना द्वारा व्यंग्यार्थ अनेक हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त निम्न उदाहरणों के संकेत से स्पष्ट हो जाता है कि वाच्यार्थ निश्चित और एक होता है और व्यंग्यार्थ नियत, तथा असंख्य होता है। जैसे—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् इत्यादि में।

उसकी सखी विषयक वाच्यार्थ में और उसके पति विषयक व्यंग्यार्थ में विषयभेद से पर्याप्त अन्तर प्रतीत हो रहा है वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ कभी एक नहीं हो सकते हैं। इसीलिये वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आठ प्रकार का भेद प्रतिपादित किया गया है। (१) स्वरूपभेद, (२) प्रतीतिभेद, (३) कालभेद, (४) आश्रयभेद, (५) निमित भेद; (६) कार्यभेद, (७) संख्याभेद, (८) विषयभेद। इन आठ प्रकार के भेदों से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पर्याप्त अन्तर स्पष्ट सिद्ध होता है। यदि इस प्रकार वाच्य और व्यंग्य में भेद में नहीं मानेंगे तो नील और पीत में भी भेद नहीं मानना चाहिये परन्तु व्यवहार से भेद सिद्ध होने पर अवश्य माना जाता है। इसी प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में भी भेद, व्यवहार और अनुभूति के आधार से मानना अनिवार्य हो जाता है।

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद

जिस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद सिद्ध है, उसी प्रकार लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भी भेद सिद्ध है। जैसे—गंगायां घोष: लक्ष्यार्थ तट और व्यंग्यार्थ शीतलता, पावनता में वच्मि, अस्मि, उपकृतम् इत्यादि में वाच्यार्थ क्रमश: कहता हूँ, मैं, उपकार होता है परन्तु व्यंग्यार्थ, क्रमश: उपदेश देता हूँ, (मैं) शुभचिन्तक, अपकार आदि होते हैं। इस प्रकार लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्पष्ट अन्तर सिद्ध है। इसलिये वाच्य तथा लक्ष्येतर व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा भिन्न होने के कारण व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिये अभिधा तथा लक्षणा के अतिरिक्त अन्य शब्दशक्ति की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये आनन्दवर्द्धनाचार्य ने व्यञ्जनावृत्ति का प्रतिपादन किया है। आचार्य मम्मट ने व्यञ्जनाविरोधी सभी मतों का इस प्रकार खण्डन कर डाला कि व्यञ्जनाविरोधी का नाम लेने वाला भी नहीं दृष्टिगोचर होता है। इससे भी व्यञ्जना की व्यापकता एवं गौरवता सिद्ध हो जाती है। वस्तुत: व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति के लिये व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार अथवा शब्दशक्ति समर्थ न होने के कारण व्यञ्जना को मानना अनिवार्य हो जाता है। इसलिये आलङ्कारिकों ने व्यञ्जना को मानकर साहित्यशास्त्र में सोने में सुगन्धि की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। अत: व्यञ्जना अवश्य माननी चाहिये। ●

प्रश्न २५—व्यञ्जना विरोधी 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद' के मत की समीक्षा करते हुए सिद्ध कीजिये कि इनके मत में भी व्यञ्जना मानना अनिवार्य है।

(आगरा वि० वि० १९५२, ७३, ७७, ७८)

Discuss and distinguish between 'अभिहितान्वयवाद' तथा 'अन्विताभिधानवाद'।

उत्तर—वाक्यार्थ बोध के सम्बन्ध में वैयाकरण तथा मीमांसक एवं नैयायिकों और साहित्यिकों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। जिनमें मीमांसकों के दो सम्प्रदायों के द्वारा वाक्यार्थ बोध के लिये प्रतिपादित वादों के नाम अभिहितान्वयवाद, और अन्विताभिधानवाद हैं। अर्थ बोध के लिये आलङ्कारिकों ने (१) अभिधा, (२) लक्षणा, (३) व्यञ्जना नाम की शक्तियों का प्रतिपादन किया है, क्योंकि शब्द के (१) वाचक, (२) लक्षक, तथा (३) व्यञ्जक भेद के अनुसार अभिधा, लक्षणा व्यञ्जना के द्वारा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य अर्थ का क्रमश: बोध होता है।

वाक्यार्थज्ञान—आचार्य मम्मट ने वाक्यार्थ ज्ञान को स्पष्ट करने के लिये मीमांसकों के अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधानवाद का उल्लेख किया है।

अभिहितान्वयवाद के प्रतिपादक कुमारिलभट्ट तथा पार्थनाथ मिश्र आदि हैं। अन्विताभिधान के प्रतिपादक प्रभाकर गुरु तथा शालिकनाथ मिश्र आदि हैं।

अभिहितान्वयवाद—मत के अनुसार वाक्य के पद क्रमशः उच्चारण के साथ-साथ समाप्त होते जाते हैं और 'अभिधा से बोधित अभिहित अर्थ भी समाप्त हो जाता है, तो फिर वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न के समाधान में मीमांसक अभिहितान्वयवादियों का मत यह है कि अभिधा साक्षात्संकेतित अर्थ का बोध कराती है तथापि वाक्य के अन्त तक पहुँचने तक सभी पद समाप्त हो जाते हैं तथा अभिधा से बोधित अर्थ भी पद समाप्ति के साथ समाप्त होता रहता है तो इस दशा में वाक्यार्थ का ज्ञान करने के लिये एक तात्पर्यावृत्ति को मानना चाहिये। अर्थात् अभिधा से बोधित अर्थ का पद समाप्त होने पर भी वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान तात्पर्यावृत्ति से अन्वित होने पर ही ज्ञात होता है। अतः भावार्थ यह है कि अभिधा से अभिहित वाक्य का अर्थ तात्पर्यावृत्ति से अन्वित होकर ज्ञान का विषय बनता है। इस प्रकार अभिधा से संकेतित अर्थ बोधित होकर भी वाक्य के अन्त तक पदों की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता है तो इस अभिधाजन्य अर्थ का अन्वय तात्पर्यावृत्ति से होता है। इसलिये अभिहितान्वयवादियों के मतानुसार वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं। मीमांसकों के इस मत को अभिहितान्वयवाद कहते हैं, जैसा कि इस पंक्ति से स्पष्ट है कि **"अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरूपस्थितता प्रर्थन्वयो भवतीत ये वदन्तितेऽभिहितान्वयवादिनः"**।

इस प्रकार पदों के अर्थ का सम्बन्ध पदों से नहीं होता है। अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ही अर्थ का बोध होता है जिसको तात्पर्यार्थ अथवा वाक्यार्थ कहते हैं। इसे वाक्यार्थ के ज्ञान के लिये तात्पर्यावृत्ति को मीमांसक कुमारिलभट्ट तथा उनके मतानुयायियों ने माना है।

अतः अभिहितान्वयवादियों के मत से तात्पर्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है। इस अभिहितान्वयवादियों के मत को स्पष्ट करने के लिये आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में निम्नस्थ पंक्तियों का उल्लेख किया है कि—**'आकांक्षा योग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणशब्दस्वरूपाणां पदार्थनां समन्वये तात्पयार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयाबिता मतम्"**।

आशय यह है कि आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से सम्बन्धित अर्थात् अन्वित पदों से उच्चारण के साथ अर्थ समाप्त होने पर भी तात्पर्यावृत्ति से अन्वित अर्थ की प्रतीति होती है और उस अर्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों ने एक विशेष तात्पर्य व्यापार की कल्पना करके तात्पर्यावृत्ति को माना है तथा वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ माना है, किन्तु इस आकांक्षा, योग्यता, एवं सन्निधि का क्या आशय है, यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है। इस प्रश्न के समाधान में

आकांक्षा, योग्यता सन्निधि का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। अतः इन तीनों का स्वरूप इस प्रकार संक्षिप्त रूप से समझना चाहिये।

आकांक्ष—जब वक्ता के वाक्य को श्रवण करने पर श्रोता को अन्य पद श्रवण की जिज्ञासा बनी रहे तो उसे आकांक्षा कहते हैं अर्थात् जब तक वक्ता, के आशय को समझने के लिये श्रोता को अन्य पद श्रवण की इच्छा बनी रहे, तो उस इच्छा को आकांक्षा कहते हैं। जैसा कि इस निम्नांकित पंक्ति से स्पष्ट हो रहा है कि **"येन पदेन बिना यस्य पदस्यान्वयानुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकांक्षा"** अतएव आकांक्षा रहित वाक्य वक्ता के आशय को स्पष्ट करने में सक्षम नहीं होता है। जैसे राम, कृष्ण, पुस्तकं, लताः, धेनुः, गजः इत्यादि पद समूह आकांक्षा रहित होने के कारण वाक्यार्थ को स्पष्ट नहीं कर सकते हैं। अतः पद आकांक्षायुक्त होकर ही वाक्यार्थ स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं, आकांक्षा रहित नहीं।

योग्यता—योग्यता से तात्पर्य सामर्थ्य से है अर्थात् वक्ता के द्वारा कथित पदों में निहित एवं प्रतिपाद्य अर्थ की सामर्थ्य है या नहीं। सामर्थ्यहीन पदों में योग्यता नहीं होती है तथा योग्यता रहित पद वाक्यार्थ के साधन नहीं होते हैं। अपितु बाधक होते हैं। अतः योग्यता विरहित वाक्य से वाक्यार्थ ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है। अतः प्रतिपाद्य अर्थ की सामर्थ्य से युक्त पद योग्यतायुक्त पद होते हैं। इसलिये योग्यता-युक्त पद समूह को ही वाक्य कहते हैं। यही भाव निम्नस्थ पंक्ति से स्पष्ट हो रहा है कि **"एकपदार्थेऽपर पदार्थ सम्बन्धो योग्यता"** इस प्रकार जो पद परस्पर अर्थ की क्षमता रखते हैं, वे पद योग्यता युक्त होते हैं। **"रामः जलेन वृक्षान् सिंचति"** इस वाक्य में सभी पद परस्पर अर्थ की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य रखते हैं। अतः यह वाक्य योग्यतायुक्त है। परन्तु **"अग्निना सिञ्चति"** यह वाक्य योग्यता रहित होने के कारण वाक्यार्थ को स्पष्ट नहीं कर सकता है, क्योंकि अग्नि में सिंचन क्रिया की योग्यता अर्थात् सामर्थ्य का अभाव है। इससे स्पष्ट है कि योग्यता रहित वाक्य अर्थबोध में समर्थ नहीं होता है। अतः प्रतिपाद्य अर्थ की क्षमता युक्त पद समूह ही वाक्य का अर्थ स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं।

सन्निधि—सन्निधि से तात्पर्य यह है कि वक्ता के द्वारा एक साथ एकस्वर में उच्चरित आकांक्षा, योग्यतायुक्तपदसमूह ही वक्ता के आशय को स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं अर्थात् यदि कोई एक पद प्रायः आठ बजे और द्वितीय पद बारह बजे तथा तृतीय पद सायं ४ बजे उच्चारण करे श्रोता बेचारा तब तक अन्य कार्यों से विरक्त होकर वक्ता के मुख को देखता रहेगा कि मुझसे क्या कहा जा रहा है। अतः सन्निधि अर्थात् उच्चारण की समीपता के अभाव में पद समूह अर्थ स्पष्ट करने में समर्थ नहीं होते हैं। इस प्रकार वाक्य के अन्तर्गत पदों का एक साथ एक काल में उच्चारण करना सन्निधि कही जाती है जो कि निम्नस्थ पंक्ति से स्पष्ट हो रहा है—

"पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः" इस प्रकार यह कहना चाहिये कि

आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से युक्त वाक्य ही वाक्यार्थ को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। अतः आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि से युक्त पदों का अर्थ अभिधा के द्वारा ज्ञात होता है, तदन्तर विशेष तात्पर्य नाम व्यापार से अभिधाजन्य अर्थ अन्वित होकर वाच्यार्थ को स्पष्ट करता है जिसे तात्पर्यार्थ कहते हैं। यही कुमारिलभट्ट तथा उनके मतानुयायियों का मत है, जिसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं—

अन्विताभिधानवाद

इस मत के प्रवर्तक प्रभाकर गुरु माने जाते हैं। अन्विताभिधानवाद के अनुसार पदों का केवल अर्थ अभिधावृत्ति से उपस्थित नहीं होता है अपितु अन्वित पदों के अर्थ की भी उपस्थिति अभिधावृत्ति से होती है, अर्थात् अभिधा से अन्वित अर्थ का बोध होता है। तदनन्तर विशिष्टार्थ रूप वाक्यार्थ का बोध होता है। इसी को निम्नस्थ पंक्ति में स्पष्ट किया गया है।

"पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चात् विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानेवादी"।

इसका आशय यह है कि प्रथम अभिधावृत्ति से पदों का अन्वित अर्थ ज्ञात होता है तदन्तर विशिष्टार्थ का बोध होता है। इस कथन को मानने वालों तथा कहने वालों को अन्विताभिधानवादी कहते हैं। अन्विताभिधानवादी पदों के अर्थ की अन्विति के लिये अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति को नहीं मानते हैं। अर्थात् अभिहितान्वयवादी प्रथम अभिधा से पदों का अर्थ ज्ञात करते हैं तथा अन्वय सम्बन्ध के लिये तात्पर्यावृत्ति को स्वीकार करते हैं। किन्तु अन्विताभिधान के मत से अन्वय बोध के लिये तात्पर्यावृत्ति स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि अभिधा से संकेतित अर्थात् संकेतग्रह युक्त अर्थ का बोध होता है। यह संकेतग्रह केवल पदों के अर्थ में ही नहीं अपितु अन्वित पदों के अर्थ में भी होता है। इसलिये अभिधावृत्ति से केवल पदों का अर्थ ही उपस्थित नहीं होता है अपितु अन्वित पदों का अर्थ उपस्थित होता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति को अन्वित पदों के अर्थ के लिये मानना उचित नहीं है। इसी भाव को आचार्य मम्मट ने निम्न पंक्ति के माध्यम से स्पष्ट किया है कि—

"वाच्य एवं वाक्यार्थः इत्थान्विताभिधानवादिनः" अन्विताभिधानवादियों के मत से पदों के अर्थ की उपस्थिति संकेतग्रह से होती है। इस संकेतग्रह का आधार व्यवहार ही है। इसी व्यवहार को पञ्चम उल्लास में शब्दबोध के प्रसङ्ग से स्पष्ट किया गया है। जिसका आशय यह है कि जैसे कोई उत्तम वृद्ध (माता, पिता, गुरु, आदि) मध्यमवृद्ध से कहें कि गामानय गाम् वधान अश्वमानय लेखिनी स्थापना, उपविश गच्छनय आनय इत्यादि वाक्यों को सुनकर मध्यमवृद्ध के द्वारा लिये तद्-तद् व्यवहारों को देखकर समीप में बैठा हुआ जिज्ञासु बालक क्रमशः अनुभव करता हुआ व्यवहार से उन-उन पदों का बोध करता है। यह व्यवहार ही संकेतग्रह कहा गया है अर्थात्

अमुक पद का अमुक अर्थ होता है। इसका ज्ञान संकेतग्रह से होता है तथा संकेतग्रह का आधार लोक-व्यवहार ही है जैसा कि निम्नस्थ कारिका से व्यक्त हो रहा है कि—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवस्क्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्यशेषाद्विवृतेर्वदन्ति सानिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, वाक्य शेष निवृति अर्थात् व्याख्यासिद्ध अर्थात् ज्ञात पद की सानिध्यता से शक्तिग्रह होता है। इन सब में मुख्य शक्तिग्रह का साधन व्यवहार है। क्योंकि व्याकरण उपमान आदि अन्य साधन तो बड़ों के लिये शब्द बोध के हेतु हो सकते हैं किन्तु बालकों के लिये तो माता-पिता गुरु आदि का व्यवहार ही संकेतग्रह बनता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने दो कारिकाओं को उद्धृत किया है कि—

शब्दवुद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनु मानेन चेष्टया ॥

अन्यथानुपत्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम् ।

अर्थापत्याऽवबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

इस दोनों कारिकाओं में स्पष्ट किया गया है कि संकेतग्रह (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) अर्थापत्ति के माध्यम से व्यवहार द्वारा ज्ञात होता है। यद्यपि बालक को अनुमान एवं अर्थापत्ति प्रमाणों का ज्ञान नहीं होता है तथापि ये प्रमाण संकेतग्रह में सहायक होते हैं। अतः बालक के शब्दबोध प्रसंग में ये प्रमाण असंगत नहीं प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के संकेतग्रह अन्वित पदो के अर्थ में ही होता है, जैसा कि मम्मट ने लिखा है कि—

"विशिष्टा एवं पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्य" "अर्थात् परस्पर सम्बन्धित पदों का अर्थ ही ज्ञात होता है। अपितु पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ तात्पर्या-वृत्ति से अन्वित नहीं होता है और नहीं वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में **"अभिहितान्वयवादियां मतम्"** लिखकर अभिहितान्वयवादियों के प्रति बहुवचन का प्रयोग करके सम्मान व्यक्त किया है तथा **अन्विताभिधानवादिनः** लिखकर एक वचन का प्रयोग करके ध्वनित किया है कि मैं अन्विताभिधानवाद को नहीं मानता हूँ तथा अभिहितान्वयवाद के प्रति बहु-वचन का प्रयोग करके यह ध्वनित किया है कि वस्तुतः अभिहितान्वयवादियों का मत ही उचित है। आचार्य मम्मट का आशय यह है कि भले ही अन्विताभिधानवाद के मतानुसार अभिधावृत्ति से अन्वित अर्थ का बोध हो जाये, किन्तु सम्बन्ध विशेष की प्रतीति के लिये तात्पर्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः मम्मट के मत से तात्पर्या-

वृत्ति अवश्य माननी चाहिये, क्योंकि आगे चलकर यह तात्पर्यावृत्ति ही ध्वनि अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ में सहायक होगी। क्योंकि जब अभिधा पदों के विशिष्ट अर्थ को भी बोध नहीं करा सकती है तो फिर व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान अभिधा से कैसे ज्ञात हो सकता है। कथमपि नहीं अर्थात् जिस प्रकार विशेष पदों के अर्थ को अन्वित करने के लिये तात्पर्यावृत्ति स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि मम्मट का झुकाव अभिहितान्वयवाद की ओर स्पष्ट सिद्ध हो रहा है। अभिहितान्वयवादियों तथा अन्विताभिधानवादियों में अन्तर यही है कि अभिहितान्वयवादी अभिधा से बोधित संकेतित अर्थ की अन्विति तात्पर्यावृत्ति से करते हैं, अर्थात् वाक्यार्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं, जबकि अन्विताभिधानवादी तात्पर्यावृत्ति को नहीं स्वीकार करते हैं। उनके मत से अभिधा से ही अन्वित पदों का अर्थ ज्ञात होता है। पृथक् एक अन्य तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यही दोनों में अन्तर है। अभिहितान्वयवादी तात्पर्यावृत्ति मानते हैं और अन्विताभिधानवादी तात्पर्यावृत्ति को नहीं मानते हैं। अन्विताभिधानवादी वाच्यार्थ को ही वाक्यार्थ मानते हैं। ●

प्रश्न २६—क्या 'अनुमानवाद' के अन्तर्गत व्यंजना को माना जा सकता है या नहीं ? तर्कसङ्गत समीक्षा कीजिये।

अथवा

व्यञ्जनाविरोधी महिमभट्ट के मत का खण्डन करते हुये मम्मट का आशय स्पष्ट कीजिये।

Express the purpose of Mammata disproving the view of Mahim Bhatt anti व्यंजना।

उत्तर—न्यायशास्त्र के विद्वान महिमभट्ट ने अपने "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रन्थ में व्यंजना का खण्डन करके व्यंग्यार्थ को अनुमान से पृथक् नहीं माना है। अर्थात् व्यंग्यार्थ की सिद्धि-अनुमान के द्वारा हो जाती है। उसके लिये व्यंजनावृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी आशय को प्रदर्शित करने के लिये मम्मटाचार्य ने उनके मत का उल्लेख करते हुये लिखा है कि—**"ननु वाच्याद-सम्बन्धस्तावन्नप्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसंगात् त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति"**।

इसका आशय यह है कि वाच्यार्थ से असम्बद्ध (व्यंग्य) अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। तथा जो कुछ अर्थ ज्ञात होता है वह अर्थ के बिना ज्ञात नहीं होता है। अतः व्यंग्य-व्यंजक भाव भी व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता है और व्याप्तियुक्त नियतधर्मी अर्थात् पक्ष में रहने से तथा व्याप्ति एवं पक्षधर्मतायुक्त होने से पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, रूप अनुमान के तीन रूपों से साध्य (लक्ष्य) की सिद्धि अनुमान से ही होती है। अतः व्यंग्य-व्यंजक भाव भी अनुमान से पृथक् नहीं है। इस प्रकार

व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि के व्यञ्जनावृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यञ्जना का अनुमान के अन्तर्गत ही अन्तर्भाव हो जाता है।

अनुमान की प्रक्रिया—(१) व्याप्ति और (२) पक्षधर्मता ये दो मुख्य अंश अनुमान की सिद्धि में अनिवार्य होते हैं। व्याप्ति का अर्थ साहचर्य नियम है जैसे जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है। यह धुआँ और आग का सम्बन्ध साहचर्य नियम कहा जायेगा तथा इस साहचर्य नियम को ही व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति के अभाव में अनुमान नहीं किया जा सकता है। अतः व्याप्ति अनुमान का प्रथम मुख्य अंग है।

पक्ष धर्मता—"सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः" अर्थात् जिसमें साध्य (अग्नि आदि) सन्दिग्ध दशा में रहते हैं। उसे पक्ष कहते हैं जैसे पर्वत में जब तक आग की सिद्धि नहीं हो जाती है तब तक सन्दिग्ध साध्यवान् होने से पर्वत "पक्ष" कहा जाता है। अग्नि के हेतु धुयें का पर्वत में अर्थात् पक्ष में रहना आवश्यक होता है क्योंकि पक्ष ज्ञान के बिना व्यक्ति से अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। धूम्गादि रूप लिंग (लक्षण) की पर्वत में (पक्ष में) स्थिर को ही पक्षधर्मता कहते हैं। इसलिये अनुमान के लिये (१) व्याप्ति और (२) पक्षधर्मता इन दोनों की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। इसके साथ अनुमान में जो 'लिंग' या हेतु होता है उसमें (१) पक्ष (२) सपक्ष (३) विपक्ष व्यावृतत्व ये तीन धर्म होते हैं। इन तीनों से युक्त हेतु, शुद्ध हेतु होता है और इनमें किसी एक के अभाव में हेतु नहीं रह जाता है। अपितु हेत्वाभास हो जाता है। अतः व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त तीन रूप हेतु के होने पर ही अनुमान होता है।

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन।

गोदावरी कच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

प्रस्तुत श्लोक में कोई स्वैरिणी अपने स्वच्छन्दाचरण में विघ्न देखकर पुजारी जी को सम्बोधित करके कहती है कि हे पुजारी जी अब आप विश्वासपूर्वक पुष्प तोड़िये भ्रमण कीजिये क्योंकि जो प्रतिदिन कुत्ता आपको दुःखी करता था उस कुत्ते को गोदावरी की झाड़ी में रहने वाले सिंह ने मार डाला है। अब आप स्वतन्त्र होकर भ्रमण कीजिये। इस प्रकार वाच्यार्थ विधि रूप है। परन्तु व्यंग्यार्थ निषेध-रूप है। इस व्यंग्यार्थ को महिमभट्ट ने अनुमान के द्वारा ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुये कहा गया है कि यहाँ गोदावरी के तट पर बने हुये घर में रहने वाले कुत्तों के अभाव से भ्रमण की स्वतन्त्रता का ज्ञान होता है किन्तु वहीं गोदावरी के तट पर सिंह के निवास रूप हेतु से भ्रमण के अभाव का अनुमान होता है। तथा जो-जो डरपोक व्यक्तियों का भ्रमण होता है वह भय के अभाव में ही होता है। इस व्याप्ति से सिंह की उपस्थिति से डरपोक के भ्रमण का अनुमान अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति

होता है। अतः व्यतिरेक अनुमान से भ्रमण के निषेध की प्रतीति हो जाती है। उसके लिये व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। महिमभट्ट ने इस प्रकार व्यंजना का खंडन करके व्यंग्यार्थ को अनुमान के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है।

महिमभट्ट का खण्डन—मम्मट का मत है कि महिमभट्ट के द्वारा दिये हुये हेतु, हेतु नहीं कहे जा सकते हैं। अपितु उन्हें हेत्वाभास कह सकते हैं। हेत्वाभास ५ प्रकार का होता है। महिमभट्ट के दिये हुये हेतु में तीन प्रकार के हेत्वाभासों के लक्षण प्राप्त होते हैं। अतः हेतु के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता है। सिंह की उपस्थिति भीरु पुरुष के भ्रमण के अयोग्य होती है यह कोई हेतु नहीं हो सकता है। अपितु अनैकान्तिक हेतु है क्योंकि भीरु भ्रमण जहाँ-जहाँ हो वहाँ-वहाँ भय के गुरु कारण का अभाव भी हो, यह कोई व्याप्ति नहीं हो सकती है। किन्तु राजा आदि की आज्ञावश डरपोक सैनिक भी युद्ध करने जाता ही है। इसी प्रकार स्वामी अथवा की आज्ञा से एवं प्रिय पत्नी के अनुराग से भय के कारण के होने पर भी भीरु व्यक्ति प्रभु, गुरु और पत्नी को सन्तुष्ट करने के लिये प्रवृत्त होता है। इसलिये सिंहोपलब्धि सत्हेतु नहीं है। अपितु अनैकान्तिक हेतु होने के कारण हेत्वाभास हो जाता है।

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है गोदावरीरूप "पक्ष" में सिंहोपलब्धि निश्चित रूप से होनी चाहिये। परन्तु पुजारी जी ने सिंह की उपस्थिति स्वयं नहीं देखी है। अतः गोदावरी रूप "पक्ष" को सत् पक्ष नहीं मान सकते हैं क्योंकि एक स्वैरिणी स्त्री के कथन से सिंह की उपस्थिति का ज्ञान होता है जो प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार व्याप्ति नहीं बन सकती है और व्याप्ति के अभाव में केवल कथन को प्रमाण नहीं मान सकते हैं। अतः गोदावरी के किनारे सिंह की उपस्थिति निश्चित न होने "यो हेतुराश्रये नावगम्यते **स स्वरूपा सिद्ध**" इस लक्षण के अनुसार गोदावरी रूप "पक्ष" हेतु **"स्वरूपासिद्धहेत्वाभास"** हो जाता है।

अतः इस प्रकार के हेतु के **"अनैकान्तिक"** और **"स्वरूपासिद्ध"** 'हेत्वाभास' होने पर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, तो फिर अनुमान की प्रवृत्ति के अभाव में वाच्यार्थ भ्रमण विधि रूप से निषेध भ्रमण रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति किस व्यापार से होगी। वह केवल एक ही व्यापार जिसे व्यंजन-व्यापार अथवा ध्वनन या द्योतन व्यापार कहते हैं। इसलिये महिमभट्ट को भी व्यंग्यार्थ बोध के लिये व्यंजना स्वीकार करनी पड़ेगी। अनुमान के अन्तर्गत व्यंजना का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार **"निःशेषच्युतचन्दनम्"** इत्यादि स्थलों पर भी व्याप्ति पक्षधर्मता एवं पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष हेतुओं के असत् होने के कारण अनुमान की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। अतः अधर्म पद की सहायता से व्यंजना द्वारा **"न गतासि"** से

गतासि यह व्यंग्यार्थ प्रतीति होती है। व्यंजनावृत्ति के लिये व्याप्ति आदि अनुमान के कारणों की कोई आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि व्यंजना तो नियत सम्बन्ध से अनियत सम्बन्ध से तथा नियतानियत सम्बन्ध एवं चेष्टा एवं भाव भंगिमा आदि से भी व्यंग्यार्थ का बोध कराती है। अत: अनुमान का यह क्षेत्र नहीं हो सकता है। व्यंग्यार्थ बोध के लिये केवल व्यंजना का ही आश्रय ग्रहण किया जाता है ●

प्रश्न २७—रस दोषों का विवेचन करते हुये रस परिहार की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण कीजिये।

(मेरठ वि० वि० १९६९, ८७, आगरा वि० वि० १९७१, ८४)

What do you understand by रसदोष ? Define and illustrate the different varieties.

कोई साधारण व्यक्ति भी अपनी प्रिय वस्तु में दोष देखना पसन्द नहीं करता है, तो फिर लोकोत्तर कविकर्म में निपुण आलंकारिक ही कैसे काव्य में दोष देखना पसन्द कर सकते थे। इसीलिये दोष प्रकरण की अवतारणा की गई है कि हम दोष को समझने और यथास्थान परिहार करने के लिये प्रयत्नशील रहें। सर्वप्रथम काव्यदोष का स्वरूप, अग्निपुराण में देखा गया है कि "उद्वेग जनको दोष:" अर्थात् जिस रचना को पढ़ने, सुनने एवं निर्माण करने से उद्वेग अर्थात् ग्लानि उत्पन्न हो, तो वह रचना दोषयुक्त होती है। इसके पश्चात् काव्यप्रकाशकार ने काव्यगत दोषों का विवेचन विस्तार के साथ किया है। सप्तमोल्लास के प्रारम्भ में दोष का सामान्य स्वरूप वर्णन करते हुये लिखा है कि—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्य:।

उभयोपयोगिन: स्यु: शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स:॥

इसका आशय यह है कि यहाँ मुख्यार्थ से तात्पर्य रसदोष है। वाच्यार्थ नहीं है, अर्थात् जिससे मुख्यार्थ (रस) का अपकर्ष होता है उसे दोष कहते हैं तथा उस रस का आश्रय होने पर वाच्यार्थ भी मुख्यार्थ कहा जाता है। यहाँ रस शब्द साधारण रूप सरस रचना का वाचक है। इसलिये रस के साथ चमत्कारी वाच्यार्थ का अपकर्षक भी दोष कहा जाता है। अत: सरस रचना के उत्कर्ष को अपकर्ष करने वाले हेतुओं को दोष कहते हैं। इस प्रकार सामान्य दोष का प्रदर्शन करके सप्तम उल्लास के अन्त में विशेष रूप से रस दोषों का विवेचन किया है। यहाँ रस शब्द का आशय शृंगारादि रसों से ही है। आचार्य मम्मट ने निम्नस्थ तीन कारिकाओं का उल्लेख करते हुये १३ प्रकार के रसदोषों का विवेचन किया है कि——

व्यभिचारिरसस्थायीभावानां शब्दवाच्यता।

कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो:॥

प्रतिकूलविभावविग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः ।
अकाण्डेप्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृतिः ॥
अंगिनोऽननुसंधान प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनंगस्याभिधानं च रसे दोषास्युरीदृशाः ॥

(१) व्यभिचारीभावों की स्वशब्दवाच्यता ।
(२) रसों की (शृंगारादि की) स्वशब्दवाच्यता ।
(३) स्थायीभावों (रत्यादि की) स्वशब्दवाच्यता ।
(४) अनुभावों की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति ।
(५) विभावों की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति ।
(६) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण करना ।
(७) रस की बार-बार दीप्ति ।
(८) अकाण्ड (असमय) में रस का विस्तार करना ।
(९) अकाण्ड (असमय) में उसका विच्छेद करना ।
(१०) अप्रधान (गौण) रस का अत्यधिक विस्तार से वर्णन करना ।
(११) प्रधानरस को त्याग देना या विस्मरण करना ।
(१२) प्रकृतियों का विपर्य करके वर्णन करना ।
(१३) अनंग अर्थात् प्रधानरस के अनुपकारक रस का कथन करना ।

इस प्रकार ये १३ दोष रसों में होते हैं। इन १३ दोषों से रहित रस वर्णन सहृदय को आनन्दित करने वाले होते हैं। अतः क्रमशः इन रस दोषों के उदाहरण देखिये—

(१) व्यभिचारीभावों की स्वशब्दवाच्यता—

जब व्यभिचारीभावों के वाचक शब्दों का कथन किया गया है तो वहाँ व्यभिचारीभावों की स्वशब्द (वाच्य शब्द) से कथन होने के कारण व्यभिचारीभावों की स्वशब्दवाच्यता नामक दोष होता है जैसे—

सुव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे ।
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यंदिनि ॥

प्रस्तुत श्लोक के द्वारा शिव से मिलने के लिये उद्यत पार्वती के प्रथम मिलन की दशा का वर्णन करते हुए कवि ने व्रीडा, करुणा त्रास, विस्मय, आदि व्यभिचारी-भावों का व्यभिचारीभाव-वाचक शब्दों से कथन किया है। इसलिये स्पष्ट रूप से यहाँ व्यभिचारीभावों की स्वशब्दवाच्यता नामक दोष माना जाता है।

(२) रस का स्वशब्दवाच्यता दोष—जहाँ जिस रचना में रस का कथन

रस शब्द से किया गया हो और जहाँ शृंगारादि शब्दों से कथन किया गया हो तो वहाँ रस दोष होता है जैसे—

तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं कञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् :
नेत्रयोः कृतावतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः ॥

कामदेव के विजय की मङ्गलश्री और ईषद् ऊपर के हाथों को उठायी हुई दशा में देखी गई नायिका को देखकर इस नायक के हृदय में कोई अनिर्वचनीय रस की उत्पत्ति हो गई। यहाँ रस का वाचक रस शब्द से कथन होने के कारण रस दोष माना जाता है। अतः प्रस्तुत श्लोक में रस का स्वशब्दवाच्यता नामक दोष स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा है।

(३) स्थायीभावों की स्वशब्दवाच्यता दोष—जहाँ जिस रचना में स्थायी भावों का (रत्यादिकों का) स्वशब्द से कथन किया गया हो तो वहाँ स्थायी भावों को स्वशब्दवाच्यता नामक दोष होता है जैसे—

सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत ॥

प्रस्तुत उदाहरण में वीररस में स्थायीभाव उत्साह का स्वशब्द से कथन किया गया है। अतः स्थायीभावों की स्वशब्दवाच्यता नामक दोष है।

(४) अनुभावों की कष्ट कल्पना से अभिव्यक्ति—

कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौतदिङ् मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोंऽशुक-निवेशविशेषक्लृप्तिव्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नवयौवना सा ॥

इस उदाहरण में शृंगार रस के उद्दीपन विभाग चन्द्रमा और आलम्बन विभाव नायिका अनुभाव में पर्यवसित रूप से विद्यमान है अर्थात् शृंगार रस के अनुकूल नायक में अनुभावों का वर्णन नहीं किया गया है; परन्तु नायिका का वर्णन उद्दीपक रूप में होने के कारण नायक में स्वेद रोमाञ्च आदि अनुभावों की उत्पत्ति आवश्यक प्रतीत होती है। इस प्रकार स्वेद रोमाञ्च आदि अनुभावों की प्रतीति प्रकरण आदि के अनुसन्धानवश विलम्ब से होती है। अतः यहाँ अनुभावों की कष्ट-कल्पना नामक दोष होता है।

(५) विभावों की कष्ट कल्पना का उदाहरण—

परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलति भृशं परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥

इस उदाहरण में बेचैनी आदि अनुभाव केवल शृंगार रस में ही नहीं होते, अपितु, करुण, भयानक, वीभत्स आदि रसों में भी बेचैनी आदि अनुभाव हो सकने

हैं। अतः कामिनीरूप विभावों की प्रतीति बड़ी कठिनता से हो रही है। इस प्रकार यहाँ विभाव की कष्टकल्पना नामक दोष माना जाता है।

(६) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण—

इससे पूर्व पाँच रस-दोषों का वर्णन करने के पश्चात् विभावादि का प्रतिकूल वर्णन करने पर प्रतिकूल विभावादि ग्रहण नामक षष्ठ दोष का उदाहरण दिया जाता है—

"न मुग्धे ! प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥"

यहाँ शृंगार रस के प्रतिकूल शान्त रस के विभाग के प्रसंग से निर्वेदरूप व्यभिचारीभाव का प्रतिपादन किया गया है। अतः वर्ण्य शृंगार रस के प्रतिकूल विभाग और व्यभिचारीभाव का ग्रहण नामक दोष होता है।

(७) रस की पुनः पुनः दीप्ति—

किसी वर्णन में एक ही रस का बार-बार अतिशय वर्णन किया जाय और कोई विशेष नवीनता न हो तो वहाँ रस की पुनः पुनः दीप्ति नामक दोष होता है, जैसे—कुमारसम्भव में रतिविलाप के वर्णन के प्रसंग में करुण रस की दीप्ति करके एक ही रस का बार-बार वर्णन करने से सहृदयों को भी नीरसता प्रतीत होने लगती है। अतः यहाँ दोष माता जाता है।

(८) अकाण्ड में प्रथन—

अकाण्ड अर्थात् अवसर न होने पर भी अवसर के प्रतिकूल रस का वर्णन करने पर अकाण्ड-प्रथन नामक दोष होता है। जैसे वेणीसंहार नामक नाटक के द्वितीय अंक में अनेक वीरों के नाश का प्रारम्भ होने पर दुर्योधन के द्वारा भानुमती के साथ शृंगार रस का वर्णन करना समय के विपरीत होने के कारण अकाण्ड-प्रथन नामक दोष होता है।

(९) अकाण्ड में छेद—

असमय में वर्ण्य विषय को रोककर अवर्ण्य का वर्णन करने पर अकाण्ड छेद नामक दोष होता है। जैसे—महावीर चरित्र नामक नाटक के द्वितीय अंक में राम और परशुराम के मध्य संवाद के वीररस की चरम सीमा पर पहुँचने पर "ककण खोलने के लिये जा रहा हूँ" यह राम का कथन समय के विपरीत तथा प्रस्तुत वीर-रस के प्रसंग को रोककर करे जाने के कारण सहानुभूति में बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः यहाँ अकाण्ड छेद नामक दोष होता है।

(१०) अंग (अप्रधान) का विस्तार से वर्णन—

अंग अर्थात् अप्रधान का (प्रतिनायक आदि का) विस्तार के साथ वर्णन करने पर यह दोष है। जैसे—भर्तृमेण्ठ के द्वारा विरचित हयग्रीववध नामक नाटक में प्रधान नायक विष्णु को छोड़कर प्रतिनायक हयग्रीव का विस्तार से वर्णन किया

गया है। अतः हयग्रीववध नामक नाटक अंग का विस्तार वर्णन नामक दोष का उदाहरण माना जाता है।

(११) प्रधान का विस्मरण करना—

अंगी अर्थात् प्रधान (नायक नायिका) का विस्मरण करके वर्णन करने पर यह दोष होता है जैसे—रत्नावली नामक नाटिका में प्रधान उदयन तथा रत्नावली (सागरिका) को विस्मृत करके बाभ्रव्य कंचुकी के आने पर, विजयवर्मा के वृतान्त श्रवण में उदयन के तल्लीन होने पर, शृंगार रस का विच्छेद हो जाता है। अतः यहाँ रसदोष माना जाता है।

(१२) प्रकृति विपर्यय—

दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य नामक तीन प्रकार के प्रकृति के नायक होते हैं। दिव्यादिव्य के अन्तर्गत, इन्द्र, वरुण आदि और अदिव्य के अन्तर्गत, उदयन, हर्ष, युधिष्ठिर आदि और दिव्यादिव्य के अन्तर्गत राम, कृष्ण आदि अवतारधारी गृहीत होते हैं तथा ये नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त भेद से चार प्रकार के होते हैं और ये चार प्रकार के नायक, उत्तम, मध्यम, अधम आदि के भेदों से ३६ प्रकार के होते हैं। रति, हास, शोक, अद्भुत आदि का वर्णन अदिव्य नायकों के समान दिव्य नायकों में भी करना चाहिये। परन्तु यह ध्यान रहे कि उत्तम देवता विषयक रति एवं सम्भोग आदि संयोग शृंगार का वर्णन नहीं करना चाहिये, क्योंकि उत्तम देवता विषयक रति सम्भोग आदि का वर्णन करना माता पिता के सम्भोग के वर्णन के समान वर्णन करना अनुचित होता है जैसे—कालिदास ने कुमारसंभव में जो शिव-पार्वती के संयोग के शृंगार का वर्णन किया है। वह अनुचित होने के कारण रसदोष माना जाता है। इसलिये दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य नायकों की मर्यादा के अनुसार ही वर्णन करना चाहिये। अमर्यादित वर्णन करने पर प्रकृतिविपर्यय नामक दोष हो जायेगा।

(१३) प्रकृतरस के अनुपकारक रस का वर्णन करना—

जैसे कर्पूरमंजरी नामक नाटिका में विभ्रमलेखा तथा स्वयं (राजा) के द्वारा वर्णन की गई वसन्त शोभा की उपेक्षा करके बन्दी (चारण) जनों द्वारा की गई वसन्त शोभा वर्णन की प्रशंसा करना दोष माना जाता है। इस प्रकार यहाँ तक १३ प्रकार के रस दोषों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि कहीं-कहीं पर विशेष अवस्था के कारण ये रसदोष नही रह जाते हैं। अपितु रस के उपकारक होकर गुण रूप होता है, जैसे कि कहा भी है—

"न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणक्वचित्।"

अर्थात् कहीं पर स्वशब्द से अहित होने पर भी संचारी भाव दोष नहीं होते हैं। जैसे—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया,
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य व चनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ॥
दृष्ट्वाऽग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे संगमेः
सरोहत्पुलका हरेण हसाता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥

प्रस्तुत श्लोक रत्नावली नाटिका के मङ्गलाचरण से उद्धृत किया गया है। इस श्लोक में, औत्सुक्य तथा लज्जा इन दो व्यभिचारी अंगों का स्वशब्द से अर्थात् उनके वाचक शब्दों से कथन किया गया है। तथापि यहाँ रसदोष नहीं माना जाता है। इसका कारण यह है कि यदि औत्सुक्य तो लज्जा का स्वशब्द से कथन नहीं करेंगे, तो "त्वरा" तथा व्यावर्त्तन रूप अनुभाव से औत्सुक्य तथा लज्जा का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि त्वरा और व्यावर्त्तन भय तथा रोष आदि के भी कारण हो सकते हैं। किन्तु भय और रोष विवक्षित नहीं है। अपितु कवि को औत्सुक्य तथा लज्जा के कारण त्वरा और व्यावर्त्तन विवक्षित है। अतः यहाँ स्वशब्द से व्यभिचारी भावों का कथन होने पर भी दोष नहीं माना जाता है।

प्रस्तुत वर्ण्य रस के विपरीत संचारीभाव आदि का बाधरूप से कथन करने पर भी दोप नहीं होता है। अपितु गुणदायक होता है। जैसे—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ? हृदन्तः ॥

इस श्लोक में वर्णित पाण्डुता आदि व्यभिचारीभाव श्रृंगार रस तथा राजयक्ष्मा आदि रोगजन्य करुण रस में समान रूप से होते हैं। तथापि यहाँ पाण्डुता आदि का वर्णन करुण रसोचित होते हुये भी श्रृंगार रस को पुष्ट कर रहा है। अतः यहाँ रस दोष नहीं माना जाता है। इसी प्रकार "सत्य मनोरमा रामाः" इत्यादि श्लोक में पूर्वार्द्ध का वर्णन श्रृंगाररस का द्योतक है और उत्तरार्द्ध का वर्णन शान्त रस का प्रतिपादक है। परन्तु पोष्यपोषकभाव से वर्णित होने के कारण रस दोष नहीं होता है। इन उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी रसदोष का परिहार होता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने निम्नकारिका का अवतरण किया है—

आश्रयैक्ये विरुद्धोयः सः कार्यो भिन्नसंश्रय।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥

जिन दो रसों का वर्णन किसी एक आधार को मानकर किया जाता है और उनमें विरोध होना है उन विरोधी रसों के आधार को पृथक्-पृथक् करने में विरोध

समाप्त हो जाता है। तथा जिन रसों में नैरन्तर्य (सदा) से दोष होता है। उनके मध्य में अन्य रस का वर्णन करने से दोष समाप्त हो जाता है अर्थात् एक आश्रय से होने वाले वीर और भयानक के दोष का आश्रय भेद से अर्थात् प्रतिपक्षी के माध्यम से भयानक रस का वर्णन करने से दोष समाप्त हो जाता है तथा नागानन्द नाटक में शान्त रस और शृंगार का विरोधी वर्णन अद्भुत रस को ("अहोगीतम् अहो वादित्रम्" को) डालकर नैरन्तर्य विरोध को समाप्त किया गया है।

रस विरोध के तीन अन्य उपाय

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।

अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्॥

इसका आशय यह है कि विरोधी रसों का वर्णन (१) स्मरण रूप में अथवा (२) साम्य वर्णन के प्रसंग में तथा जहाँ विरोधी रसों का वर्णन (३) अंगांगिभाव से किया जाय, तो वहाँ रसदोष नहीं होता है। जैसे—

(१) **'अयं स रसनोत्कर्षी'** इत्यादि श्लोक में भूरिश्रवा की पत्नी पूर्वावस्था का स्मरण करती है। यहाँ करुणा रस के प्रसंग में शृंगार का वर्णन आने पर भी स्मर्यमाण पूर्वावस्था से उपस्थित शृंगार, करुण को पुष्ट ही कर रहा है। अतः रसदोष नहीं माना जाता है।

(२) **"दन्तक्षतानि करजैश्च"** इत्यादि श्लोक में कामिनी के द्वारा किये दन्तक्षत जैसे आनन्ददायक होते हैं, उसी प्रकार सिंहिना के द्वारा भगवान के शरीर पर किये गये दन्तक्षत अथवा नखक्षत आनन्ददायक होते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से शृंगार तथा शान्तरस का साम्य वर्णन किया गया है। अतः साम्य वर्णन के कारण विरोधी शृंगार तथा शान्तरस में दोष नहीं होता है।

(३) **एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचार**

एवमाशाग्रहस्तै क्रीडन्ति धनितोऽर्थिभिः॥

इस श्लोक में धनी लोग आओ, जाओ इत्यादि कहकर याचकों के साथ क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार यहाँ क्रीडा के अंगरूप में वर्णन होने के कारण आगमन तथा गमन का एक साथ वर्णन होने पर भी दोष नहीं होता है। इसी प्रकार **"क्षिप्तो हस्तावलग्नः"** इत्यादि श्लोक त्रिपुर को भस्म करने वाले शंकर के प्रतापातिशय का अंग करुणरस है और शृंगार भी करुणा का अंग है तथापि शृंगार और करुणा दोनों अंगी न होकर शिव के प्रतापातिशय के अंग हैं अर्थात् पोषक हैं। इसलिये दोष नहीं माना जाता है। इसके अतिरिक्त यह समझना आवश्यक है कि चतुर्थ उल्लास में प्रतिपादित रस अलौकिक होने के कारण उसका किसी से विरोध नहीं हो सकता है। अतः यहाँ प्रतिपादित रसदोष एवं परिहार से स्थायीभाव दोष

अथवा स्थायीभाव दोष-परिहार समझना चाहिये। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है कि—

गुण: कृतात्मसंस्कार: प्रधानं प्रतिपद्यते
प्रधानस्योपकारे हि यथा भूयसि वर्तते।

अर्थात् प्रधान (अलौकिक) रस का विरोध एवं अंगांगिभाव नहीं हो सकता है। अत: यहाँ रस, शब्द से स्थायीभाव का ग्रहण किया जाता है।

प्रश्न २८— **गुण और अलंकार का सामान्य स्वरूप एवं अन्तर स्पष्ट करते हुए वामनोक्त दश गुणों में अन्तर्भाव स्पष्ट कीजिये।**

(मेरठ वि० वि० १९७९, आगरा वि० वि० १९५५, ६५, ७७, ८०)

Define गुण and अलंकार according to मम्मट bringing out clearly the difference between them. Discuss fully how he reduces the ten गुण to three only.

उत्तर—संस्कृत साहित्य में अलंकार का प्रतिपादन प्राचीनकाल से किया जाता रहा है। व्यास, उद्भट, वामन, दण्डी आदि आचार्यों ने अलंकार का महत्व स्वीकार किया है। वामन ने गुण और अलंकार का स्वरूप निश्चित् करते हुए लिखा है कि—

'काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा:। तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा: ।:'

अर्थात् काव्य में शोभा रूप चमत्कार के जनक गुण होते हैं और अलंकार उस काव्य के शोभारूप चमत्कार को बढ़ाने वाले होते हैं।

ध्वनी-प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने काव्य की आत्मा रसादिध्वनि के आश्रित धर्म को गुण कहा है और काव्य के शरीर रूप शब्द और अर्थ के आश्रित धर्म को अलंकार कहा है जैसा कि प्रस्तुत कारिका से स्पष्ट हो रहा है कि—

"तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं, ते गुणास्मृता:।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्या कटकादिवत्॥"

इस प्रकार काव्य के आत्मातत्व के (रस के) आश्रित धर्म गुण और काव्य के शरीर रूप शब्दार्थ आश्रित धर्म को अलंकार कहते हैं।

समन्वयवादी वाग्यदेवतावतार मम्मट ने प्राचीन आचार्यों के गुण तथा अलंकार सम्बन्धी मतों की सम्यग् समीक्षा करके समन्वयात्मक गुण और अलंकार का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन:।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा:॥

इसका भाव यह है कि जिस प्रकार शौर्य, औदार्य आदि धर्म आत्मा के उत्कर्ष करने वाले होते हैं और उन्हें लोक में गुण शब्द से व्यवहार किया जाता है। उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस के उत्कर्ष करने वाले धर्म (ओज, प्रसाद आदि) को गुण कहते हैं तथा यह गुण, काव्य में अचल स्थिति से रहते हैं।

इसी प्रकार अलंकार का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है कि—

"उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलङ्कारारतेऽनुप्रासोपमादय ॥

अर्थात् जिस प्रकार हार, कटक, कुण्डलादि आभूषण शरीर के अंकों की शोभावृद्धि करते हैं उसी प्रकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभावृद्धि करते और कभी-कभी काव्य की आत्मा रस के उपकारक होते हैं, कभी नहीं भी होते हैं। क्योंकि रसहीन काव्य के शरीर शब्द और अर्थ की शोभा में वृद्धि करते हैं। परन्तु कहीं पर रसयुक्त काव्य में अलंकार होते हुए भी शोभावृद्धि में सहायक नहीं होते हैं। इसीलिये मम्मट ने गुणों को अनिवार्य माना और अलंकारों को काव्य में अनिवार्य नहीं माना है।

मम्मट के मतानुसार गुण और अलंकार का भेद निम्न प्रकार से समझ सकते हैं—

गुण	अलंकार
(१) रस के आश्रित धर्म को गुण कहते हैं।	(१) शब्द और अर्थ के आश्रित धर्म को अलंकार कहते हैं।
(२) रस में गुण अचल स्थिति से रहते हैं तथा गुण रस के साक्षात् उपकारक होते हैं।	(२) शब्द और अर्थ में अलंकार अस्थिर रूप से रहते हैं तथा अलंकार शब्द और अर्थ द्वारा रस के उपकारक होते हैं।
(३) गुण रस के साथ अनिवार्य रूप से रहते हैं तथा गुण सदा रस के उत्पकर्षाधायक होते हैं।	(३) अलंकार रस के साथ अनिवार्य रूप से नहीं रहते हैं तथा अलंकार कभी रस के उपकारक भी होते हैं और कभी नहीं होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ओज, प्रसाद आदि गुण काव्य में अनिवार्य एवं अचल स्थिति से रहते हैं। ठीक इसके विपरीत अलंकार (अनुप्रासोप-

मादि) काव्य के लिये अनिवार्य नहीं है। अतः मम्मट के मतानुसार काव्य में गुणों का स्थान अलंकारों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि गुण कितने होते हैं और उनका स्वरूप क्या है ? प्राचीन आचार्यों में प्रमुख वामनाचार्य ने दस गुणों का प्रतिपादन किया है। परन्तु मम्मटाचार्य ने केवल तीन गुणों को स्वीकार करते हुए वामन के १० गुणों का खण्डन करते हुए लिखा है कि—

"माधुर्यौर्जः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश"

(मेरठ वि० वि० १६७१, ७३)

अतः मम्मट के मत से माधुर्य, ओज, प्रसाद ये तीन ही गुण होते हैं। वामनोक्त १० गुण मान्य नहीं हैं। वामन ने निम्नस्थ दस गुणों को माना है।

(१) ओज (२) प्रसाद (३) श्लेष (४) समता (५) समाधि (६) माधुर्य (७) सौकुमार्य (८) उदारता (६) अर्थव्यक्ति (१०) क्रान्ति वामनोक्त ये दस शब्दगुण ही दस अर्थगुण होते हैं। मम्मट ने वामनोक्त दस शब्दगुण और दस अर्थगुणों का अपने तीन गुणों के (माधुर्य, ओज, प्रसाद के) अन्तर्गत अन्तर्भाव करके केवल तीन गुणों को ही स्वीकार किया है।

सर्वप्रथम मम्मट का मत है कि जब गुण, काव्य की आत्मा और रस धर्म माने जाते हैं, तो वे गुण काव्य के शरीर शब्द और अर्थ के धर्म नहीं हो सकते हैं। अतः गुणों का शब्दगुण और अर्थगुण यह विभाग भी नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक अपनी अनुभूति के आधार से रस प्रतीत में तीन प्रकार की (१) द्रुति (२) विस्तार (३) विकास की अवस्थाओं का सहारा ग्रहण करता है। अतः इस अनुभूति के अनुसार काव्य की आत्मा रस के उत्कर्षाधायक तीन गुणों को ही स्वीकार करना अधिक संगत प्रतीत होता है। इसी आशय से मम्मट ने तीन गुणों के लक्षणों का कथन किया है।

(१) माधुर्य—आह्लादकत्व माधुर्य्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।

अर्थात् चित्त के द्रविभाव का कारण तथा जो शृंगार में रहने वाला आह्लादस्वरूप का कारण है, उसे माधुर्य गुण कहते हैं।

(२) ओज—"दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति"।

वीररस में रहने वाली आत्मा अर्थात् चित्त के विस्तार का करण रूप दीप्ति को ओज गुण कहते हैं।

(६) प्रसाद—शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

सूखी लकड़ी में शीघ्र व्याप्त होने वाले अग्नि के समान अथवा साफ गुंजे

हुए कपड़े में शीघ्र व्याप्त हो जाने वाले जल के समान जो सहसा हृदय में व्याप्त हो जाय तथा सभी रसों में रहने वाले धर्म विशेष को प्रसाद गुण कहते हैं।

इस प्रकार मम्मट ने अभीष्ट तीन गुणों का स्वरूप प्रतिपादन करके वामनोक्त दस गुणों का खण्डन करते हुये लिखा है कि—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥

इसका आशय यह है कि वामनोक्त दस शब्दगुण कहीं तो इन तीन गुणों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं और कहीं पर दोष-परिहार रूप होते हैं और कुछ तो दोष को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार ये १० गुण कहीं नहीं होते हैं अर्थात् (१) श्लेष (२) समाधि (३) उदारता (४) प्रसाद इन चार गुणों का (५) ओजगुण के अन्तर्गत अन्तर्भाव हो जाता है। वामनोक्त (६) माधुर्य गुण को मम्मट ने भी माधुर्य के नाम से स्वीकार किया है। (७) अर्थव्यक्ति गुण को मम्मट ने प्रसाद गुण के अन्तर्गत ही माना है पृथक् नहीं। (८) समता गुण कहीं दोष हो जाता है। अतः समता को गुण नहीं माना जा सकता है। (९) सौकुमार्य (१०) कान्ति गुण को इसलिये गुण नहीं मान सकते हैं क्योंकि कष्टत्व तथा ग्राम्यत्व दोष परिहार करने से सौकुमार्य तथा कान्ति गुण की सत्ता नहीं रह जाती है। अतः केवल तीन (माधुर्य, ओज, प्रसाद) गुण ही स्वीकार करने योग्य हैं। शेष सात शब्द-गुण स्वीकार्य नहीं हैं।

इस प्रकाट मम्मट ने दस शब्द गुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव आदि मानकर तीन गुणों की मान्यता स्वीकार की है। इसके बाद वामनोक्त दश अर्थगुणों का भी खण्डन करते हुए लिखा है।

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥

इस कारिका के द्वारा मम्मट ने प्रौढि के पाँच भेदों का वर्णन किया है। तथा वामन का (१) ओजगुण ("अर्थस्यप्रौढिरोजः") अर्थात् अर्थ की प्रौढि को ओज कहते हैं। परन्तु यहाँ प्रौढि का अर्थ, अर्थप्रतिपादन कुशलता है। अतः प्रौढि केवल विच्त्रितामात्र है। गुण नहीं है, क्योंकि प्रौढि के बिना भी काव्यत्व होता है। साभिप्रायत्वरूप ओज को अपुष्टार्थरूप दोष का अभाव माना जा सकता है। इसी प्रकार अर्थवैमल्यरूप (२) प्रसादगुण को भी अधिक पदत्वरूप दोष के अभाव में माना जाता है। उक्ति की विचित्रता रूप (३) माधुर्य अनवीकृतत्व दोष के अभाव रूप में माना जा सकता है। अपारुष्यरूप (४) सौकुमार्य गुण को अमंगल और अश्लील रूप दोष के अभावरूप में मानकर अग्राम्यरूप (५) उदारता गुण को ग्राम्यत्व दोष के अभावरूप में माना है। (६) अर्थव्यक्ति नामक गुण को वस्तु के स्वभाव को स्पष्ट करने वाले स्वभावोक्ति अलंकार का ही रूप माना है। अतः

अर्थ व्यक्ति पृथक् गुण नहीं हो सकता है। (७) श्लेष नामक गुण भी उचित वैचित्र्यरूप है, गुण नहीं है। (८) अर्थ की अविषमता रूप समता गुण को भग्नप्रक्रमता दोष का अभाव मात्र माना है। (९) दीप्तिरसत्व कान्ति गुण को रस अथवा गुणीभूतव्यंग्य के अन्तर्गत माना जा सकता है। कवि के हृदय में रहने वाला ज्ञानरूप काव्य का कारण माना जाता है गुण नहीं अतः (१०) समाधि को भी गुण नहीं मान सकते हैं। वह तो कवि के हृदय में रहने वाला ज्ञानरूप काव्य-कारण है गुण नहीं है।

इस प्रकार वामनोक्त दस शब्दगुणों का और दस अर्थगुणों का खण्डन करके मम्मट के तीन (१) माधुर्य (२) ओज (३) प्रसाद गुण माने हैं। साहित्य-जगत् को मम्मट की गुणत्रय की मान्यता भी एक अनुपम देन है। परवर्ती विश्वनाथ, जगन्नाथ पण्डितराज आचार्यों ने इन्हीं तीन गुणों को मान्यता प्रदान कर अपनाया है। अतः वामनोक्त दस गुण मान्य नहीं हैं। केवल मम्मट द्वारा प्रतिपादित तीन गुण ही काव्यात्मा रस के उत्कर्षाधायक होते हैं।

प्रश्न २९—गुण और अलंकार का अन्तर स्पष्ट करते हुए काव्य में गुण और अलंकार का स्थान निर्धारित कीजिये।

(आगरा वि० वि० १९५४, ५६, ८४, ८७)

What are points of difference between गुण and an Alankara ? Are they indispensable for a faultless kavya ?

उत्तर—साहित्य में अलंकारों का एक महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। अग्निपुराण के अनुसार अलंकार रहित कवि की वाणी उसी प्रकार सुशोभित नहीं होती है, जैसे विधवा स्त्री समाज में सुशोभित नहीं होती है। इसके अतिरिक्त ध्वनिवादी आचार्यों ने भी अलंकारों के महत्व का अनुभव करके अलंकार ध्वनि को स्वीकार करके अलंकारों की महत्ता को व्यक्त किया है। इस प्रकार काव्य में अलंकारों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह सभी अलंकारिक स्वीकार करते हैं, परन्तु प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित किया है।

उद्भट का मत—आचार्य उद्भट गुण और अलंकारों में भेद नहीं मानते हैं अर्थात् उद्भट के मतानुसार लौकिक गुण (शूरता, उदारता, दयालुता आदि) अलंकार (हार, अंगूठी आदि में तो भेद होता है) क्योंकि शूरता आदि गुणों का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध होता है और हार आभूषणों का शरीर के साथ संयोग सम्बन्ध होता है, परन्तु काव्य के गुण (ओज, प्रसाद, माधुर्य) और अलंकार (शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार) आदि काव्य में ये दोनों (गुण और अलंकार) समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः काव्य में गुण (ओज प्रसादादि) अलंकारों (अनुप्रासोपमादि) में भेद नहीं किया जा सकता है तथा जो लोग गुण और अलंकारों

में भेद स्वीकार करते हैं वह तो एक भेड़ियावसान मात्र है। निम्नस्थ पंक्तियों में यही भाव हो रहा है।

समवायवृत्या शौर्यादय: संयोगवृत्या तु हारादय: इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेद:, ओज: प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि। समवायवृत्या स्थितिरिति गड्ड-लिका प्रवाहेणैवेषां भेद:।

वामन का मत—उद्भट के बाद वामनाचार्य ने गुण और अलंकारों का भेद स्वीकार करते हुए लिखा है—

"काव्यशोभाया: कर्तारोधर्मा: गुणा: तदतिशप हेतवस्त्वलंकारा:।"

इसका भाव यह है कि काव्य की शोभा करने वाले धर्मों को गुण और काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

इस प्रकार वामन के मत से काव्य की शोभा कारक गुण और काव्य की शोभावर्द्धक अलंकार होते हैं। अत: ओज, प्रसाद आदि गुण, काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले नहीं होते हैं, परन्तु अलंकार (अनुप्रासोपमादि) काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले नहीं होते हैं। अत: अलंकारों को गुण नहीं कह सकते हैं। अलंकार तो काव्य की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं जैसे—सुन्दर शोभायुक्त-रमणी के अंगों की शोभा वृद्धि तभी आभूषण कर सकते हैं जब रमणी में सौन्दर्यादिगुण पहले से ही विद्यमान होते हैं। उसी प्रकार काव्य में शोभोत्पादक गुणों के (ओज, प्रसाद आदि के) विद्यमान होने पर ही अनुप्रासादि अलंकार शोभावृद्धि करने में समर्थ हो सकते हैं। अत: वाक्य के गुण काव्य के स्वरूपाधायक होते हैं और अलंकार उत्कर्षाधायक होते हैं तथा गुण काव्य केलियें अनिवार्य होते हैं और अलंकार अनिवार्य नहीं होते हैं, क्योंकि अलंकारों के बिना काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है। ठीक इसके विपरीत ओज प्रसादादि गुणों के अभाव में काव्य में काव्यत्व नहीं रहता है। इससे स्पष्ट है कि काव्य गुण अनिवार्य होते हैं और अलंकार अनिवार्य नही होते हैं।

आनन्दवर्द्धन का मत—वामन के बाद आनन्दवर्द्धन ने गुण और अलंकारों में भेद प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता:॥
अंगाश्रितास्त्वलंकारा: मन्तव्या: कटकादिवत॥

इसका तात्पर्य यह है कि काव्य के आत्मतत्व रसभावादि के आश्रित रहने वाले धर्म को गुण कहते हैं और काव्य के शरीररूप शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं अर्थात् गुण, काव्य की आत्मा स्वभाव आदि के आश्रित होते हैं और अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहने वाले अलंकार होते हैं।

मम्मट का मत—आचार्य मम्मट ने वामन और आनन्दवर्द्धन के मतों का

साररूप ग्रहण करके गुण और अलंकारों का भेद स्पष्ट करते हुए गुण और अलंकार का स्वरूप निर्धारित किया है। अतः वामन के मत से काव्य में गुणों की अनिवार्यता और आनन्दवर्द्धन के मत से काव्य की आत्मा रस-भाव आदि की रसधर्मता को ग्रहण करके गुण और अलंकार का स्वरूप करते हुए लिखा है कि—

ये रहस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

अर्थात् जैसे शूरता, उदारता आदि गुण आत्मा के धर्म होते हैं, उसी प्रकार जो काव्य की आत्मा रस के धर्म होते हैं और काव्य के उत्कर्ष के हेतु होते हैं तथा जो काव्य की आत्मा "रस" में अचल स्थिति से रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।

इसके अतिरिक्त जो काव्य में रहने वाले काव्य के शरीर रूप शब्द और अर्थ के कभी-कभी उत्कर्षक के हेतु होते हैं जैसे हार कटक, कुण्डलादि आभूषण पञ्चभूत शरीर का कभी-कभी उत्कर्षण करते हैं, उन्हें काव्य में (अनुप्रासादि को) अलंकार कहते हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिये मम्मट ने लिखा है—

उपकुर्वन्ति ते सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

इस प्रकार अलंकार (अनुप्रासोपमादि) काव्य के शरीररूप शब्द और अर्थ की शोभावृद्धि करते हैं तथा कभी-कभी रस के उपकारक होते हैं और कभी-कभी नहीं भी होते हैं। अतः मम्मट के मतानुसार गुण और अलंकारों का अन्तर निम्न प्रकार समझना चाहिये।

गुण	अलंकार
(१) गुण काव्य की आत्मा रस के स्थिर धर्म होते हैं।	(१) अलंकार काव्य के शरीर शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म होते हैं।
(२) गुण काव्य के आत्मत्व रस के साथ नित्य रहते हैं।	(२) अलंकार काव्य की आत्मा रस के साथ नित्य नहीं रहते हैं अपितु अलंकार रसहीन काव्य में भी रहते हैं।
(३) गुण काव्य की आत्मा रस के साथ रहकर रस के साक्षात् उपकारक होते हैं।	(३) अलंकार रस के साथ रहकर भी कभी शब्द और अर्थ के द्वारा रस के उपकारक होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं।

वस्तुत: काव्य का मूल चमत्कार है अर्थात् कवि का वही काव्य सफल माना जाता है जिसे पढ़ने तथा सुनने से सहृदय का हृदय चमत्कार से तरंगित हो उठे। आनन्दवर्द्धन से पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने वाले रस, गुण, अलंकार इन तीन को माना है। आनन्दवर्द्धन ने भी ध्वनि के इन तीन भेद (रस, अलंकार, वस्तुध्वनि) मानकर अलंकार का महत्व स्वीकार किया है। अग्निपुराण-कर्त्ता व्यासजी ने अलंकार रहित कवि की वाणी की उपमा विधवा स्त्री से देकर काव्य में अलंकार की अनिवार्यता स्वीकार की है। उद्भट ने तो गुण और अलंकारों में भेद ही नहीं माना है। मम्मट भी काव्य में अलंकार की महत्ता को स्वीकार करते हुए ही हुए ही अपने ही काव्य-लक्षण में **"अनलंकृतीपुनः क्वापि"** लिखा है। जिसका आशय यह है कि कवि को अपनी रचना में अलंकार योजना के लिये यथा-शक्ति प्रयत्नशील अवश्य रहना चाहिये परन्तु यदि रसप्रधान रचना में अलंकार न भी आ सकें तो कोई आवश्यकता नहीं। अत: यथासम्भव काव्य में अलंकार अवश्य होने चाहियें। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ और चन्द्रालोककार जयदेव ने मम्मट के तात्पर्य को न समझकर "अनलंकृती" का खण्डन किया है। जयदेव ने मम्मट के "अनलंकृती" शब्दार्थ के विशेषण का खण्डन करते हुये लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

अर्थात् जो मम्मट अलंकार रहित शब्दार्थ जो काव्य मानते हैं वे अग्नि को शीतल क्यों नहीं स्वीकार करते हैं, परन्तु मम्मट का आशय न जानते हुए ही "अनलंकृती" का खण्डन किया है। वस्तुतः मम्मट का आशय यह है कि काव्य में चमत्कार ही काव्यत्व होता है। यह चमत्कार, रसरूप और अलंकाररूप होता है अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारजनक होता है तो वहाँ व्यंग्यार्थ के द्वारा रसरूप चमत्कार ही काव्य का काव्यत्व कहलाता है तथा जहाँ वाच्यार्थरूप चमत्कार होता है वह वाच्यार्थरूप चमत्कार अलंकारों के द्वारा ही काव्य के आनन्द का हेतु होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य में चमत्कार रसरूप तथा अलंकाररूप होता है। अत: काव्य में अलंकारों का महत्व रस के समान ही मानना चाहिये अर्थात् यदि रस और अलंकार में उपमानोपमेय की कल्पना चमत्कार रूप समान धर्म को मानकर करे तो उपमान रस और उपमेय अलंकार कहा जायेगा। अत: काव्य में रस के समान अलंकार का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। ●

प्रश्न ३०—मम्मट के मतानुसार काव्य में अर्थ-साधना के महत्व को स्पष्ट कीजिये।

(मेरठ वि० वि० १९७३, ७६, ८६, १९८८)

अथवा

"सर्वेषामपि प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते" के आशय की समीक्षा कीजिये।

Give the important of Arth (अर्थ) in poetics according to Mammata.

उत्तर—कवि के लिये शब्द और अर्थ दोनों ही समान रूप से काव्यरचना के साधन होते हैं। इसलिये मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में काव्य का शरीर "शब्दार्थों" को माना है तथा द्वितीय उल्लास में तीन प्रकार के शब्द (१) वाचक (२) लक्षक (३) व्यंजक और अर्थ के (१) वाच्य (२) लक्ष्य (३) व्यंग्य इन तीन अर्थों का प्रतिपादन किया है। इसलिये कवि के लिये जिस प्रकार शब्द कवि की काव्यकला के साधन होते हैं, उसी प्रकार अर्थ कवि के लिये काव्य साधना के साधन होते हैं। यद्यपि लोक-व्यवहार में भी अर्थ के तीन भेदों का अनुभव किया जाता है परन्तु लोक-व्यवहार में इन अर्थों का अनुभव सामान्य रूप से होता है, जब कि कवि अपनी रचना में सामान्य और विलक्षण दोनों रूप में अर्थों का प्रयोग करता है अर्थात् सामान्य एवं विलक्षण दोनों प्रकार के अर्थों का प्रयोग कवि अपनी रचना में प्रचुर मात्रा में करता है। कवि के विलक्षण अर्थ के प्रयोग को लोकोत्तर माना गया है क्योंकि कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से वर्णन किये हुये लोकोत्तर अर्थ हरी लोकगत वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्यादि अर्थों से रस को सहृदयों से अभिव्यक्त करते हैं। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने लिखा है—**"शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूत-व्यापार प्रवणतया विलक्षणं यत् तत् काव्यम्"।**

यद्यपि प्राचीन आलंकारियों ने शब्द और अर्थ की विचित्रता पर पर्याप्त विचार किया है, तथापि विचित्र शब्द और अर्थ के रहस्य को स्पष्ट नहीं कर सके, विचित्र शब्द और अर्थ के रहस्य को ध्वनि संस्थापक आचार्यों ने स्पष्ट किया है। अतः विचित्र शब्द और अर्थ "काव्यकृति" नहीं है। अधिक कविकला के माध्यम हैं। जिन विचित्र शब्द और अर्थ के द्वारा कवि "रसास्वाद" कराने में समर्थ होता है, वह विचित्र अर्थ ही रसानुभूति का कारण बनता है। आचार्य मम्मट ने इस उद्देश्य से अर्थविचार पर विस्तृत विमर्श एवं विवेचन किया है। काव्यकारण में प्रसंग में लिखा है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

अर्थात् कविगण लोक-व्यवहार एवं शास्त्रादि के सम्यक् अध्ययन और अनुभव से व्युत्पत्ति लाभ करके काव्य-साधना में सफलता प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्यरूप अर्थ काव्यकला के माध्यम होते हैं। यह स्पष्ट करते हुये मम्मट ने लिखा है—

"सर्वेषामपिप्रायशोऽर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते ।"

अर्थात् कविगण वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्यादि अर्थों का उपयोग अपनी रचना में अनुभव प्रकाशन के लिये करते हैं । कवि के इस अनुभव प्रकाशन को सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते हैं । यही बात स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने कहा है कि प्राय: वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थों में भी कवि का अनुभव रूप व्यंग्यार्थ का आनन्द सहृदय प्राप्त करते हैं जैसा कि निम्नस्थ उदाहरणों से स्पष्ट हो रहा है—

(१) वाच्य से व्यंग्यार्थ का उदाहरण—

मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी ॥

इस श्लोक में कोई वधू स्वच्छन्दाचरण के लिये अर्थात् अपने उपपति से मिलने का अवसर प्राप्त करने की इच्छा से अपनी "सास" को सम्बोधित करके कहती है कि हे माँ आज घर की सामग्री आटा, दाल, शाक आदि का प्रबन्ध तुमने नहीं किया है और शाम हो गई है तो आप शीघ्र बताइये क्या करूँ, क्योंकि दिन सदा नहीं बना रहता है, दिन समाप्त होने ही वाला है । इस वाच्यार्थ से ध्वनित हो रहा है कि वधू स्वच्छन्द विहार में रुचि रखने वाली है । इसलिये व्याज से बाहर उपपत्ति से मिलने का उपक्रम बना रही है । अर्थात् यह वधू स्वरिणी है । यह वाच्य से व्यंजित हो रहा है ।

(२) लक्ष्य से व्यंग्य का उदाहरण---

साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सदभावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया ॥

इस श्लोक में कोई नायिका अपनी सखी के व्यवहार से क्षुब्ध होकर कहती है कि हे सखि तुमने उस मेरे प्रिय सुन्दर नायक के पास जा, जाकर मेरे लिये अपार कष्ट सहन किया है तथा अपनी सद्भावना एवं सखिप्रेम के अनुरूप जो तुम्हें करना चाहिये था, वह तुमने किया परन्तु यह वाच्यार्थ संगत न प्रतीत होने के कारण लक्ष्यार्थ में परिणत हो जाता है । अर्थात् तूने मेरे प्रिय के साथ रमण करके शत्रुता का परिचय दिया है यह लक्ष्यार्थ है । इस लक्ष्यार्थ से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि से नायक का अपराधी होना अथवा बहुनायिकाओं से प्रेम करने वाला है, यह व्यंग्य हो रहा है ।

(३) व्यंग्य से व्यंग्य का उदाहरण---

पश्च निश्चलनिस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥

इस श्लोक के माध्यम से कोई नायिका अपने नायक आदि कामुक व्यक्ति से

कह रही है कि देखो यह बलाका निश्चल होने से निडर होकर बैठी है। इससे लक्षणा के द्वारा स्थान की आश्वस्तता सूचित हो रही है और स्थान की जनशून्यता व्यंजना से व्यंजित हो रही है इसलिये यह हमारे और तुम्हारे एकान्त मिलन के लिये सुन्दर स्थान है। यह पहले व्यंग्यार्थ बोधित होता है फिर व्यंजना के द्वारा इन व्यंग्यार्थ से व्यंजित हो रहा है कि हे झूठ बोलने वाले कामुक तुम झूठ बोलते हो क्योंकि तुम वहाँ संकेत स्थान पर नहीं गये, यदि गये होते तो बलाका उड़ जाती अथवा इस प्रकार यह बलाका निश्चल एवं निष्पद नहीं रह सकती थी।

इस प्रकार मम्मट ने वाच्य से व्यंग्य का और लक्ष्य से व्यंग्य का तथा व्यंग्य से व्यंग्य का क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करके अर्थ को भावप्रकाशन का साधन माना है।

अर्थ की विलक्षणता के आधार से ही मम्मट ने काव्य के (१) उत्तम (२) मध्यम (३) अधर्म इन तीन भेदों का निरूपण किया है। अतिरिक्त इसके ध्वनि के मुख्य तीन भेदों का (१) वस्तु (२) अलंकार (३) रसध्वनि का निरूपण करके अर्थ की विलक्षणता को स्पष्ट किया है तथा 'स्वतः सम्भवी कविप्रौढोक्ति सिद्ध' और कविनिबद्धवकतृप्रौढोक्ति सिद्ध' तीन प्रकार के अर्थों का ध्वनि प्रक्रिया के अनुसार विचार किया है। 'स्वतः सम्भवी' अर्थ वही है जिसे आधुनिक पाश्चात्य आलोचक विद्वान् कला में 'वस्तुवाद' के रूप में स्वीकार करते हैं और 'कविप्रौढोक्ति सिद्ध' अथवा कविनियद्धवक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध अर्थ वह अर्थ है, जिसे कला में 'व्यतिरेक भावना' के रूप में स्वीकार करते हैं। 'स्वतः सम्भवी' अर्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुये मम्मट ने लिखा है कि स्वतः सम्भवी न केवल भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद् बहिरप्यौ चित्येन संभाव्यमानः यह 'स्वतः सम्भवी' अर्थ कवि तथा सहृदय पाठक एवं सामाजिक व्यक्ति के लिये भी परमावश्यक है, क्योंकि स्वतः सम्भवी अर्थ के ज्ञान के अभाव में 'काव्य' को उक्तिवैचित्र्य मात्र न मान लें। इस प्रकार ध्वनिवादियों का समस्त ध्वनिप्रपंच 'व्यंजकता' के उत्कर्ष एवं महत्व का परिचायक है।

महाकवियों ने अर्थ के उत्कर्ष का संकेत अपनी रचनाओं में यत्र-तत्र किया है। महाकवि 'माघ' ने लिखा है—

क्षणशयित विबुद्धाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्।
गहनमपररात्र प्राप्तनिद्रा प्रमादाः॥

इसका आशय है कि कविगण ब्रह्ममुहूर्त में जाग जागकर अर्थों का चिंतन करते रहते हैं। कवियों के इस अर्थचिन्तन के रहस्य को अलंकारवादी एवं रीतिवादी नहीं समझ सके। अर्थचिन्तन का रहस्य ध्वनिवादी ही समझ सके है। इस अर्थचिन्तन में व्यंग्यरूप अर्थ की भावना तो अन्तर्हित है ही तथा साथ ही व्यंजकरूप अर्थ की भावना भी अन्तर्भूत है। आचार्य मम्मट ने द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम उल्लासों में

विशेष रूप से अर्थचिन्तन किया है। मम्मट ने काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ को समतल रूप से देखा है इसलिये काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थौ' लिखकर काव्य के शरीर को स्पष्ट किया है इसके अतिरिक्त पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के शरीरभूत शब्द को और अर्थ को आगे पीछे करके देखा है। इसलिये पण्डिराज ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लिखा है, क्योंकि पण्डितराज को शब्द और अर्थ आगे पीछे होने के कारण शब्द ही दिखाई पड़ा अर्थ को नहीं देख सके। मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों के रहस्यों को समानरूप से देखा है। इसलिये शब्द और अर्थ दोनों को काव्य का साधन मानकर विवेचन किया है। ध्वनिवादियों का अर्थचिन्तन प्रसिद्ध है। मम्मटाचार्य को ध्वनि प्रस्थापनाचार्य कहा जाता है। अतः मम्मट ने 'अर्थचिन्तन' के रहस्य का उद्घाटन करके ध्वनि प्रस्थापनाचार्यत्व को प्रमाणित कर दिखाया है। वस्तुतः यही अर्थ तो प्रतिभा की कसौटी है जिसके पास जितनी मात्रा में अधिक प्रतिभा होती है। वह उतनी ही मात्रा में अर्थ के रहस्य को समझ सकता है। उपर्युक्त विवेचन से 'अर्थ' काव्य का प्रमुख साधन सिद्ध हो जाता है। ●

प्रश्न ३१—श्लेष का सामान्य लक्षण स्पष्ट करते हुये शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का अन्तर स्पष्ट कीजिये।

Giving the characteristics of श्लेष distinguish between शब्दश्लेष and अर्थश्लेष clearly.

उत्तर—जिस प्रकार लौकिक अलंकार कटक, कुण्डल आदि शरीर को अलंकृत करके शोभावृद्धि करते हैं उसी प्रकार 'अलंकरोति इति अलंकारः, इस व्युत्तपत्ति के अनुसार काव्य के अङ्गरूप शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं। काव्य का शरीर शब्द और अर्थ माना गया है। अतः अर्थ और शब्द दोनों को अलंकृत करने वाले को (१) शब्दालंकार तथा (२) अर्थालंकार के नाम से व्यवहृत होने के कारण अलंकारों के प्रमुख दो भेद (१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार माने जाते हैं अर्थात् शब्दपरिवृत्ति असह को शब्दालंकार और शब्दपरिवृत्ति सह को अर्थालंकार मानते हैं इसका आशय यह है कि जहाँ जिस रचना में शब्द को पृथक् करके उसी शब्द का पर्यायवाची शब्द रखने पर अलंकारत्व समाप्त हो जाये, तो वहाँ शब्द परिवृत्ति सहन न होने के कारण शब्दालंकार माना जाता है तथा ठीक इसके विपरीत जहाँ जिस रचना में शब्द परिवर्तन करके उसके पर्यायवाची शब्द को रखने पर भी अलंकारत्व समाप्त न हो, तो वहाँ शब्दपरिवृत्ति को सहन करने के कारण अर्थालंकार कहते हैं। अतः शब्दापरिवृत्ति असह और शब्दपरिवृत्ति के सह के आधार से अलंकार के (१) शब्दालंकार और (२) अर्थालंकार ये दो भेद होते हैं इन दोनों प्रकार के अलंकारों में श्लेष का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। श्लेष का चमत्कार सभी सहृदयों को समावर्जित करने में सदा समर्थ रहता है। अतः अभी लक्षणकारों ने श्लेष का निरूपण किया है। आचार्य मम्मट ने श्लेष का लक्षण स्पष्ट करते हुये लिखा है—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपत् भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥

इस कारिका का आशय यह है कि सामान्य रूप से 'सकृत्प्रयुक्तः शब्दः सकृदेव अर्थं गमयति' इस नियम के अनुसार एक प्रयोग किया हुआ शब्द एक बार ही अर्थ का बोध करता है अर्थात् एक शब्द एक ही अर्थ का बोध करा सकता है। अनेक अर्थों का नहीं। अतः 'प्रत्यक्ष शब्दाभिद्यन्ते' इसके अनुसार प्रत्येक अर्थ के लिये पृथक्-पृथक् शब्द को प्रयुक्त करना चाहिये। परन्तु कहीं पर दो भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध करने वाले शब्द मिलकर समानाकार अर्थात् एकाएक हो जाते हैं। ऐसी दशा में उन समानाकार दो शब्द का दो बार उच्चारण नहीं किया जाता है। अतः एक ही शब्द की प्रतीति होती है। परन्तु जतुकाष्ठन्याय से दो दोनों भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक शब्द मिलकर एकाएक हो जाते हैं। जैसे लाख और लकड़ी पृथक् पृथक् दो वस्तुयें हैं। तथापि कभी कभी दोनों चिपककर एकाकार होने के कारण दो की प्रतीति नहीं होती है। इसी प्रकार दो समानाकार शब्द एक बार उच्चारण किये जाने के कारण जहाँ एक शब्द के रूप प्रतीत होते हैं वहाँ शब्दों का श्लेष (चिपकाव) होने के कारण श्लेष नामक शब्दालंकार होता है। इस शब्दश्लेष अलंकार के आठ भेद होते हैं—

(१) वर्ण श्लेष (२) पद श्लेष
(३) लिंग श्लेष (४) भाषा श्लेष
(५) प्रकृति श्लेष (६) प्रत्यय श्लेष
(७) विभक्ति श्लेष (८) वचन श्लेष

इन आठों भेदों के अतिरिक्त मम्मट ने शब्द श्लेष का नवां भेद मानते हुये लिखा है कि—

"भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमोभवेत्"।

उपर्युक्त आठ भेदों में प्रकृति, प्रत्यय आदि का भेद होने से इन आठ भेदों को सभंगश्लेष के नाम से भी पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ प्रकृति, प्रत्ययादि के भेद के बिना भी स्वरभेद से तथा स्वरभेद आदि के बिना भी श्लेष होता है, तो वहाँ उसे अभंगश्लेष के नाम से पुकारते हैं। मम्मटाचार्य ने अभंगश्लेष को श्लेष का नवा भेद माना है।

रुय्यक ने सभंगश्लेष को शब्दालंकार के नाम से अभिहित किया है, क्योंकि सभंगश्लेष का विषय शब्द है। सभंगश्लेष में भिन्न-भिन्न अर्थ वाले अनेक शब्द जतुकाष्ठन्याय से मिलकर एकाकार हो जाते हैं तथा अभंगश्लेष को अर्थश्लेष माना है, क्योंकि अर्थश्लेष अलंकार, अर्थश्लेष का विषय होता है। अर्थश्लेष में स्वर आदि की अभिन्नता से एक शब्द में दो अर्थों का श्लेष होता है। इसीलिये अभंगश्लेष को अर्थश्लेष माना है।

मम्मट ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का भेदक अन्वय व्यतिरेक को माना है "तत्सत्वे तत्सत्वमनन्वयः तदभावे व्यतिरेकः" इसका आशय यह है कि जहां जिस

किसी शब्द विशेष कारण गुण तथा अलंकार का अस्तित्व स्पष्ट हो रहा है। इसके अतिरिक्त उस शब्द विशेष को हटाकर उसके स्थान पर समानार्थक पर्यायवाची शब्द के रखने पर गुण और अलंकारादि का अस्तित्व न रह जाय, तो वहाँ शब्दगुण और शब्द अलंकार होता हैं तथा जहाँ शब्द विशेष को हटाकर अन्य समानार्थक पर्यायवाची शब्द रखने पर भी अर्थ की विशेषता की प्रतीति हो रही हो, तो वहाँ अर्थगुण और अर्थालंकार होता है इस प्रकार मम्मट ने जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने से श्लेष की उपस्थिति नहीं रह जाती है, तो वहाँ अभंगश्लेष अथवा शब्दालंकार होता है। मम्मट के मतानुसार शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष के क्रमशः उदाहरण देखिये।

शब्दश्लेष— **पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेष परिजनं देवः ?**

विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सम्भावयोः सदनम् ॥

प्रस्तुत उदाहरण में कोई याचक दरिद्रि राजा से कह रहा है कि हे राजन् ! इस समय हम दोनों का (मेरा तथा आपका) घर एक समान है, क्योंकि आपका भवन पृथुकार्तस्वर पात्रम् अर्थात् स्वर्ण के बड़े-बड़े पात्रों से (सुशोभित) युक्त है और मेरा घर (पृथुकार्त्तस्वर) पात्रम् अर्थात् शिशुओं के आर्त्तन स्वर (दुखित रोने के स्वर) का स्थान है। भूपित निःशेष परिजन अर्थात् आपके परिवार के सभी सदस्य भूषित—अलंकृत (आभूषणों से सुसज्जित) हैं तथा मेरे परिवार के समस्त सदस्य भुषित अर्थात् भूमि पर पड़े हुए हैं। विसलत्करेणुगहनम्-आपका भवन हथनियों की भीड़ से सुशोभित है और मेरा घर बिलों में रहने वाले चूहों के द्वारा खोदी हुई मिट्टी से पूर्ण है अतः इस प्रकार आपके भवन की मेरे घर की समानता स्पष्ट सिद्ध हैं। यदि यहाँ पृथुक, तथा भूषित, विलसत्क, शब्दों को हटाकर अन्य समानार्थक पर्यायवाची शब्द रख दिये जायें, तो श्लेष समाप्त हो जायेगा। शब्द परिवृत्ति असह के होने के कारण यह शब्दश्लेष अलंकार का उदाहरण माना जाता है।

अर्थश्लेष— **स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।**

अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥

प्रस्तुत उदाहरण में तराजू और दुष्ट के स्वभाव की समानता का वर्णन किया है कि तराजू का पलड़ा थोड़ा वस्तु रखने से नीचे को और वस्तु निकाल लेने पर पलड़ा ऊपर को उठ जाता है। उसी प्रकार दुष्ट का स्वभाव होता है कि थोड़े लाभ से प्रसन्नादि और साधारण वस्तु के न मिलने पर क्रुद्ध आदि हो जाता है। यदि यहाँ स्तोक शब्द को हटाकर अल्पक शब्द को रख दिया जाय तो भी श्लेष समाप्त नहीं होता है। इसी विशेषता के कारण इसे अर्थश्लेष माना है।

अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक का मत है कि श्लेष अलंकारों की सत्ता स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं होती है अर्थात् श्लेष अलंकार अन्य अलंकारों के विना नहीं रह सकता है। अतः श्लेष का अस्तित्व अन्य अलंकारों के होने पर ही मानना चाहिये

अनन्य परतन्त्राम्—ब्रह्मा की सृष्टि समवायि, असमवायि एवं निमित्त कारण आदि के अधीन होने के कारण परतन्त्र है। जबकि कवि की रचना किसी अर्थात् अन्य अलंकार होने पर ही श्लेष की प्रधानता होती है। परन्तु आचार्य मम्मट को रुय्यक का यह मत मान्य नहीं है। उनका कथन है कि अन्य अलंकारों के बिना भी श्लेष की स्वतन्त्र सत्ता होती है जैसे—

''देव त्वमेव पातालमाशानां त्वं विबन्धनम्।
चामरमरुद्भूमिरेको लोक त्रयात्मक ॥

हे विष्णु देव ! आप ही पाताल लोक के और दूसरे अर्थ में पाता अलंसंसार के सदा रक्षक हैं। आप ही आशाओं के आधार दूसरे अर्थ में आश्रा=दिशाओं के व्यापार के आधार हैं अर्थात् आप ही भूलोक हैं। आप ही देवताओं और मरूद्गणों के निवास स्थान स्वर्ग लोक हैं। दूसरे अर्थ में राजचिह्न रूप चँवर के डुलाने से उत्पन्न मरुत् (वायु) का भोग करने वाले आप ही हैं। इस प्रकार आप अकेले ही तीनों लोक स्वरूप हैं।

इस उदाहरण में उपमा आदि कोई अन्य अलंकार नहीं है। अतः यह स्वतन्त्र श्लेष उदाहरण है। इससे स्पष्ट है कि रुय्यक का यह मत कि अन्य अलंकारों के होने पर ही श्लेष होता है सर्वथा अनुपयुक्त एवं युक्तिरहित है।

अतः मम्मट के मतानुसार अन्य अलंकारों के बिना भी श्लेष की स्वतन्त्र सत्ता है तथा अन्य उपमा आदि अलंकारों के साथ श्लेष के होने पर भी उपमा आदि अलंकारों की सत्ता प्रधानरूप से होती है। इससे निश्चित होता है कि रुय्यक का सिद्धान्त मान्य एवं समीचीन नहीं है। इससे श्लेष अलंकार की सत्ता स्वयं सिद्ध है। यही कारण है कि माघ, बाण, हर्ष आदि महाकवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में श्लेष का पर्याप्त प्रयोग किया है।

—: ० :—

व्याख्या-भाग

(१) एतद् विलक्षणा तु कविवाङ् निर्मिति'............. अतएव जयति ।

(मेरठ वि० वि० १९७९, आगरा वि० वि० १९५२, ७२, ८०)

अथवा

नियतिकृतनियमरहिताम् ... . भारतीकवेर्जयति ।

प्रस्तुत कारिका के द्वारा आचार्य मम्मट ने निर्विघ्न-ग्रन्थ की समाप्ति की भावना से तथा "निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं ग्रन्थादौ, ग्रन्थमध्ये, ग्रन्थान्ते च मङ्गलामाचरणीयम्" इस भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुये समुचितेष्टा देवता अर्थात् शारदा माँ का उत्कर्ष अभिव्यक्त करते हुये मङ्गलाचरण का निर्माण किया है । इस कारिका का आशय यह है—

नियतिकृतनियमरहिताम्—कवि की रचना ब्रह्मा की रचना से श्रेष्ठ है, क्योंकि (१) कवि की रचना समवायि एवम् उपादान आदि कारणों से रहित होने के कारण स्वतन्त्र है : जबकि ब्रह्मा की सृष्टि (संसार) अदृष्ट-भाग्य आदि अधीन होने के कारण परतन्त्र है अर्थात् कवि स्वयं अपनी प्रतिभा से मुख, कर, पाद आदि की कमल, चन्द्र, विसतन्तु, आदि उपमानों से तुलना करके ऐसा सरस वर्णन प्रस्तुत करता है कि जिसको पढ़कर अथवा सुनकर सहृदयजन सानन्द एवं रसमग्न हो जाते हैं । इसीलिये व्यास जीने कहा है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
तथाऽस्मौ रोचते विश्वं तथेद परिवर्तते ॥

अतः ब्रह्मा की सृष्टि नियति के बन्धनों से नियन्त्रित एवं परतन्त्र होने के कारण कवि की रचना से न्यून है अर्थात् नियति के बन्धनों से रहित होने के कारण कवि की रचना ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं ।

ह्लादैकमयीम्—ब्रह्मा की सृष्टि सत्व, रज, तम गुणों से युक्त होने के कारण सुख-दुख एवं मोह से आक्रान्त है, क्योंकि सत्त्वगुण तो ज्ञान स्वरूप होने के कारण सुखरूप है, परन्तु रज और तम विलासिता तथा मोहरूप होने के कारण बन्धन के कारण हैं अर्थात् दुःखरूप है । इस प्रकार सत्व, रज तम के मेल से उत्पन्न सृष्टि सुख-दुःख मोह स्वभावा है, जबकि कवि की रचना में सुख का सागर प्रतिक्षण तरंगित होता है चाहे कवि विधवा के करुण क्रन्दन का वर्णन कर रहा हो । अतः कवि की रचना आनन्दस्वरूपा होने के कारण ब्रह्मा की रचना की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं विलक्षण है ।

अनन्य परतन्त्राम्—ब्रह्मा की सृष्टि समवायि, असमवायि एवं निमित्त कारण आदि के अधीन होने के कारण परतन्त्र है । जबकि कवि की रचना किसी

कारण आदि के अधीन नहीं है, स्वतन्त्र है अर्थात् ब्रह्मा की सृष्टि के लिये पञ्चमहाभूत (१) पृथ्वी (२) जल (३) वायु (४) आकाश (५) अग्नि तथा माता-पिता आदि भौतिक कारणों की पराधीनता अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। जबकि कवि की रचना के लिये भौतिक कारणों की पराधीनता स्वीकार करनी नहीं पड़ती है। कवि की रचना तो कवि के अधीन होती है वह अपनी इच्छा से जैसा चाहता है वैसा रूप प्रतिभा से उपस्थित करता है। अतः कवि की रचना ब्रह्मा की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं विलक्षण है।

नवरसरुचिराम्—इसके अतिरिक्त ब्रह्मा की रचना में कटु, तिक्त, कषाय आदि छः रस होते हैं। वे भी छः रस सबको सदा प्रिय हों आनन्ददायक हों यह भी नहीं है। इसके विपरीत कवि रचना में ९ रस होते हैं जो ब्रह्मा की सृष्टि के रसों से डेढ़ गुने हैं और ये नवरस सदा सहृदयों को आनन्दित करते रहते हैं, क्यों न रौद्र, वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसों का वर्णन किया गया हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की रचना अधिक आनन्ददायक होने के कारण श्रेष्ठ है।

वस्तुतः आचार्य मम्मट काव्यरत्न परीक्षक एवं प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसी लिये उन्होंने कवि के रचनारूपी आनन्द सागर में प्रवेश करके अप्रतिम प्रतिभा से सार ग्रहण करके काव्य प्रकाश के रूप में काव्यानन्द रूपी नवनीत साहित्य जगत् को प्रदान किया है। अतः मम्मट की यह मान्यता कि कवि की रचना ब्रह्मा की रचना की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं विलक्षण होती हैं यह सर्वथा सत्य है। मम्मट ध्वनि प्रस्थापनाचार्य माने जाते हैं। उसी के अनुरूप प्रस्तुत मंगलाचरण में (१) वस्तु (२) अलंकार (३) रसध्वनियों का समावेश करते हुये ध्वनि की प्रधानता व्यञ्जित करते हुये सिद्ध किया है कि कवि की रचना नियति के बन्धनों से रहित, आनन्द स्वरूप किसी अन्य कारणादि के पराधीन न होने के कारण तथा शृंगार, हास आदि नवरसों से मनोहर होने के कारण कवि की भारती सर्वोत्कृष्ट है और विलक्षण है। यहाँ "कवेर्भारती जयति" से कवि का शारदा माँ के प्रति भावध्वनि अभिव्यक्त हो रही है।

(२) शक्तिर्निपुणता··· ··· ··· ···हेतुस्तदुद्भवे।

शक्ति—वाग्वदेतावतार आचार्य मम्मट ने काव्यकारणों के सम्यक् समीक्षा करके समन्वयवादी दृष्टिकोण के अनुसार काव्य के सम्मिलित तीन कारणों का समर्थन प्रस्तुत कारिका के माध्यम से किया है—(१) शक्ति (प्रतिभा), (२) निपुणता, (३) अभ्यास। इन कारणों का सम्मिलित रूप काव्य का कारण होता है। शक्ति का तात्पर्य प्रतिभा से है। प्रतिभा का स्वरूप "नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता" लिखा गया है अर्थात् नवीन कल्पनाओं को प्रसूत करने वाली संस्काररूप बीजभूत शक्ति विशेष को प्रतिभा कहते हैं यह प्रतिभा अनेक जन्मों में अर्जित कवि हृदय में

संस्कार रूप में विद्यमान रहती है। प्रतिभा के अभाव में की गई तुकबन्दी प्रभावहीन एवं उपहासास्पद होती है। अतः प्रतिभा अथवा शक्ति काव्य का प्रथम एवं मुख्य कारण है।

निपुणता—विविध काव्यशास्त्र आदि के अध्ययन तथा चिन्तन एवं मनन करने से निपुणता प्राप्त होती है। यह "निपुणता" काव्य का द्वितीय कारण है अर्थात् चर-अचर प्राणियों के व्यवहार, वेशभूषा, रहन-सहन खान-पान आदि के अवलोकन तथा शास्त्रों के अन्तर्गत वर्णित दृष्टान्तों को पढ़ने एवं सुनने से मात्रिक एवं वर्णिक छन्दों के परिज्ञान से, व्याकरण, कोश नृत्य, गीत आदि ६४ कलाओं के प्रतिपादक ग्रन्थों के अध्ययन से, शालिहोत्र (पशु चिकित्सा ग्रन्थ) आयुर्वेद कौटिल्यशास्त्र, वात्स्ययानशास्त्र आदि के पर्यवेक्षण से निपुणता आती है। लोक व्यवहार एवं विविध-शास्त्रों के ज्ञान के अभाव में की गई रचना, देश, काल व्यवहार, इतिहास आदि के विरुद्ध होने के कारण उपहास को प्राप्त होती है। अतः देश, काल व्यवहार आदि के ज्ञान से उत्पन्न निपुणता काव्य का कारण मानी जाती है।

अभ्यास—काव्य-मर्मज्ञ विद्वान् गुरुओं से काव्य रचना की शिक्षा ग्रहण करके शब्द योजना करके बार-बार दिखाना, शुद्ध कराना समुचित संशोधन प्राप्त करना और पुनः पुनः रचना करने का अभ्यास करना, ही अभ्यास कहा जाता है। यह अभ्यास ही काव्य का तृतीय कारण है जैसा कि किसी ने कहा है कि—**"करत करत अभ्यास ते जडमति होत सुजान"**

इस प्रकार मम्मट ने कवि-कर्म काव्य के लिये (१) शक्ति (प्रतिभा) (२) निपुणता (३) अभ्यास को सम्मिलित काव्य का कारण माना है अर्थात् ये तीनों मिले हुये ही काव्य के कारण हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं। इसी आशय से इति "हेतु-स्तदुद्भवे" लिखकर काव्य के कारण का प्रतिपादन किया है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट ने काव्य के कारण का समन्वित प्रस्तुत करते हुये (१) शक्ति (२) निपुणता (३) अभ्यास तीनों का सम्मिलित रूप ही काव्य का कारण होता है, इसीलिये हेतु में एक वचन का प्रयोग किया है।

(३) तददोषौ ... ... पुनः क्वापि।

अथवा

न कश्चिदत्र स्फुटोलङ्कारः ... ... नालङ्कारता।

(आगरा वि० वि० १९५६, ५८, ७३, ६४, ६५, ७६, ८८)

वाग्देवतावतार मम्मट ने काव्य-परिभाषाओं की सम्यक् समीक्षा करने के अनन्तर तत्तत्परिभाषाओं में ग्राह्य अग्राह्य का विवेचन करके शब्दार्थयुगल को काव्य का शरीर माना है। अतः मम्मट का काव्य लक्षण निम्न प्रकार है कि—

"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"

अर्थात् दोषरहित गुण (ओज, प्रसाद, माधुर्य) सहित अलंकार (यथा शक्ति) से युक्त शब्दार्थयुगल को काव्य कहते हैं।

अनलंकृतीपुनःक्वापि—मम्मट के उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों (विश्वनाथ, जयदेव आदि ने) अनलंकृती का खण्डन किया है परन्तु मम्मट के अनलंकृती का आशय यह नहीं है कि काव्य में अलंकार नहीं होने चाहियें। अपितु मम्मट का आशय यह है कि कवि को यथाशक्ति अपनी रचना में अलंकार योजना का प्रयास करना चाहिये परन्तु यदि कहीं अलंकार न भी हों और रस की तीव्रधारा प्रवाहित हो रही हो तो वहाँ अलंकार की अनिवार्ययता अपेक्षित नहीं है। अतः रस की प्रधानता में अलंकार न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती हैं। जैसे—

यः कौनारहरः स एव सि बरस्ता एव चैत्रक्षपाः,
ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि वेतसीतरुलते चेत समुत्कण्ठते ॥

प्रस्तुत श्लोक में कोई विशेष अलंकार नहीं है तथा विप्रलम्भ शृंगार रस की तीव्र धारा प्रवाहित हो रही है। कोई भी सहृदय इस प्रकार स्वाधीन पति की नायिका की विचित्र दशा को देखकर अलंकार खोजने का प्रयास नहीं करेगा। अपितु विप्रलम्भ शृङ्गार की रस धारा में रसमग्न होकर काव्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द सहोदर वेद्यान्तर शून्य रस का आस्वाद प्राप्त करेगा और अलंकारों की गणना एवं खोज को तुच्छ मानेगा। अतः अनलंकृति यह शब्द और अर्थ का विशेषण सर्वथा समीचीन एवं उपयुक्त है।

अदोषौ—काव्य शरीर शब्द और अर्थ का विशेषण 'अदोषौ' दिया हैं' यद्यपि इस संसार में कोई भी वस्तु अथवा रचना दोष रहित नहीं हो सकती है। यद्यपि विलक्षण कवि की रचना दोष-रहित होती है। विश्वनाथ आदि समालोचकों ने, 'अदोषौ' का खण्डन किया है कि यदि अदोषौ का अभिप्राय सर्वथा दोष रहित है तो संसार में काव्यों का नितान्त अभाव हो जायेगा। कदाचित् कहीं एक आध काव्य भले प्राप्त हो जाये वरन् काव्य का सर्वथा अभाव ही दृष्टिगोचर होगा। इसके अतिरिक्त 'ईषद्दोष रहितौ' अभिप्राय है, तो भी एक विषम समस्या उत्पन्न हो जायेगी। जिस अंश में गुण होंगे उस अंश को काव्य और जिसमें दोष होंगे उस अंश को अकाव्य कहेंगे। इस प्रकार एक ही रचना में काव्य और अकाव्य की अनुपपत्ति उपस्थिति हो जायेंगी। अतः "अदोषौ" का विशेषण नहीं मानना चाहिये यह विश्वनाथ दर्पणकार का मत है। परन्तु विश्वनाथ यहाँ भी वाग्देवतावतार मम्मट के आशय को नहीं समझ सके क्योंकि मम्मट का आशय "नित्य दोष रहितौ" है इसलिये सप्तम उल्लास के प्रारम्भ में लिखा है कि—

मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदा याद्वचच्चय ।

अर्थात् मुख्य रस का विधान होना ही रसदोष कहा जाता है। क्योंकि अन्य श्रुतिकटु आदि दोष तो वीर रस आदि के वर्णन प्रसंग में गुण हो जाते हैं। अतः रसदोष ही नित्य एवं मुख्य दोष होने के कारण रचना में रसदोष रहित शब्दार्थ ही काव्य का शरीर होता है। इस प्रकार काव्य में उन दोषों का अभाव कहा गया है, जो दोष काव्य के प्रबल विघातक हों। अनित्य दोष होने पर भी काव्यत्व की हानि होती है। अतः "अदोषौ" से मम्मट का आशय "काव्य विघातर्क प्रबल दोष रहितौ" है।

सगुणौ—-शब्द और अर्थ का विशेष सगुणौ देकर स्पष्ट किया है कि गुण रहित शब्दार्थ को काव्य नहीं कह सकते हैं। विश्वनाथ ने सगुणौ का भी खण्डन करने का प्रयास किया है किन्तु विश्वनाथ का यह प्रयास भी तर्कसंगत एवं समीचीन नहीं सिद्ध हो सका, यद्यपि मम्मट ने अष्टम उल्लास में गुणों को काव्य की आत्मा रस का धर्म मानते हुये कहा है कि—

"ये रसस्याङ्गितो धर्माशौर्यादय इवात्मनः"

अर्थात् गुणों को रस का धर्म माना है तथापि आज, प्रसाद, माधुर्य को शब्दार्थ का गुण इसलिये कहा है कि भले ही गुण साक्षात् रस के धर्म हो, फिर भी गुण, ओज, प्रसाद, माधुर्य को परम्परया शब्द और अर्थ का विशेषण माना है। जैसा कि कहा भी गया है कि—

गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ।

इस प्रकार विश्वनाथ का आक्षेप पूर्व आक्षेपों के समान मान्य नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट एवं सिद्ध हो रहा है कि मम्मट की काव्यपरिभाषा के अतिरिक्त सभी काव्यपरिभाषायें अपूर्ण हैं। विश्वनाथ तथा पण्डितराज ने एक द्राविड़ प्राणायाम मात्र करके काव्यपरिभाषाओं का प्रणयन किया है। वास्तव में विश्वनाथ के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" का अन्तर्भाव मम्मट की रसध्वनि में किया जा सकता है और पण्डितराज के 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" का भी अन्तर्भाव मम्मट की परिभाषा में परिलक्षित हो रहा है। अतः यह मम्मट का काव्यलक्षण वैज्ञानिकता से परिपूर्ण सभी काव्यपरिभाषाओं को आत्मसात् किये एक समन्वित, उदात्त एवं परिष्कृत रूप धारण किये हुये सर्वोत्कृष्टता को व्यंजित कर रहा है।

(४) **इदमुत्तमम्** ··· ··· ··· **ध्वनिर्बुधैः कथित ।**

अथवा

ततस्तन्मतान् सारिभि ··· ··· ··· **शब्दार्थयुगलस्य ॥**

(आगरा वि० वि० १९६४, मेरठ वि० वि० १९६९)

मम्मटाचार्य ने काव्य के (१) उत्तम (२) मध्यम और (३) अधम ये तीन भेद स्वीकार करते हुये ध्वनि प्रधान काव्य को उत्तमकाव्य माना है। परन्तु यह ध्वनि क्या है, यह स्पष्ट करने के लिये ही लिखा है कि—

इदमुत्तममतिशायिनिव्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथित।"

इसका आशय यह है कि जहाँ जिस रचना में वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारजनक अर्थात् काव्यानन्द के उत्कर्ष का द्योतक हो, तो वहाँ ध्वनिअर्थ के प्रधान होने के कारण उत्तमकाव्य होता है। मम्मट ने अपने ध्वनि-प्रधान काव्य की उत्कर्षता व्यंजित करने के लिये "ध्वनिर्बुधैः कथितः" लिखा है। इसका आशय यह है कि वैयाकरणों ने शब्दार्थ प्रतिपादक प्रधानभूत स्फोट का निरूपण करते हुये व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ शब्द के लिये "ध्वनिः" पद का प्रयोग किया है। इसके बाद काव्यशास्त्रियों ने काव्य में ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है। अतः ध्वनिप्रधान काव्य ही उत्तमकाव्य होता है अर्थात् जिस ध्वनि शब्द का प्रयोग आनन्दवर्धनाचार्य ने काव्य की आत्मा के रूप में किया है। जैसे—

निः शेषच्युतचदनं स्तनतटं निर्मृष्ट रागोऽपरः।

नेत्रैदूरमञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु।

मिथ्यावादिनि दूति वान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,

वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥

ध्वनिप्रधान काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षाव्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है। प्रस्तुत उदाहरण में नायिका अपनी दासी के व्यवहार से क्षुब्ध होकर दासी को डाँटती हुई कहती है कि तुम स्नान करने के लिये गई थी उस अधम नायक के पास नहीं गई, यह वाच्यार्थ है। परन्तु नायिका के कथन से अभिव्यक्त हो रहा है कि तुम उस अधम के पास अवश्य गई और अपना समागम रूप मनोरथ सिद्ध करके आ गई हो, क्योंकि तेरे शरीर एवं मानसिक स्थिति से ज्ञात हो रहा है कि तुझे मेरी चिन्ता कहाँ, तुझे ही अपना रमणरूप कार्य इष्ट था, उसमें सफल हुई तथा नायक स्वयं अपराधी है जो स्वाधीन नायिका का तिरस्कार करके दासियों से रमण करता है, इत्यादि व्यंग्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक होने के कारण अनिर्वचनीय काव्यानन्द को व्यंजित कर रहा है। अतः स्पष्ट रूप से वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारजनक है। व्यंग्यार्थ की प्रधानता के कारण ही इस श्लोक को मम्मट ने उत्तम-काव्य के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ वाच्यार्थ विधिरूप है और व्यंग्यार्थ निषेधरूप है। यह व्यंग्यार्थ ही काव्यानन्द उत्कर्षाधायक एवं काव्य का प्राण माना जाता है।

(५) अतादृशिगुणीभूत............मध्यमम् ।

(मेरठ वि० वि० १९६८, १९६९, ७२, आगरा वि० वि० १९६१, ६५)

मम्मट ने काव्य के द्वितीय भेद अर्थात् मध्यमकाल का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि—

"अतादृशिगुणीभूतव्यंग्य व्यंग्ये तु मध्यमम्" ।

अर्थात् जहाँ जिस रचना में वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारशाली हो तो वहाँ मध्यमकाव्य अथवा गुणीभूतव्यंग्य काव्य कहते हैं। अथवा जहाँ व्यंग्यार्थ गौण (अप्रधान) हो रहा हो और वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक आनन्दाधायक हो, तो वहाँ गुणीभूतकाव्य अथवा मध्यम काव्य होता है जैसे—

ग्रामातरुणं तरुण्या नववञ्जु लमंजरी सनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

नायिका का मुख युवक के हाथ में वेतसलता की नवीन मंजरी को देखने से मलिन हो रहा है अर्थात् नायिका के मुख की कान्ति ग्राम-तरुण के हाथ में मञ्जरी देखते ही मलिन हो जाती है यह वाच्यार्थ है। यहाँ कोई नायिका अपने प्रिय-तरुण को वेतसलता मण्डप में मिलने का संकेत देकर नहीं पहुँच सकी, यह व्यंग्यार्थ है। परन्तु इस व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नायिका के मुख की कान्ति मलिन हो गई, यह वाक्यार्थ ही अधिक चमत्कारी होने के कारण व्यंग्यार्थ गौण (अप्रधान) हो गया है। अत: व्यंग्यार्थ के गौण (अप्रधान) होने के कारण वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारजनक होने के कारण गुणीभूत अर्थात् मध्यमकाव्य माना जाता है।

(६) शब्दचित्रं............स्मृतम् ।

(मेरठ वि० वि० १९७१, आगरा वि० वि० १९६२, ६४)

काव्य के तृतीय भेद अर्थात् अवर (अधम) काव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

"शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।"

इसका आशय यह है कि सर्वथा व्यंग्य रहित अथवा व्यंग्यार्थ प्रतीति के अभाव में अधमकाव्य होता है। इन अधमकाव्यों को चित्रकाव्य भी कहते हैं। चित्रकाव्य से तात्पर्य गुण और अलंकारों से है अर्थात् गुण और अलंकारों से युक्त व्यंग्य रहित काव्य को चित्रकाव्य (अधमकाव्य) कहते हैं। चित्रकाव्य के दो भेद होते हैं।

(१) शब्दचित्र (२) वाच्य (अर्थ) चित्र ।

शब्दचित्र—जिस रचना में शब्दों का ही आडम्बर प्रदर्शित किया गया हो अर्थ नाम मात्र को हो तो वहाँ शब्दचित्र नामक अधमकाव्य का प्रथम भेद माना जाता है। जैसे—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा ।
द्रोहोद्रेकमहोर्मि मेदुरमदामन्दाकिनीमन्दताम् ॥

इस श्लोक में कवि ने केवल अनुप्रास प्रदर्शन में ही तल्लीन होकर अनुप्रास का चमत्कार दिखाया है। अत: शब्दसंघटना पर विशेष पाण्डित्य दिखाते हुए अर्थ के गौरव को विस्मृत कर दिया। अत: इस श्लोक को शब्दचित्र का उदाहरण माना जाता है।

अर्थचित्र—जहाँ जिस रचना में व्यंग्यार्थ का अभाव हो केवल वाच्यार्थ ही चमत्कारजनक हो तो वहाँ उस रचना में अर्थचित्र नामक अधमकाव्य का द्वितीय भेद होता है। जैसे—

विनिर्गतमानदमात्ममन्दिराद्,
भवत्युपश्रुत्व यदृच्छयाऽपियम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला,
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥

प्रस्तुत अर्थचित्र के उदाहरण में कवि का प्रयास केवल उत्प्रेक्षा अलंकार के प्रदर्शन में ही किया गया है। ऐसा प्रतीत होने से व्यंग्यार्थ के अभाव में इसे अर्थचित्र का उदाहरण माना जाता है।

(७) 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥'

(आगरा वि० वि० १९५२, ५५, ५७, ६३, ६४)

मम्मट ने तीन प्रकार के शब्द (१) वाचक (२) लक्षक (३) व्यंजक मानकर तीन प्रकार के क्रमश: (१) वाच्य (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य अर्थों का प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त मीमांसकों के मत से 'तात्पर्यार्थ' नामक एक एक अन्य अर्थ भी होता है यह प्रदर्शित करते हुए मीमांसकों के मत का उल्लेख किया कि—

"तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" ।

अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट आदि ने एक तात्पर्यार्थ नामक विषेश अर्थ माना है। अभिहितान्वयवादियों के मत से अभिधा शक्ति के द्वारा पद का अर्थ बोधित होता है। परन्तु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार तत् तत् पदार्थों के अर्थ का अन्वय तात्पर्यानामक वृत्ति के द्वारा होता है अर्थात् अभिधावृत्ति से बोधित अर्थ के अन्वय के लिये तात्पर्यावृत्ति मानी जाती है। इस तात्पर्यावृत्ति जन्य अर्थ को तात्पर्यार्थ कहते हैं।

इसका आशय यह है कि सर्वप्रथम अभिधा से पदों का अर्थ बोधित होता है। उसके बाद आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के आश्रय से उच्चारण काल में ही

समाप्त हुआ अर्थ भी तात्पर्यावृत्ति से वाक्य के अन्तिम पद के अर्थ में अन्वित (सम्बन्धित) होकर एक विशेष वाक्य के अर्थ में रूप से ज्ञात होता है, जिसे 'तात्पयार्थ' कहते हैं। जैसे 'गाम-आनय' इस वाक्य में दो पदों का प्रयोग किया गया है इस वाक्य के "गाम" का अर्थ सास्नादि गुण विशिष्ट पशु विशेष है। परन्तु द्वितीया विभक्ति (अम्) के योग होने से कर्मत्व का अर्थ बोधित होता है और "आनय" इस क्रिया पद से आनयन रूप कार्य का बोध होता है परन्तु श्रोता को ज्ञात हुआ पृथक्-पृथक् (१) गो पशु, (२) आनयन रूप क्रिया अर्थ का अन्वय (सम्बन्ध) नहीं होता है क्योंकि गाम् के पश्चात् आनय के उच्चारण तक गाम् का अर्थ समाप्त हो जाता है, तो फिर संस्कारजनित अर्थ को अन्वित करने के लिये अभिधा से भिन्न कोई अन्य व्यापार स्वीकार करना होगा, वह व्यापार है तात्पर्य अर्थात् तात्पर्या नामक वृत्ति से वाक्यार्थ का अन्वय होता है। इस विशिष्ट अर्थ को ही तात्पर्यार्थ कहते हैं। यह अभिहितान्वयवादियों का मत है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिये मम्मट ने मीमांसकों के मत का उल्लेख किया है।

इसके पश्चात् **'वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः'** लिखकर प्रभाकर गुरु के तात्पर्यार्थ विरोधी मत का संकेत किया है। प्रभाकर गुरु तात्पर्यावृत्ति को नहीं मानते हैं। उसका आशय यह है कि जिस अर्थ को "वाक्यार्थ" से अभिहित करते हैं वह अर्थ अभिधावृत्ति का ही विषय है। तात्पर्यावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आकांक्षा से स्वयं परस्पर में अन्वित पदों का ही वाक्यार्थ होता है, जब पदों का अर्थ स्वयं आकांक्षा अन्वित रहता है तो फिर अभिधाजन्य पदों के अर्थ को परस्पर सम्बन्धित करने के लिये एक पृथक् तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अन्विताभिधानवादियों के मत से वाक्यार्थ बोध के लिये अभिधा से भिन्न कोई अन्य वृत्ति की व्यर्थ कल्पना नहीं करनी चाहिये। वस्तुतः हम पृथक्-पृथक् पदों को प्रयुक्त नहीं करते हैं। अपितु पदों को वाक्य रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसलिये परस्पर अन्वित पद ही वाक्य में प्रयुक्त होने के कारण अभिधा के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही उपस्थिति होती है। इसके लिये पृथक् तात्पर्यावृत्ति मानना कथमपि उचित नहीं है।

(८) संकेतितश्चतुर्भेदोजात्यादिर्जातिरेव वा।

अथवा

चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः।

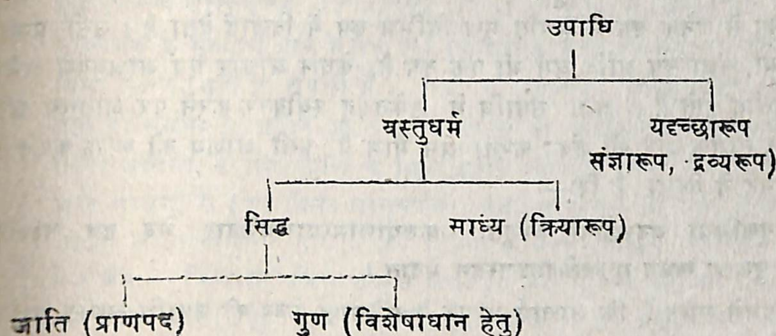
(मेरठ वि० वि० १९६८, आगरा वि० वि० १९५२, ५३, ५४, ५६, ५७, ६२, ६८)

आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों के द्वारा स्वीकृत संकेतग्रह के अनुसार संकेतित अर्थ के चार प्रकारों को स्वीकार करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि के मत का

उल्लेख करते हुये लिखा है कि संकेतित अर्थ निम्न प्रकार से चार प्रकार का होता है—

(१) जातिरूप अर्थ (२) गुणरूप अर्थ
(३) क्रियारूप अर्थ (४) यदृच्छा (संज्ञा) रूप अर्थ

यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति ही व्यवहार की क्षमता धारण करता है, तो केवल व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना चाहिये; परन्तु यहाँ अर्थात् व्यक्ति में संकेतग्रह स्वीकार करने से (१) आनन्त्य और (२) व्यभिचार नामक दो-दो दोष उपस्थित हो जायेंगे क्योंकि जाति में व्यक्ति अनन्त होने के कारण अनेन्त व्यक्तियों में पृथक्-पृथक् संकेतग्रह स्वीकार करना होगा जिससे आनन्त्य (असंख्य व्यक्तियों में संकेतशक्ति की कल्पना) नामक दोष उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त एक बार एक गो व्यक्ति में स्वीकृत संकेतग्रह पुनः गो व्यक्तियों में संकेत मानने पर व्यभिचार दोष उत्पन्न होगा तथा तृतीय दोष पद-पदार्थ के विभाग की व्यवस्था भी समाप्त हो जायेगी। अतः व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता है इसलिये शब्द की उपाधि (१) जाति (२) गुण, (३) क्रिया और (४) यदृच्छा (संज्ञा) रूप में संकेतग्रह मानना चाहिये। ये शब्द की चार (१) जाति, (२) गुण, (३) क्रिया, (४) यदृच्छा उपाधियाँ हैं। उपाधियों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है कि—



ये चार प्रकार की उपाधियाँ शब्दों के प्रवृत्त निमित्त हैं। इसको स्पष्ट करने के लिये महाभाष्यकार के **"गौः शुक्लश्चलोडित्थ"** इत्यादि कथन को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है। अतः स्पष्ट है कि मम्मट ने शब्द की चार की उपाधि में संकेतग्रह माना है।

मीमांसकों के मतानुसार संकेतग्रह

मीमांसकों का कहना है कि जब प्रवृत्ति निमित्त केवल जाति ही है और जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा वाचक चार प्रकार का विभाग जातिरूप ही है, क्योंकि गुणवाचक शुक्ल आदि में रहने वाला शुक्लत्व धर्म, शंख, शुक्ति, वस्त्र, रजत आदि में एक ही है जिसके कारण तत्-तत् पदार्थों को शुक्ल शब्द से व्यवहृत करते हैं तथा

गुड, तण्डुल आदि की पाक क्रिया भी क्रियापद से व्यवहृत होने के कारण एक ही है अर्थात् जाति रूप है डित्थ आदि संज्ञा शब्द भिन्न-भिन्न रूप में बाल, वृद्ध, शुक आदि के उच्चारण करने पर भी एक ही (जातिरूप ही) हैं। इस प्रकार पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात हो रहा है कि शब्द की ये चार उपाधियाँ जाति रूप ही हैं। अतः संकेतग्रह केवल जातिवाचक शब्दों में ही मानना उचित है। आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के इस मत का प्रदर्शन करने के लिये ही लिखा है कि—

"सर्वेषामपिशब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिभित्यन्ये।"

मम्मट का मत—यदि कोई यह सन्देह उत्पन्न करे कि जिस प्रकार व्यक्ति में संकेतग्रह मानने (१) आनन्त्य, (२) व्यभिचार दोष होते हैं। उसी प्रकार यहाँ जाति की उपाधि में संकेतग्रह स्वीकार करने पर भी आनन्त्य और व्यभिचार होंगे; परन्तु यह शंका यहाँ नहीं की जा सकती है, क्योंकि शब्द की उपाधियों में शुक्ल आदि गुण पाकादि क्रिया संज्ञादि यदृच्छा ऐसी वस्तु नहीं है जो व्यक्तियों की तरह अनन्तता की शंका को उत्पन्न कर सके। वस्तुतः उपाधियों में गृहित गुण, क्रिया की अनन्तता प्रतीत ही होती है इन गुण, क्रिया आदि के आश्रय से उसी प्रकार अनन्तता प्रतीत होती है, जिस प्रकार मुख एक ही होता है परन्तु खड्ग, मुकुर, तैल आदि आश्रय भेद से अनेक रूप में अर्थात् मुख विभिन्न रूप में दिखाई देता है। उसी प्रकार गुण, क्रिया, संज्ञा रूप आदि धर्म भी एक रूप है, केवल आधार एवं आश्रयवश अनेक रूप में प्रतीत होते हैं। अतः उपाधि में संकेतग्रह स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार नामक दोष की शंका करना भ्रम मात्र है इसी आशय को व्यक्त करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि—

गुणक्रिया यदृच्छानां वस्तुतः एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्ग मुकुरतैलाद्यलम्बन भेदात्।

इससे स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट ने संकेतग्रह शब्द की उपाधि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा रूप धर्म में स्वीकार किया है कि और महाभाष्यकार के **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति** लिखकर स्वाभीष्ट संकेतग्रह की मान्यता पर मुद्रा (मुहर) अंकित की है। अतः मम्मट के मतानुसार संकेतग्रह शब्द की चार प्रकार की उपाधि में (१) जाति (२) गुण (३) क्रिया (४) यदृच्छा रूप धर्म में मानना उचित है।

(६) गौरनुबन्ध्यः इत्यादौ······न तु शब्दे नोच्यते।

अथवा

विशेष्य नाभिधा गच्छेत्······नोदाहर्त्तव्या।

(मेरठ वि० वि० १९६९, आगरा वि० वि० १९५३, ५७)

आचार्य मम्मट ने उपादान लक्षणा का उदाहरण 'कुन्ताः प्रविशन्ति' दिया है। परन्तु मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा का उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' दिया है। मम्मट

ने मुकुलभट्ट के मत का खण्डन करते हुये कहा है कि गौरनुबन्ध्य को उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि लक्षणा की प्रवृत्ति (१) मुख्यार्थ बाध (२) मुख्यार्थ योग (३) रूढ़ि या प्रयोजन इन तीन कारणों की उपस्थिति में ही होती है। किन्तु--'गौरनुबन्ध्य' में मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के अभाव में लक्षणा की प्रवृत्ति ही सम्भव न होने से कैसे लक्षणा हो सकती है।

इसके अतिरिक्त मुकुलभट्ट का यह कथन कि संकेतग्रह जाति में स्वीकार करने से 'गौ' शब्द का अभिधा से सास्नादियुक्त गोत्व का बोध होता है। किन्तु गोत्व जाति का बन्धन सम्भव न होने के कारण मुख्यार्थ बाध होने पर उपादान लक्षणा द्वारा गो जाति से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है। इसलिये, **'गौरनुबन्ध्यः'** को उपादान लक्षणा का उदाहरण मानना चाहिये। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये मुकुलभट्ट ने **'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'** लिखा है। इसका आशय यह है कि अभिधा की शक्ति गो शब्द का गोत्व अर्थ स्पष्ट करने में ही समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त गोत्व जाति को बन्धन सम्भव न हो सकने के कारण गो जाति से गो उपादान लक्षणा के द्वारा हो जाता है। इस प्रकार मुकुलभट्ट ने गौरनुबन्ध्यः को उपादान लक्षणा का उदाहरण माना है। परन्तु मम्मट मुकुलभट्ट के मुख्यार्थ बाध के तर्क को स्वीकार न करते हुये कहा कि मुख्यार्थबाधादि के बिना लक्षणा नहीं हो सकती है। अतः गौरनुबन्ध्यः उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता है, अपितु जाति द्वारा अर्थात् गो जाति से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जायेगा, क्योंकि व्यक्ति के बिना जाति रह नहीं सकती है। अतः इस अविना-भाव सम्बन्ध से (येन बिना मदनुपपन्नं तदविनाभावः) से गो जाति से गो व्यक्ति आक्षेप अथवा अनुमान कर लिया जायेगा। यहाँ उपादान लक्षणा नहीं हो सकती है। जैसे---**'क्रियताम्'** क्रियापाद से कर्त्ता का और कुरु से कर्म का आक्षेप या अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार गो जाति से गो व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जायेगा। अतः मुकुलभट्ट के मतानुसार गौरनुबन्ध्यः को उपादान लक्षणा का उदाहरण मानना उचित नहीं है।

(१०) **भेदाविमौ च साहश्त्..........सम्बन्धान्तरतस्तथा गौणौ शुद्धौ च विज्ञयौ।**

अथवा

सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयो विषयस्तथा।
विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्साध्यवसानिका॥

(मेरठ वि० वि० १९६९, ७०)

आचार्य मम्मट ने लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद 'लक्षणलक्षणा' और 'उपादान लक्षणा' ये भेद करके 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' नामक दो भेदों

का प्रतिपादन किया है। सारोपा और साध्यवसाना के भी शुद्धा तथा गौणी ये भेद प्रदर्शित करते हुये कहा है कि—

लक्षणा के ये दोनों भेद (१) सारोपा (२) साध्यवसाना के भी सादृश्य सम्बन्ध ये गौणी लक्षणा और अन्य सम्बन्ध से अर्थात् कार्यकारणादि सम्बन्ध से शुद्धा लक्षणा होती है। इस प्रकार सारोपा और साध्यवसाना के चार भेद होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) गौणी-सारोपा। (२) गौणी-साध्यवसाना।
(३) शुद्धा-सारोपा। (४) शुद्धा-साध्यवसाना।

इन भेदों के उदाहरण देने से पहले सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा का स्वरूप समझना आवश्यक हो जाता है। अतः क्रमशः सारोपा और साध्यवसाना के स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

सारोपा—जहाँ जिस लक्षणा में आरोप्यमाण गो आदि, उपमान और आरोप के विषय वाहीक आदि उपमेय दोनों का साक्षात् स्वरूप शब्द से स्पष्ट हो रहा हो, तो वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जैसे—'गोर्वाहीक' इस उदाहरण में आरोप्यमाण गो और आरोप का विषय वाहीक दोनों का साक्षात् शब्द से कथन किया गया है। अतः गो गत जाड्यमान्द्य आदि गुणों का वाहीक उपमेय में किये जाते हैं।

साध्यवसाना—जहाँ जिस लक्षणा में आरोप्यमाण गो आदि उपमान के द्वारा आरोपविषय वाहीक आदि उपमेय का केवल अर्थात् छुपा लिया जाये तो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है जैसे 'गौरय' यहाँ आरोप्यमाण उपमाय गो के द्वारा वाहीक (उपमेय) का कवलित (छुपा) लिया गया है। अतः यह 'गोरयं' साध्यवसाना का उदाहरण माना जाता है। अब क्रमशः उपर्युक्त शुद्धा और गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना आदि के चार भेदों के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं।

(१) गौणी-सारोपा का उदाहरण 'गौर्वाहीकः' देते हुये मम्मट ने स्पष्ट किया है कि गो गत जाड्यमान्द्य आदि गुणों का आरोप 'वाहीक' में किया जाता है इसलिये गुणों का आरोप वर्णन होने के कारण 'गुणेभागौणी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह गौणी संज्ञा अन्वर्थक ही है तथा आरोपेया सहिता सारोपा इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह उदाहरण और सारोपा का माना जाता है जो सर्वथा उचित ही है।

(२) गौणी साध्यवसाना का उदाहरण 'गौरयं' दिया है। इसमें आरोप विषय वाहीक का शब्द से कथन न होने कारण अर्थात् वाहीक को छुपा देने के कारण आरोप्यमाण 'गो' का कथन किया गया गया है। अतः यह 'गौरयं' गौणी साध्यवसाना का उदाहरण माना जाता है।

(३) शुद्धा सारोपा—सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न कार्यकारणादि भाव से आरोप वर्णन किये जाने पर शुद्धा सारोपा लक्षणा होती है। अतः यहाँ आयुर्घृतम् में विषयी

अर्थात् उपमान आयु और विषय (उपमेय) घी का साक्षात् शब्द से कथन किया गया है तथा कार्य आयु कारण घी कार्य कारण भाव होने के कारण 'आयुर्घृतम् शुद्धा का उदाहरण माना जाता है।

(४) शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण 'आयुरेवेदम्' दिया है। यहाँ आयु उपमान के द्वारा उपमेय घी कवलित (छुपाकर) करके वर्णन किये जाने के कारण शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणा होती है।

(११) साधारणगुणाश्रयत्वेन पदार्थ एव……इत्यपरे।

(आगरा वि० वि० १९५२, ६२)

'गोर्वाहीकः' और 'गौरयं' इन गौणी सारोपा, और गौणी साध्यवसाना के उदाहरणों में लक्ष्यार्थ विषयक विद्वानों में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। इन विभिन्न मतों के प्रदर्शनार्थ मम्मट ने क्रमशः तीन मतों का वर्णन किया हैं, जिनको निम्न प्रकार से समझना चाहिये।

(१) प्रथम मतानुसार अभिधा द्वारा बोधित गोत्व अर्थ का बाध उपस्थित होने पर स्वार्थ के साथ एक व्यक्ति में रहने वाले (गो में रहने वाले) जाड्यमान्द्य आदि लक्षणा के द्वारा लक्षित होते हैं। लक्षणा द्वारा लक्षित जाड्मान्द्य आदि गुण प्रवृत्ति निमित्त से गो शब्द अभिधा से जाड्य आदि गुणयुक्त वाहीक का बोध कराता है। इस प्रकार गो शब्द का वाहीक के साथ अभेद स्थिति मान ली जाती है। अभिधा और लक्षणा दोनों वृत्तियों के द्वारा यह वाक्यार्थ होता है कि—जाड्य आदि गुण के समान अर्थात् अभिन्न वाहीक है।

(२) गोत्व आदि स्वार्थ में रहने वाले जाड्यामान्द्य आदि गुण से अभिन्न जाड्य आदि गुण वाहीक में रहते हैं ! यहाँ लक्षणा द्वारा गो गत जाड्य आदि गुण वाहीक में रहते हैं अर्थात् गो गत गुणों का ही लक्षणा से वाहीक में अभेदता आक्षेप होता है। गो और वाहीक (पुरुष) गुणी में लक्षणा नहीं होती है। इस प्रकार वाहीकगत गुण लक्ष्य है। अतः वाक्यार्थ इस प्रकार समझना चाहिये कि गौ गत जाड्यमान्द्य आदि गुण के सजातीय जाड्य आदि गुण विशिष्ट वाहीक है।

(३) "उपर्युक्त दो मतों में अरुचि प्रदर्शित करते हुए मम्मट ने प्रथम मत 'केचित्' कहकर छोड़ दिया है और द्वितीय मत में 'अन्ये' कहकर अरुचि दिखाई है। वस्तुतः जाड्य आदि गुण में लक्षणा करने पर गुणी अथवा धर्मी वाहीक के साथ समानाधिकरण्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इसलिये तृतीय मत का उपादान करते हुये मम्मट ने कहा है कि—

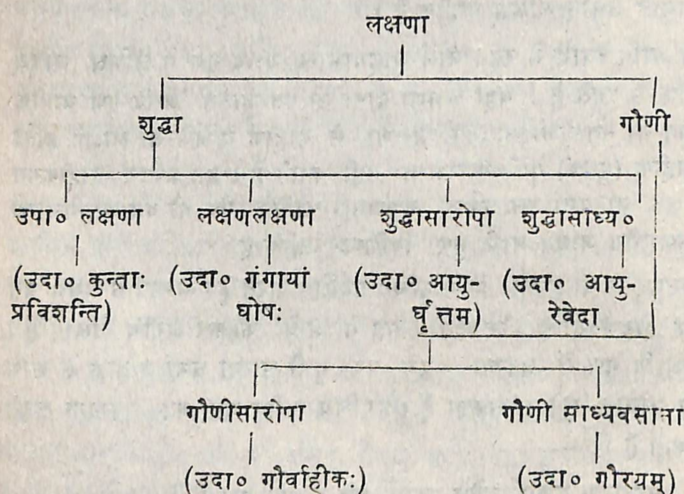
"साधारण गुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे"।

इसका आशय यह है कि जाड्यमान्द्य आदि गुण सामान्य धर्म होने के कारण इन गुणों का आशय वाहीक है। अतः वाहीक में गो शब्द की लक्षणा होती है।

इस तृतीय मत के अनुसार परार्थ अर्थात् जाड्यादि गुण विशिष्ट वाहीक में दो शब्द की लक्षणा होती है। इस प्रकार 'गो' और "वाहीक" दोनों शब्द एक ही अर्थ का बोध कराते हैं और जाड्यमान्द्य आदि विशिष्ट वाहीक है यह वाक्यार्थ बोधित होता है। वस्तुत: गौणी लक्षणा के अनुरूप गुणकृत साधारण धर्म का आधार वाहीक होने के कारण 'गुणे भवा' गौणी (अन्वर्थक) लक्षणा गो शब्द से होती है। विभिन्न व्याख्याकारों का मत है कि तृतीय मत मम्मट का अभीष्ट मत है। उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त "अपरे" शब्द ही इस मत का (मम्मट के मत का) सूचक है।

(१२) "लक्षणा तेन षड्विधा" **(आगरा वि० वि० १९५४)**

मुख्यार्थ वाघ एवं मुख्यार्थ योग तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजनवश लक्षणा होती है। आचार्य मम्मट ने रस-लक्षणा के ६ भेदों का प्रणयन किया है। सर्वप्रथम लक्षणा के (१) लक्षणलक्षणा और (२) उपादानलक्षणा ये भेद किये हैं। ये दोनों (१) लक्षणलक्षणा और (२) उपादान लक्षणा शुद्धा लक्षणा के भेद हैं। इसके पश्चात् (१) सारोपा और (२) साध्यवसाना, ये दो भेद किये हैं। इस प्रकार शुद्धा और गौणी के भेद से लक्षणा के चार भेद होते हैं। जिनके नाम (१) शुद्धा सारोपा (२) शुद्धा साध्यवसाना (३) गौणी सारोपा (४) गौणी साध्यवसाना हैं। इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद होते हैं। ये ६ भेद प्रयोजनवती लक्षणा के होते हैं जिनको संक्षेप में निम्नस्थ चक्र से समझा जा सकता है।



इस प्रकार मम्मट के मतानुसार लक्षणा के ६ भेद होते हैं।

वामनाचार्य झलकीकर ने लक्षणा के ६ भेदों को कुछ प्रकारान्तर से उपादान किया है। उनके मत से पहले लक्षणा के शुद्धा और गौणी दो भेद होते हैं। पुन: शुद्धा के दो और गौणी के भी दो भेद होते हैं। अर्थात् शुद्धा के (१) उपादान लक्षणा

और (२) लक्षणलक्षणा में दो भेद होते हैं। इन दोनों के भी सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद होते हैं इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद होते है।

लक्षणा—(१) शुद्धा सारोपा उपादान लक्षणा (२) शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा (३) शुद्धा सारोपा लक्षणलक्षणा (४) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणलक्षणा (५) गौणी सारोपा लक्षणा (६) गौणी साध्यवसाना लक्षणा। इस प्रकार "लक्षणा तेन षड्विधा, के अनुसार लक्षणा के ६ भेद होते हैं।

(१३) "एवमप्यनवस्था स्यान्मूलक्षय कारिणी"।

अथवा

मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न लक्षणा।

अथवा

हेत्वभावान्नलक्षणा।

(आगरा वि० वि० १९६१, ६५, ६७)

अथवा

नाभिधा—समयाभावत्। (मेरठ वि० वि० १९६९, ७०)

लक्षणा के (१) मुख्यार्थबाध (२) मुख्यार्थ योग (३) रूढि अथवा प्रयोजन ये तीन कारण माने गये हैं। अतः लक्षणा तीन हेतुओं की उपस्थिति में ही प्रवृत्त होती है। हेतुओं के अभाव में लक्षणा नहीं होती है। 'गंगायां घोष, इस उदाहरण में मुख्यार्थ बाध होने से मुख्यार्थ से सम्बन्धित तट में शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन को मानकर लक्षणा होती है अर्थात् गंगा पद से तात्पर्य जल-प्रवाह है। जल-प्रवाह में बस्ती न हो सकने के कारण मुख्यार्थ बाध हो जाता है। फिर शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन को मानकर मुख्यार्थ से सम्बन्धित तट में लक्षणा होती है। शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन का बोध किस से होता है? इस प्रश्न के उत्पन्न होने पर कहा है कि "नाभिधासमयाभावात्" अर्थात् शीतलता, पावनता संकेतिक अर्थ न होने से कारण अभिधा से बोधित नहीं हो सकते हैं। यदि कोई कहे कि लक्षणा ये शीतलता, पावनता का हो जायेगा, तो भी यह कथन ठीक नहीं प्रतीत होता है कि "गंगायां घोषः" में लक्षणा करने के बाद 'गंगा तटे घोषः" लक्ष्यार्थ से बोधित होता है। इस तट में मुख्यार्थ बाध न होने के कारण लक्षणा से शीतलता, पावनता का बोध नहीं हो सकता, इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये लिखा गया है कि "मुख्यावाधाद्यभावान्न लक्षणा।"

इसके अतिरिक्त तट मुख्यार्थ नहीं है और न बाधित ही है तथा शीतलता, पावनता अर्थ को लक्ष्यार्थ मानने के लिये कोई रूढ़ि अथवा प्रयोजन नहीं है, तो फिर शैत्य पावनत्वरूप प्रयोजन का लक्षणा से भी बोध नहीं हो सकता है जैसा कि मम्मट ने निम्न कारिका को कहते हुये स्पष्ट किया है कि—

लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योग: फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन्नच शब्द: स्खलद् गति: ॥

अत: स्पष्ट है कि लक्षणा के द्वारा शैत्य पावनत्वरूप प्रयोजना का बोध नहीं हो सकता है यदि कोई यह कहे कि शीतलता, पावनता को लक्ष्यार्थ मानने के लिये किसी न किसी प्रयोजन की कल्पना करली जाएगी और शैत्य पावनत्वरूप प्रयोजन का बोध लक्षण से हो जायेगा। परन्तु यह कथन उचित इसलिये नहीं माना जा सकता है कि फिर शीतलता, पावनता का प्रयोजन मानने पर प्रश्न उत्पन्न होगा कि उसका प्रयोजन मानकर उसको भी लक्ष्यार्थ ही मान लेंगे। इस प्रकार उसके प्रयोजन और उसका प्रयोजन की कल्पना करने से एक प्रस्तुत प्रतिपाद्य काव्यशास्त्र में अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा जो प्रतिपाद्य विषय को ही समाप्त कर देगा इसलिये अनवस्था नामक दोष की उपस्थिति होने के कारण शीतलता, पावनता को कभी भी लक्षणा का विषय नहीं माना जाता है। यह शैत्य, पावनत्वरूप, प्रयोजन व्यंजना का ही विषय एवं क्षेत्र है। इसी आशय से मम्मट ने लिखा है कि—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणासमुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥

इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जिस शीतलता, पावनता का बोध कराने के लिये 'गंगायां घोष:' "में लक्षणा की जाती है इस शैत्य पावनत्वरूप की सिद्धि के लिये व्यंजना के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं माना जा सकता है। अत: प्रयोजन रूप शीतलता, पावनता के लिये व्यंजना अवश्य स्वीकार करनी चाहिये।

(१४) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योग: फलेन नो।
न प्रयोजनयेतस्मिन् न च शब्द: स्खलद् गति: ॥

अथवा

यस्य प्रतीति माधातु लक्षणासमुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया ॥

अथवा

प्रयोजनेन सहित लक्षणीयं न युज्यते। (मेरठ वि० वि० १९७३)

अथवा

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य: फलमन्यदुदाहृतम्। (मेरठ वि० वि० १९६९)

व्यंजना विरोधियों के मतों का खण्डन करते हुये मम्मट ने सिद्ध किया है कि जिस शीतलता, पावनता की सिद्धि के लिये "गंगायां घोष:" ये लक्षण के द्वारा तट को लक्षित करते हैं, उस तट में मुख्यार्थ बाध ही नहीं होता है, क्योंकि तट में बस्ती हो ही सकती है। इसके अतिरिक्त प्रथम तो "तट" मुख्यार्थ ही नहीं है और न बाध

ही है तथा यदि कदाचित् बाध की कल्पना भी करलें, तो फिर "तट" में लक्षणा करने का और शीतलता को लक्ष्यार्थ मानने का कोई प्रयोजन होना चाहिये क्योंकि प्रयोजन के अभाव में भी लक्षणा नहीं हो सकती है तथा शब्द गंगा शब्द के समान बस्ती को धारण करने में असमर्थ भी नहीं है, तो फिर शैत्य, पावनत्वरूप प्रयोजन का बोध व्यंजना के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार से नहीं हो सकता है। यदि शैत्य पावनत्व की लक्ष्यार्थ मानने के लिये किसी प्रयोजन की कल्पना करली जायेगी। ऐसा कोई कहे, तो प्रतिपाद्य विषय में अनवस्था दोष आ जायेगा, जिससे विषय का समूल नाश ही हो जायेगा। अतः शीतलता, पावनता लक्षणा का विषय एवं क्षेत्र न होकर व्यञ्जना का ही विषय है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई कहे कि प्रयोजन विशिष्ट तट में लक्षणा करके शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन का बोध लक्षणा के द्वारा ही हो जायेगा, परन्तु मम्मट का कहना है कि यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता है जैसा कि लिखा है—

"प्रयोजनं सहितं लक्षणीयं न युज्यते"।

इसका आशय यह है कि शीतलता पावनता, विशिष्ट तट में लक्षणा नहीं की जा सकती है क्योंकि ज्ञान का विषय पृथक् होता है और फल का विषय पृथक् होता है। यहाँ "गंगायां घोषः" में लक्षणा से लक्षित तट ज्ञान का विषय है और फल का शैत्य पावनत्व है। दोनों पृथक्-पृथक् हैं। दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ज्ञान का विषय तट और फल का विषय शैत्य पावनत्व में कार्य कारण भाव सम्बन्ध है इसलिये एक साथ दोनों तट और शीतलता, पावनता की उपस्थिति नहीं हो सकने के कारण प्रयोजन विशिष्ट तट में लक्षणा करना उचित नहीं है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि—

"ज्ञानस्य विषयोह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्"।

ज्ञान का विषय पृथक् होता है और फल का विषय पृथक् होता है। इस विषय में नैयायिक यथा मीमांसकों के मत में भिन्नता प्राप्त होती है।

मीमांसक तथा नैयायिक दोनों ही "अयं घटः" अयं घटः ऐसा मानते हैं। अर्थात् ज्ञान के विषय में दोनों एक मत हैं। परन्तु फल के विषय में मतभेद है। मीमांसक ज्ञान का विषय 'ज्ञातता' मानते हैं और नैयायिक ज्ञान का विषय "अनुव्यवसाय" मानते हैं। मीमांसकों की "ज्ञातता" घट आदि पदार्थों में रहने वाला धर्म विशेष है और नैयायिकों का "अनुव्यवसाय" आत्मा में रहने वाला धर्म विशेष है। इस उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का विषय तट और फल का विषय शीतलता, पावनता में भेद होने के कारण तथा एक साथ प्रतीति सम्भव न होने के कारण प्रयोजन विशिष्ट तट में लक्षणा नहीं की जा सकती है। अतः शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन के बोध के लिये व्यंजना स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

(१५) शब्द प्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥

अथवा

"अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितयास्थितः" ।

(मेरठ वि० वि० १९६९, ७० आगरा वि० वि० १९६३, ६५, ७०)

आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना के मुख्य दो भेदों को माना है—

(१) शाब्दी व्यंजना ।

(२) आर्थी व्यञ्जना ।

(१) शाब्दी व्यञ्जना—में शब्द प्रधानरूप व्यञ्जक होता है और अर्थ सहकारी भाव से स्थित रहता है । इसी आशय को स्पष्ट करते हुये मम्मट ने लिखा है कि— **"अर्थोऽपि व्यंजकस्तत्र सहकारितया स्थितः ।"**

इससे स्पष्ट है कि शब्दीव्यञ्जना में शब्द प्रधानरूप से व्यञ्जक होता है और अर्थ सहकारी भाव से व्यञ्जकता में सहायक होता है ।

(२) आर्थीव्यञ्जना अर्थ पर आधारित होती है । रसाभिव्यक्ति दशा में शब्द प्रमाण से प्रतीयमान अर्थ ही मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और शब्द अर्थ व्यञ्जकता में सहकारी भाव से सहायक होता है ।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञात होने वाला अर्थ-व्यञ्जक नहीं होता है । इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने कहा है कि—

शब्द प्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।

अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ।

इसका आशय यह है कि न तो केवल शब्द ही व्यंजक होता है और न केवल अर्थ ही व्यंजक होता है । अपितु दोनों शब्द और अर्थ अपने-अपने क्षेत्र में मुख्य और सहकारी भाव से व्यंजक होते हैं अर्थात् शाब्दीव्यञ्जना में शब्द प्रधान रूप से और अर्थ सहकारी भाव से व्यञ्जक होता है । इसी प्रकार आर्थीव्यंजना अर्थ प्रधानरूप से और शब्द सहकारी भाव से व्यञ्जक होता है । अर्थव्यञ्जना ही काव्य में काव्यत्वाधायक होती है । अर्थव्यञ्जना के अभाव में काव्यत्व का भी अभाव होता है । ध्वन्यालोककार ने इस अर्थव्यञ्जना को ही ध्वनि के नाम से अभिहित करते हुये काव्य की आत्मा माना है तथा उपर्युक्त शब्द और अर्थ सहकारी भाव को व्यक्त करते हुये लिखा है कि—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरितिसूरिभिः कथितः ॥

(१६) न खलु विभवानुभाव व्यभिचारिणी एव रसः ।

अपितु रसस्तैरित्यरित क्रमः सतुलाधवा लक्ष्यते ॥

अथवा

रसभाव तदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।

भिन्नोरसाद्यलङ्कारावलङ्कार्यतया स्थितः ॥

(मेरठ वि० वि० १९७०)

ध्वनि प्रस्थापनाचार्य मम्मट ने ध्वनि के प्रमुख दो भेदों का उल्लेख करते हुए (१) असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य (२) संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य का वर्णन किया है। इनमें प्रथम भेद असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य को ही रस ध्वनि माना है। यद्यपि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में वाचय और व्यंग्य अर्थ में क्रम रहता है तथापि अति शीघ्रता के कारण की प्रतीति नहीं होती है। इसलिये, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य यह नाम अन्वर्थक ही है। इसका आशय यह है कि विभाव अनुभाव आदि की प्रतीति ही रस प्रतीति का कारण बनती है। अतः रस ध्वनि अथवा रस प्रतीति में क्रम होने पर भी अति शीघ्रता के कारण प्रतीति नहीं होती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने लिखा है कि—

न खलु विभावानुभाव व्यभिचारिण एव रसः ।

अपितु रसस्तैरित्यस्तिक्रमः स तुलाघन्नलक्ष्यते ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे कमल के १०० पत्तों को नीचे ऊपर क्रम से रखकर एक कील रखकर चुभो दें, तो क्रम होते हुये भी अति शीघ्रता के कारण भेदन किया में यह प्रतीति नहीं होती है कि कब कौन सा पत्र भेदन को प्राप्त हुआ, इसी प्रकार रसावस्था में विभावादि में क्रम होने पर भी अतिशीघ्रता के कारण विभावादि के क्रम की प्रतीति नहीं होती है इसके अतिरिक्त यदि रसादि ध्वनि में क्रम न होता तो रसध्वनि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य न कहकर अक्रमव्यंग्य कहते, परन्तु इसके नाम के अनुसार ही यह प्रतीति होती है कि क्रम होने पर भी प्रतीति नहीं होती है, इसलिये असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य कहते हैं। वैस्तुतः असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का कोई भेद नहीं होता है तथापि रस, भाव, रसाभाव, भावाभाव आदि अवान्तर भेद होते हैं। इस प्रकार रसध्वनि का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य यह नाम यथा नाम तथा गुण प्रतीत हो रहा है।

(१७) तद् ग्राहकं न च निर्विकल्पकं विभावादि परामर्श प्रधानत्वात् स्वसंवेदनसिद्धत्वाप् । (आगरा वि० वि० १९५२, ५६)

अभिनवगुप्त ने रस को ब्रह्मानन्द सहोदरः चैतन्य, अखण्ड एवं स्वयं प्रकाशमान तथा अलौकिक सिद्ध करते हुये कुछ तर्कों का उल्लेख किया है कि रस लौकिक परिधि की सीमा में नहीं बंधता है। इसलिये भी रस अलौकिक है। इसके अतिरिक्त संसार के समस्त वस्तु विषयक ज्ञान या तो निर्विकल्पक होते हैं या सविकल्पक होते हैं। परन्तु रस न तो निर्विकल्पक है और न सविकल्पक है, क्योंकि रस को निर्बिकल्पक ज्ञान इसलिये नहीं कह सकते हैं कि रसानुभूति में विभावादि परामर्श अवश्य-

मेव प्रधान रूप से आवश्यक होते हैं। इसलिये रस को निर्विकल्पक ज्ञान नहीं कह सकते हैं। रस को सविकल्पक ज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान वस्तु के नाम, जाति आदि की योजना से बद्ध होता है। जैसे "घट" के स्वरूप ज्ञान के साथ-साथ नाम जाति, कार्य कारण आदि का ज्ञान होता है। अतः घट आदि का ज्ञान सविकल्पक ज्ञान है। रस तो अनुभूति का विषय है, शब्द व्यवहार का नहीं है। इसलिये रस सविकल्पक ज्ञान भी नहीं है इससे स्पष्ट है कि रस इन दोनों ज्ञानों से विलक्षण एवं अलौकिक है।

वस्तुतः रस एक अलौकिक, आनन्दात्मक, स्वसंवेदनसिद्ध आस्वाद है जिनमें नाम, जाति आदि की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। इसलिये रस एक ऐसी अलौकिक अनुभूति है, जिसमें परस्पर विरुद्ध सम्भावनायें भी निर्विरोध रूप से रस निष्पत्ति में सहयोग करती हुई प्रतीत होती है। अतः निर्विवाद रस एक विलक्षण एवं वेद्यान्तर स्पर्श शून्य ब्रह्मानन्द सहोदर तथा अलौकिक है।

(१८) "यदप्युच्यते नेमित्तिकानुसारेण निमित्तातिन कल्प्यन्ते।"

व्यंजनाविरोधी मीमांसकों के मत का खण्डन करने के लिये मम्मट ने प्रथम मीमांसकों के पूर्वपक्ष का उपपादन करते हुए कहा है कि **"यदप्युच्यते नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते।"**

अर्थात् कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है। अतः व्यंग्यार्थ रूप कार्य की प्रतीति शब्द कारण के द्वारा ही होती है। तो फिर शब्द शक्ति अर्थात् केवल अभिधा से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जायेगी। उसी के लिये व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह मीमांसकों का पूर्व पक्ष है। मम्मट ने एक देशी मीमांसकों के व्यंजना विरोधी सिद्धान्त का खण्डन करते हुये स्पष्ट किया है कि जब मीमांसकों के मतानुसार सामान्य में अन्वय होने के कारण उसी में संकेत शक्ति होती है, विशेष में नहीं। अतः निमित्त शब्द में जब तक व्यंग्यार्थ में संकेतग्रह का सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक वृत्ति से नैमित्तिक अर्थ रूप व्यंग्यार्थ का बोध कैसे हो सकेगा अर्थात् यह मत कार्य के अनुसार कारण के ज्ञान की कल्पना वाला सिद्धान्त उचित नहीं है, क्योंकि शब्द का निमित्तत्व धर्म कारक रूप है अथवा ज्ञापकत्व रूप है ? परन्तु शब्द अर्थ को प्रकाशित करता है उत्पन्न नहीं करता है। अतः शब्द का कारकत्व और ज्ञापकत्व कुछ भी नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि जो अज्ञात वस्तु है, उसकी ज्ञापकता कैसे सम्भव हो सकती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान तो संकेतग्रह के माध्यम से होता है और यह संकेतग्रह अन्वितमात्र में होता है विशेष में नहीं होता है। इस प्रकार जब तक शब्द रूप निमित्त का विशेष के साथ संकेतग्रह नहीं होगा, तब तक नैमित्तक विशेषार्थ (व्यंग्यार्थ) का बोध कैसे हो सकता है अर्थात् संकेतग्रह के अभाव में विशेष (व्यंग्य) अर्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं हो सकती है। इसलिये एक देशी

मीमांसक का कार्य को देखकर कारण की कल्पना करने वाला सिद्धान्त युक्ति विरहित एवं व्यवहार सिद्ध नहीं होता है। तो फिर मीमांसकों को भी व्यंग्यार्थ बोध के लिये व्यंजना मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता है। अतः व्यंग्यार्थ का प्रतीति के लिये व्यंजना मानना अनिवार्य है।

(१६) ये त्वभिदधति **"सोऽयामिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः" इति "यत्परः शब्दः सशब्दार्थः इति विधिरेवात्र वाच्य इति।"**

(आगरा वि० वि० १९६२, ६६)

व्यंजना-विरोधी मीमांसक भट्टलोल्लट का कथन है कि जिस प्रकार कोई वीर पुरुष के द्वारा चलाया हुआ एक ही बाण कवच भेदन, हृदय विदारण, एवं प्राण निष्कासन इन तीनों कार्यों को एक साथ करता है उसी प्रकार अभिधा-वृत्ति से क्रमशः वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य इन तीनों प्रकार के अर्थ का बोध हो जायेगा। अतः व्यंग्यार्थ बोधक के लिये पृथक् एक व्यंजनावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त **"यत्परः शब्दः सशब्दार्थः"** इस नियम के अनुसार व्यंग्यार्थ का बोध अभिधा से ही हो जायेगा क्योंकि जिस अर्थ के लिये जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उस शब्द का वही अर्थ होता है, इसलिये समस्त अर्थों का बोध अभिधा से ही हो जायेगा। पृथक् एक व्यंजनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। अतः निःशेषच्युत आदि में जो विधिरूप अर्थ बोधित होता है वह व्यंग्यार्थ नहीं है, अपितु वाच्य ही है। भट्टलोल्लट के व्यंजना-विरोधी इस उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुये मम्मट ने लिखा है कि—**"तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचो युक्तेर्देवानां प्रिया।"**

मम्मट का कहना है कि वस्तुतः मीमांसकों को तात्पर्यार्थ विषयक का मत तात्पर्य ही ज्ञात नहीं है। सच तो यह है कि **"यत्परः शब्दः सशब्दार्थः"** इस कथन का तात्पर्य ही उनके समझ में नहीं आया और न समझने का प्रयास ही किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जो विधेय है और जितने अंश के विधेय है उसी से तात्पर्य रहा करता है। विधेय को तात्पर्य इसलिये कहते हैं कि उसका उपात्त शब्दों से ग्रहण किया जाता है। इसका कारण यह है कि विधेय का अभिप्राय केवल प्रेरणा रूप विधि नहीं होता है अपितु द्रव्य रूप भी होता है। यही **'यत्परः शब्दः सशब्दार्थः'** का तात्पर्य है, न कि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ मानना। **"भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते"** का भी यही तात्पर्य है अर्थात् जहाँ भूत (सिद्ध वस्तु) कारक आदि और भव्य (क्रिया आदि) दोनों एक साथ उच्चरित रहते हैं वहाँ भूतरूप कारकादि भव्यरूप क्रिया सिद्ध के लिये होते हैं। क्योंकि ज्ञात का ही ज्ञापक होता है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि केवल साध्यरूप (क्रिया) अर्थ ही नहीं अपितु कारक रूप अर्थ भी विधेय होते हैं। इससे स्पष्ट है कि भट्टलोल्लट का यह दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार उचित नहीं है। क्योंकि यदि लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को भी वाच्यार्थ मान

लेंगे तो "**ब्राह्मण पुत्रस्ये जातः कन्याते गर्भिणी जाता**" इत्यादि वाक्य में हर्ष, शोक आदि अर्थ को भी वाच्य मानना पड़ेगा ।

यदि इतने पर भी वे मीमांसक यह कहें कि हर्ष, शोक आदि अर्थ भी वाच्यार्थ ही हैं अर्थात् अभिधा से बोधित होते हैं, तो फिर उनसे प्रश्न पूछा जायेगा कि फिर आप लक्षणा को ही क्यों मानते हो। फिर भी यदि लक्ष्यार्थ को भी वाच्यार्थ मान लें तो फिर मीमांसकों द्वारा स्वीकृत श्रुति, लिंग, वाक्य आदि की पूर्व-पूर्व बलीयता वदतो व्याघात अर्थात् अपना कथन अपनें कथन से ही असंगत हो जायेगा। इस विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि दीर्घ दीर्घतर अभिधा व्यापार का यह सिद्धान्त मान्य एवं उचित नहीं है। व्यंग्यार्थ प्रतीति के लिये व्यंजना मानना अनिवार्य ही है।

(२०) "**श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् ।**"

व्यंजना-विरोधी मीमांसक लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ को भी अभिधा का विषय मानते हैं अर्थात् जैसे वीर पुरुष द्वारा चलाया हुआ बाण कवच भेदन, उरोविदारण, प्राणापहरण करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से ही लक्ष्य और व्यंग्यार्थ का बोध हो जाता है। अतः व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

मीमांसकों के इस व्यंजनाविरोधी मत का खण्डन करते हुये मीमांसकों के द्वारा उद्धृत व्यंजना मान्यता सम्बन्धी सूत्र का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि—

"**श्रुतिलिङ्गवाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् ।**"

(आगरा वि० वि० १९५२, ५४)

(१) **श्रुति की बलवत्ता**—इस सूत्र में प्रतिपादित ६ प्रमाणों में पूर्व पूर्व प्रमाण बलवान् अर्थात् मान्य होता है अर्थात् लिंग की अपेक्षा श्रुति अधिक बलवती होती है। लिंग से तात्पर्य "शब्दसामर्थ्यं लिंगम्" है अर्थात् शब्द में जो "अर्थविशेष" को प्रकट करने की सामर्थ्य रखता है उसे लिंग कहते हैं। श्रुति से तात्पर्य "निरपेक्षो रवः श्रुतिः' है अर्थात् जो शब्द किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखता हो तो उसे (शब्द को) श्रुति कहते हैं। अतः जैमिनि के इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि जब श्रुति और लिंग में अर्थ विरोध उपस्थित हो तो वहाँ श्रुति ही बलवती होती है अर्थात् श्रुति जन्य अर्थ मान्य एवं प्रामाणिक होता है।

(२) **लिङ्ग की बलवत्ता**—इसी प्रकार लिंग और आकांक्षादि से युक्त वाक्य के अर्थ में विरोध उपस्थित होने पर वाक्य की अपेक्षा लिंग जन्य अर्थ प्रामाणिक एवं मान्य तथा बलवान् होता है।

(३) **वाक्य की बलवत्ता**—आकांक्षादि से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य का जन्य अर्थ वाक्यार्थ अपने से आगे 'प्रकरण जन्य' अर्थ की अपेक्षा अधिक बलवान् एवं मान्य होता है।

(४) प्रकरण की बलवत्ता—परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। यहाँ करण से बोधित अर्थ में स्थान की अपेक्षा अधिक बलवत्ता होती है अर्थात् प्रकरण ौर स्थान की विशेषता से बोधित अर्थ में विरोध उपस्थित होने पर स्थान की पेक्षा प्रकरण की मान्यता एवं बलवत्ता अधिक होती है।

(५) स्थान की बलवत्ता—समान देश में होना ही स्थान कहा जाता है। हाँ स्थान और समाख्या से बोधित अर्थ में विरोध उपस्थित होने पर स्थान अर्थात् मान देशता जन्य अर्थ में बलवत्ता होती है अर्थात् समाख्या की अपेक्षा स्थान की धिक बलवत्ता एवं मान्यता स्वीकार की जाती है।

(६) समाख्या की दुर्बलता—यौगिग शब्द को समाख्या कहते हैं। इस समाख्या चार (१) यौगिक, (२) रूढ़ (३) योगरूढ़ तथा (४) यौगिक रूढ़ भेद होते हैं। ौगिक शब्द से तात्पर्य व्युंत्पत्तिलभ्य अर्थ की प्रतीति ही समाख्या होती है। समाख्या सबसे दुर्बल प्रमाण है।

इस प्रकार अर्थ बोध के पौर्वापर्य के प्रतिपादन से ज्ञात होता है कि मीमांसकों दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार पर ही विश्वास नहीं है यदि दीर्घ-दीर्घतर अभिधा ापार पर विश्वास होता तो उपर्युक्त 'श्रुतिलिंग वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या ात्मक ६ प्रमाणों की पूर्व पूर्वबलीयता को स्वीकार नहीं करते। इसलिये यह निश्चित कि अभिधा से व्यंग्यार्थ की प्रतीति मीमांसकों के मत में भी नहीं हो सकती है। दि दीर्घ-दीर्घतर अभिधा के व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध हो सकता है तो दीर्घ- ार्घतर अभिधा से ही श्रुति, लिंग आदि ६ प्रमाणों की उत्तरोत्तर निर्बलता एवं ूर्व-पूर्व की बलवत्ता का भी बोध हो जाना चाहिये, परन्तु मीमांसक स्वयं ही अभिधा दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से आश्वस्त नहीं है इसीलिये उपर्युक्त सूत्र का निर्माण िया है। इस विवेचन से निष्कर्ष निकलता है या तो मीमांसा स्वयं अभिधा के ीर्घ-दीर्घतर व्यापार की मान्यता को अस्वीकार करें या श्रुति, लिंग आदि ६ प्रमाणों उत्तरोत्तर निर्बलता को अस्वीकार करें। वस्तुतः व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना अतिरिक्त किसी अभिधा आदि व्यापार से सम्भव नहीं हो सकती है। अतः यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये व्यंजना अवश्य स्वीकार करनी होगी। मीमांसकों का ीर्घ-दीर्घतर अभिधा का व्यापार मान्य एवं समीचीन नहीं है।

(२१) **'न दोषः स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्।'**

आचार्य मम्मट ने काव्य के मुख्य अर्थात् रसदोषों के विवेचन के पश्चात् स दोषों के अपवादों का विवरण प्रस्तुत करते हुये लिखा है कि—

'न दोष स्वपदेनोक्तावपि संचारिणः क्वचित्'।

इसका आशय यह है कि कहीं-कहीं पर स्थिति विशेष के कारण संचारी- ावों का स्वशब्द कथन करने पर भी दोष नहीं होता है। जैसे—

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्त्यमाना ह्रिया,
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे बरमात्तसाध्वसा गौरी नवे सगमे,
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥

प्रस्तुत श्लोक में 'औत्सुक्य' नामक व्याभिचारी भाव का कोई असाधारण ऐसा अनुभव नहीं है जो संदेह रहित अर्थात् निश्चित रूप से 'औत्सुक्य' का बोध करा सके। इसके अतिरिक्त जो त्वरा आदि अनुभावों का वर्णन यहाँ किया गया है वे असाधारण नहीं हैं अपितु भय आदि के भी व्यंजक होने के कारण साधारण ही अनुभाव माने जाते हैं। अतः इसे श्लोक में स्वशब्द से कथित 'औत्सुक्य' नामक संचारी भावदोष नहीं माना जा सकता है क्योंकि यह औत्सुक्य रस का विधायक नहीं है। इसी भाव को स्पष्ट करने के आशय से मम्मट ने उपर्युक्त रस दोष के अपवाद का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट है कि कहीं-कहीं परिस्थितिवश व्याभिचारी अथवा संचारी भावों का स्वशब्द से कथन करने पर भी दोष नहीं होता है।

(२२) आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्न संश्रयः ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः ॥

(आगरा वि० वि० १९५६, ५७)

आचार्य मम्मट ने रस दोष के १३ भेदों का सोदाहरण, विवेचन करने के अनन्तर रस दोष के कुछ परिहारों का विवेचन किया है। यहाँ रस-परिहार के प्रसङ्ग में रस शब्द का तात्पर्य स्थायी भाव है। यह रसदोष मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है।

(१)—दैशिक (आश्रयैक्य निमित्तक)
(२)—कालिक (नैरन्तर्य निमित्तक)

(१) दैशिक—यह दैशिक रसदोष भी (१) आलम्बनैक्य और (२) आश्रयैक्य भेद से दो प्रकार होता है—

आश्रयैक्यनिमित्तक—रति आदि भावों की उत्पत्ति के कारणों को आलम्बन विभाव कहते हैं तथा जिसमें भाव की उत्पत्ति होती है उसे आश्रय कहते हैं। जब एक ही आश्रय अथवा एक ही आलम्बन में दो रस नहीं रह सकते हैं तो उन दोनों रसों में आश्रयैक्य रस-विरोध उपस्थित होता है, जैसे वीर और भयानक में आश्रयैक्य दोष (दैशिक) होता है।

परिहार—अब आश्रयैक्य रसदोष उपस्थित होने लगे तो आश्रयभेद कर देने से आश्रयैक्य अर्थात् दैशिक रसदोष दूर हो जाता है। जैसे वीर और भयानक रस में

आश्रय की एकता से रस-विरोध होता है तो वहाँ वीर रस का पक्ष में और भयानक रस का प्रतिपक्ष में आश्रयभेद करके वर्णन करने पर दैशिक अर्थात् आश्रयैक्य से होने वाला रसदोष समाप्त होता है।

(२) कालिक (रसदोष)—जो एक से अधिक रस एक समय में एक साथ व्यवधान के बिना नहीं रह सकते हैं तो वहाँ कालिक अर्थात् नैरन्तर्य रसदोष होता है। जैसे शान्त और शृङ्गार का एक साथ एक ही व्यक्ति के निमित्त से एक ही काल में वर्णन करने से नैरन्तर्य अथवा कालिक रसदोष होता है।

परिहार—जब एक ही काल में एक ही व्यक्ति के कारण से शान्त और शृङ्गार रस का वर्णन करने से विरोध उपस्थित होने की सम्भावना होने पर ऐसे स्थलों पर किसी अन्य रस को मध्य में डालकर वर्णन करने से एककालिक अथवा नैरन्तर्य नामक रसदोष हो जाता है। जैसे नागानन्द नामक नाटक में शान्तरसप्रिय नायक जीमूतवाहन के कारण से एक कालिक शान्त और शृंगार का वर्णन इष्ट होने पर 'अहोगीतम् अहोवादित्रम्' इस अद्भुत रस के द्वारा व्यवधान उपस्थित करके मलयवती (नायिका) विषयक शृंगार का वर्णन करके नैरन्तर्य रसदोष का परिहार किया गया है।

इस प्रकार विरोधी रसों में कालिक रसदोष होने पर किसी रस का व्यवधान करके वर्णन करने पर दोष नहीं होता है।

(२३). एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादयः संयोगावृत्त्या तु गुणालङ्कारणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनु प्रासोपमादीनां भेदः इत्यभिधानमतत्।

(आगरा वि० वि० १९५३)

मम्मट ने गुण और अलङ्कार के भेद को न मानने वाले अभेदवादी भट्टोद्भट्ट के पक्ष की अनौचित्यता को सूचित करते हुये उपर्युक्त पंक्तियों को लिखा है। जिनका आशय यह है कि—

भट्टोद्भट्ट का मत है कि लौकिक शूरता, वीरता आदि गुण शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं और लौकिक हार आदि आभूषण शरीर में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं। अतः लौकिक गुण और अलङ्कारों (आभूषणों) में भेद प्राप्त होता है परन्तु काव्य के क्षेत्र में ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कारों में कोई भेद नहीं होता है अर्थात् दोनों (गुण, अलङ्कार) समवाय सम्बन्ध से काव्य में रहते हैं। अतः इनमें (ओज, प्रसाद, माधुर्य, अनुप्रास, उपमा आदि में) जो भेद मानते हैं। वह एक भेड़िया चाल मात्र है, यह भट्टोद्भट्ट का अभेदवादी मत है।

परन्तु आचार्य मम्मट ने भट्टोद्भट्ट के गुण और अलङ्कारों के अभेद पक्ष को 'असत्' कहकर अमान्य एवं असंगत घोषित किया है। मम्मट के मत से गुण (ओज,

प्रसाद, माधुर्य) रस के धर्म हैं और अलङ्कार काव्य के शरीर शब्दार्थ के धर्म हैं इस प्रकार दोनों में (गुण और अलङ्कारों में) पर्याप्त स्पष्ट भेद प्राप्त होता है। मम्मट ने गुण और अलङ्कारों के भेद सम्बन्धी अपने विचारों को अष्टम उल्लास के प्रारम्भ में ही व्यक्त करते हुये लिखा है कि—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार शौर्य, औदार्य आदि गुण आत्मा के धर्म होते हैं और आभूषण शरीर के धर्म होते हैं; उसी प्रकार ओज, प्रसाद आदि गुणकाव्य के आत्मा रस के धर्म हैं, शब्दार्थ के नहीं अर्थात् काव्य के शरीर नहीं और अनुप्रास, उपमा आदि अलङ्कार काव्य के शरीर शब्दार्थयुगल के धर्म हैं, रस के नहीं। इस प्रकार स्पष्ट रूप से गुण और अलंकारों में भेद प्रतीत हो रहा है। अतः गुणः रस के उत्कर्षाधायक एवं रस के धर्म हैं अलंकार, काव्य के शरीर के उत्कर्षाधायक एवं शरीर के (शब्दार्थयुगल के) धर्म हैं। इस प्रकार गुण और अलंकारों में स्पष्ट भेद सिद्ध है।

(२४) यदप्युक्तम् काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः तदतिशय हेतवस्त्य-लंकाराः इति तदपि न युक्तम्।

(आगरा वि० वि० १९६६)

गुण और अलङ्कार के भेद सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले वामनाचार्य के मत का विवेचन करने के लिये मम्मट ने उपर्युक्त वामन के मत का उल्लेख किया है कि जो वामन आचार्य ने काव्य के शोभाकर्तृत्व धर्म को गुण और शोभावर्द्धक धर्म को अलङ्कार माना है। यह मत भी मान्य एवं उचित प्रतीत नहीं होता है।

मम्मट का आशय यह है कि क्या काव्य में ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि सभी गुण एक साथ अपेक्षित होते हैं अर्थात् समस्त गुणों से युक्त रचना को काव्य कहते हैं। यदि यह मान लें कि समस्त ओज, प्रसाद आदि गुणों से युक्त रचना को काव्य कहेंगे तो समस्त गुणों से रहित गौडी और पाञ्चाली रीति को काव्य की आत्मा कैसे माना जा सकेगा ? इसके अतिरिक्त यह कहें कि रचना में कुछ गुणों के होने पर ही उस रचना को काव्य कहेंगे तो फिर प्रस्तुत वाक्य में काव्यत्व को स्वीकार करना पड़ेगा। तथापि—

"अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्य·········धूमः।

इस प्रकार इस काव्य में वामन के द्वारा स्वीकृत ओज आदि गुणों के होने से काव्यत्व मानना पड़ेगा जबकि मम्मट के मतानुसार काव्य में अलङ्कार भी अपेक्षित है तो फिर अलङ्कारों के अभाव में कैसे काव्यत्व स्वीकार करेंगे अर्थात् नहीं।

इसके अतिरिक्त गुणों के अभाव में भी काव्यत्व माना जाता है—जैसा कि प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट हो रहा है—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोतितरां सुधाम्॥

इस श्लोक में वामनोक्त कुछ ही गुण विद्यमान हैं सभी गुण नहीं हैं परन्तु कुछ गुणों से तो रचना को काव्य नहीं कह सकते हैं। अतः श्लोक में काव्यत्व नहीं मानना चाहिये परन्तु विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक अलङ्कारों की उपस्थिति होने के कारण काव्यत्व स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार वामन द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार अलङ्कार, गुणजन्य शोभा के वर्द्धक होते हैं। परन्तु इस लोक में गुणों का अभाव होने से वामनोक्त "तदतिशयहेतवः" अलङ्कार का लक्षण घटित न होने से है। वामन के अलङ्कार-लक्षण में व्याप्ति नामक दोष हो जायेगा अथवा गुणों के अभाव में इस श्लोक में काव्यत्व का अभाव होने लग जायेगा, परन्तु श्लोक में रसानुभूति की व्यञ्जना होने से काव्यत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वामनोक्त गुण (ओज, प्रसाद आदि) अलङ्ककार (अनुप्रासोपमा आदि) का भेद उचित एवं समीचीन प्रतीत नहीं होता है। मम्मट के मतानुसार गुण, रस के धर्म और अलङ्कार शब्दार्थयुगल के धर्म होते हैं।

(२५) **"करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।"**

आचार्य मम्मट ने गुण का सामान्य स्वरूप एवं वामनोक्त दश गुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव प्रस्तुत करने के पश्चात् गुणों के क्रमशः लक्षणों का कथन करते हुये सर्वप्रथम माधुर्य गुण का लक्षण कहा है कि—

"आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।

गुण का सामान्य स्वरूप प्रतिपादित करते हुये मम्मट ने गुणों को रस का धर्म कहा है तथा गुण, रस के उत्कर्षाधायक धर्म होते हैं जो चित्त की द्रुति का कारण तथा जो आह्लाद स्वरूप हैं उसे माधुर्य गुण कहते हैं जो शृङ्गार रस में होता है इस प्रकार माधुर्य गुण शृङ्गार अर्थात् संभोग-शृङ्गार में सामान्य रूप से रहता है परन्तु शृङ्गार की अपेक्षा करुण में करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में तथा विप्रलम्भ शृङ्गार की अपेक्षा शान्त रस में उत्तरोत्तर विशेष चमत्कारजनक अर्थात् आह्लादकारक रूप से रहता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये उपर्युक्त पंक्ति का उल्लेख किया है।

(२६) **"गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता।"**

(आगरा वि० वि० १९६५)

इस वाक्य का आशय यह है कि गुण (माधुर्य, ओज आदि) काव्य के आत्मा रस के धर्म होते हैं और अलङ्कार काव्य के शरीर शब्दार्थयुगल के धर्म होते हैं तथापि

जैसे लोक में शौर्य, औदार्य आदि गुण आत्मा के धर्म होने पर भी गौण (अप्रधान) रूप से आत्मा शरीर में रहते हैं और कहा जाता है कि—**"आकार एवास्य शूरः"**। इसी प्रकार माधुर्य, ओज आदि गुण रस के धर्म होने पर गौणरूप से (अप्रधान रूप से) काव्य के शरीर शब्दार्थयुगल में (गुण) रहते हैं। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये ही उपर्युक्त पंक्ति का उल्लेख मम्मटाचार्य ने किया है कि—

"गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्ति शब्दार्थयोर्मता।

इससे स्पष्ट है कि गुण (माधुर्यादि) रस के धर्म होते हुये भी 'गौणरूप से काव्य के शरीर शब्दार्थयुगल में माधुर्य आदि गुण रहते हैं इसी अभिप्राय को ध्यानस्थ करके काव्य-लक्षण में शब्दार्थों का विशेषण "सगुणौ" लिखा है। अतः गुण, गौण रूप से काव्य शरीर शब्दार्थयुगल के धर्म होते हैं।

(२७) आरोपविषया इवआरोप्यमाणायदा शब्दोपात्तास्तदा समस्तानि वस्तूनि विषयोऽस्येति समस्त वस्तुविषयम्

अथवा

अत्रपादत्रये अन्तर्द्धानिव्यसनरसिकत्वमारोपितधर्म एवेति रूपकपरिग्रहेसाधकमस्ति तत्सङ्कराशङ्का न कार्या। (आगरा वि० वि० १९६६)

रूपक अलङ्कार का विवेचन करते हुये मम्मट ने पहले रूपक के तीन भेदों (१) साङ्गरूपक (२) निरङ्गरूपक और (३) परम्परितरूपक का विवेचन किया है। साङ्गरूपक के (१) समस्त वस्तु विषयक और (२) एकदेश विवर्ति, इन दो भेदों का कथन किया है। निरङ्गरूपक के दो भेद (१) शुद्ध और (२) मालारूपक किया है और परम्परित के (१) श्लिष्ट तथा (२) अश्लिष्ट रूप से दो भेदों का वर्णन किया है, फिर इसमें से प्रत्येक के शुद्ध और मालारूप दो भेद होते हैं। इस प्रकार रूपक के कुल आठ भेदों का विवेचन किया गया है। समस्त वस्तु-विषयक रूपक का लक्षण स्पष्ट करते हुये मम्मट ने लिखा है कि—

"आरोपविषया इव आरोप्यमाणा यदा—समस्त वस्तु विषयम्"।

इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पर आरोप विषय (उपमेय) के समान जब आरोप्यमाण अर्थ (उपमान) का शब्द से कथन किया जाता है तब समस्त वस्तु एवं उपमेय उपमानादि, जिसका विषय होते हैं इस अन्वर्थकता के अनुसार इसको समस्त वस्तु-विषयक रूपक कहा जाता है। जैसे—

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरण धवला बिभ्रती तारकास्थीन्य-
न्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधति चन्द्रमुद्राकपाले,
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन।

प्रस्तुत उदाहरण में रात्रि पर कापालिनी का आरोप वर्णन किया गया है और कापालिनी के अंगों का चन्द्रिका पर, भस्म का ताराओं पर, अस्थियों का चन्द्र पर, कपाल का मृगलाञ्छन पर सिद्धाञ्जन का आरोप किया गया है। इस प्रकार समस्त वस्तु-विषयों का (उपमेय उपमानादि का) आरोप वर्णन होने के कारण यहाँ समस्त वस्तु-विषयक सांगरूपक होता है। कुछ विद्वान् लोग **"रात्रिकापालिकी"** का **"रात्रिरेव कापालिकी"** विग्रह करके रात्रि पर कापालिकी का आरोप मानकर रूपक और **"रात्रिः कापालिकीव"** ऐसा विग्रह करके उपमा अलङ्कार स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रूपक और उपमा अलङ्कार का संदेह उपस्थित् होने से सन्देहलंकार मानना चाहिये।

इस सन्देह अर्थात् शंका का समाधान करते हुये मम्मट ने स्पष्ट किया है कि इस श्लोक के तीन पदों में ज्योतसना आदि में आरोप्याण भस्मत्व आदि सभी उपमेय उपमानादि का शब्द द्वारा कथन किया गया है। क्योंकि अन्तध्वनि व्यसन रसिकता आरोपित अर्थात् उपमान (कापालिकी) का ही धर्म हो सकता है। यह आरोपित कापालिकी का धर्म, रूपक अलंकार ही मान्यता में सहायक हो रहा है। इसलिये यहाँ संदेहसंकर की शंका नहीं करनी चाहिये अपितु समस्त वस्तु-विषयक साङ्गरूपक मानना ही उचित है।

(२८) केचदारोप्यमाणाः शब्दोपात्ताः केचिदर्थसामर्थ्यादिवसेयाः इत्येकदेश विवर्त्तनादेकदेशविर्वात।

आचार्य मम्मट ने एकदेशविवर्ति रूपक का लक्षण स्पष्ट करते हुये कहा है कि जहाँ जिस रचना में कुछ आरोप्यमाण धर्मों का शब्द से कथन किया गया हो और कुछ अर्थों का सामर्थ्य से आक्षेप किया गया हो तो वहाँ उस रचना में एक देशविवर्तिरूपक अलंकार होता है।

यस्यरणान्तः पुरे कुर्वतो मण्डलाग्रताम्।

रससम्मुख्यपि सहसा पराङमुखी भवति रिपु सेना॥

इस श्लोक में जिस वीर पुरुष राजा को युद्धस्थल रूपी अन्तःपुर में खड्गरूपी लता को हाथ में ग्रहण करते ही युद्धोत्साह आगे बढ़ती हुई शत्रु सेना सहसा पराङ्-मुख अर्थात् पीछे को ही लौट जाती है। यहाँ रणस्थल पर अन्तःपुर का आरोप शब्द से कहा गया है और खड्गलता पर नायिका का शत्रु सेना पर प्रतिनायिका का आरोप आक्षिप्त किया गया है। अतः उपर्युक्त (निर्दिष्ट) एकदेशविवर्ति रूपक के लक्षण के अनुसार यह श्लोक एकदेश विवर्ति रूपक का उदाहरण माना जाता है।

(२९) अनेकार्थस्यशब्दस्यवाचकत्वेनियन्त्रिते।

संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतरञ्जनात्

(आगरा वि० वि० १९६६)

आचार्य मम्मट ने अभिधामूला व्यंजना को प्रतिपादित करते हुये कहा है कि जहाँ पर अनेकार्थक शब्दों के अनेक अर्थ संयोग द्वारा अभिधा से प्रासंगिक एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर भी वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान विलक्षण अर्थ की प्रतीति सहृदयों को होती है। इस विलक्षण अर्थ की प्रतीति से एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर जिस व्यापार से होती है उसे अभिधा व्यंजना कहते हैं। परन्तु वे संयोगादि क्या हैं जिनके द्वारा अभिधा से अनेकार्थ शब्दों के अर्थ एक अर्थ में नियन्त्रित होते हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिये मम्मट ने "वाक्यपदीय" से निम्न दो कारिकाओं को उद्धृत किया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरण लिङ्गशब्दस्यान्यस्य सन्निःधि ॥
सामर्थ्यमौचिती देश: कालोव्यक्ति स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

वाक्यपदीय की इन दो कारिकाओं में कथित संयोग आदि (१४) के द्वारा अनेकार्थक शब्दों में अनेक अर्थ एक अर्थमें अभिधा से नियन्त्रित हो जाते हैं। संयोगादि १४ कारणों की संख्या निम्न प्रकार है।

(१) संयोग, (२) विप्रयोग अर्थात् वियोग, (३) साहचार्य, (४) विरोधिता (५) अर्थः, (६) प्रकरण, (७) लिङ्ग, (८) अन्य सन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) कला, (१३) व्यक्ति, (१४) स्वरादि।

(१) संयोग—"सशंखचक्रो हरिः" यहाँ शंख, चक्र के संयोग से हरि शब्द के अनेक अर्थ अभिधा के अर्थ विष्णु में नियन्त्रित हो जाते हैं।

(२) विप्रयोग (वियोग) **"अशंखचक्रो हरिः"** यहाँ भी शंखचक्र के वियोग के कारण अभिधा से हरि शब्द के अनेक अर्थ एक अर्थ विष्णु में नियन्त्रित हो जाते हैं।

(३) साहचर्य—रामलक्ष्मणौ यहाँ रामलक्ष्मण के साहचर्य सम्बन्ध के कारण राम के अनेक अर्थ अभिधा से एक अर्थ (दशरथ पुत्र राम में) नियन्त्रित हो जाते हैं।

(४) विरोधिता—"रामार्जुनगतिस्तयोः" यहाँ विरोध के कारण राम और अर्जुन के अनेक अर्थ अभिधा से एक अर्थ राम से परशुराम में और अर्जुन से कार्त्त-वीर्य में नियन्त्रण हो जाते हैं।

(५) अर्थ—"स्थाणुं भज भवच्छिदे" यहाँ अनेकार्थ स्थाणु शब्द के कारण अभिधावृत्ति एक अर्थ (शिव में) नियन्त्रित कर दिया गया है।

(६) प्रकरण—"सर्वं जानातिदेवः" यहाँ प्रकरण से अनेकार्थ देव शब्द का अभिधा द्वारा एक अर्थ (आप) में नियन्त्रित हो जाना है।

(७) **लिङ्ग—"कुपितोमकरध्वजः"** यहाँ अनेकार्थक मकरध्वज शब्द का अभिधा द्वारा एक अर्थ में (कामदेव अर्थ में) नियन्त्रित हो जाता है।

(८) **अन्य शब्दसान्निध्य—"देवस्य पुराराति"** यहाँ पुराराति शब्द के सान्निध्य के अनेकार्थक देव शब्द के अनेक अर्थ अभिधा द्वारा एक अर्थ में (शंकर में) नियन्त्रित हो जाते हैं।

(९) **सामर्थ्य—"मधुनामत्तः कोकिला"** यहाँ अनेकार्थक मधु शब्द सामर्थ्य से अभिधा के द्वारा एक अर्थ में (बसन्त ऋतु के अर्थ में) नियन्त्रित हो जाता है।

(१०) **औचित्य—"पातुवो दयितामुखम्** यहाँ अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य से अभिधा के द्वारा एक अर्थ **"सामुख्य"** में नियन्त्रित हो जाता है।

(११) **देश—"भात्यत्रपरमेश्वरः"** यहाँ देश अर्थात् स्थान की विशेषता से अनेकार्थक परमेश्वर शब्द का अभिधा के द्वारा एक अर्थ में (राजा के अर्थ में) नियन्त्रण हो जाता है।

(१२) **काल—"चित्रभानुर्विभाति"** यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द का काल की विशेषता से दिन के कारण अभिधा के द्वारा एक अर्थ में (सूर्य में) नियन्त्रण हो हो जाता है और रात्रिरूप काल के कारण अग्नि में नियन्त्रित हो जाता है।

(१३) **व्यक्ति**—यहाँ व्यक्ति से तात्पर्य पु० लिं०, स्त्री लिं०, न० पु० लिं० वाचक शब्दों से है। अतः "मित्र भाति" यहाँ अनेकार्थक चित्र शब्द का नपुंसक-लिंग की विशेषता से अभिधा के द्वारा एक अर्थ (सुहृत) में नियन्त्रित हो जाता है।

(१४) **स्वरादि**—उदात्त आदि स्वरों का विवेचन वेदों में प्राप्त होने से स्वर के उदाहरण वेदों में ही **"इन्द्रशत्रुर्वद्धस्व"** इत्यादि वेदमन्त्रों में प्राप्त होते हैं। काव्य में स्वर के उदाहरण नहीं प्राप्त होते हैं। आदि शब्द से आशय अंगों के द्वारा किये जाने वाले संकेतों से है। इसके उदाहरण **"एतावन्मात्रस्तनिका आदि"** है।

(३०) व्यंग्येनरहिता रूढौ, सहिता तु प्रयोजने।

(मेरठ वि० वि० १९६९, ७१)

प्रस्तुत पंक्ति के द्वारा मम्मट ने लक्षणा के (१) रूढि लक्षण और (२) प्रयोजनवती लक्षणा इन दोनों के भेदों में अन्तर को स्पष्ट करते हुये कहा है कि—

"व्यंग्येनरहिता रूढौ, सहिता तु प्रयोजने" **(मेरठ वि० वि० १९६९,७२)**

इसका आशय यह है कि जब मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग से रूढि अथवा प्रयोजन को मानकर लक्षणा की जाती है तब जहाँ रूढि को मानकर लक्षणा होती है तो रूढि-लक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता है और जब प्रयोजन को मानकर लक्षणा की जाती है, तो वहाँ व्यंग्यार्थ अवश्य होता है।

रूढि-लक्षणा का उदाहरण—

"कर्माणि कुशलः"—यह रूढि लक्षणा का उदाहरण माना गया है। क्योंकि

कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (कुशान लाति) विभिन्न कर्मों में वाधित हो रहा है अत: मुख्यार्थ (कुशों को लाने वाला) के बाध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित 'चतुर अर्थ में रूढि अर्थात् परम्परा से प्रसिद्ध को कारण मानकर लक्षणा होती है। यहाँ व्यंग्यार्थ कुछ नहीं है केवल रूढि अर्थात् प्रसिद्धि को मानकर लक्षणा की गई है। इसीलिये इसको रूढि-लक्षणा और 'कुशल:' को रूढिलक्षणा का उदाहरण कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि रूढि लक्षणा में व्यंग्यार्थ नहीं होता है।

प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

"गंगायां घोष:"—यह प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण माना जाता है क्योंकि यहाँ गंगा पद अपने जलधारा रूप अर्थ में बस्ती को धारण करने में समर्थन होने के कारण मुख्यार्थ बाध उपस्थित हो जाता है तो फिर शीतलता पावनता को प्रयोजन मानकर मुख्यार्थ (गंगा) से सम्बन्धित तट में लक्षणा की जाती है। इस प्रकार शीतलता, पावनतारूप प्रयोजन को मानकर लक्षणा होने के कारण ही इसे प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। अत: यह स्पष्ट है कि शीतलता, पावनता आदि व्यंग्यार्थ से युक्त लक्षणा को प्रयोजनवती लक्षणा कहते हैं। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये मम्मट ने "सहिता तु प्रयोजने" लिखा है। अत: जहाँ किसी व्यंग्यार्थ की सिद्धि के लिये लक्षण की जाती है वहाँ व्यंग्य से युक्त होने के कारण प्रयोजनवती लक्षणा होती है।

(३१) "अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि:।" **(मेरठ वि० वि० १९६९)**

प्रथम मम्मटाचार्य ने ध्वनि के दो भेदों का विवेचन किया है।

(१) लक्षणामूलक अथवा अविवक्षित वाच्य ध्वनि।

(२) अभिधामूलक अथवा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि—यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग्य की प्रधानता प्रतीत हो रही हो और वाच्यार्थ अविवक्षित हो गया हो तो वहाँ अविवक्षित वाच्य ध्वनि काव्य होता है। इस अविवक्षित वाच्यध्वनि के (१) अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि, (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि ये दो भेद होते हैं।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि जहाँ जिस रचना में कहीं तो वाच्यार्थ अविवक्षिता होने के कारण किसी अन्य अर्थ में संक्रमित (परिणत) हो जाता है तो वहां उस रचना में अर्थान्तर संक्रमित ध्वनिवाच्य होती है। जैसे—

'त्वामस्मिवच्मिविदुसाम्' इत्यादि पद्य में श्रोता को लक्ष्य करके कहे 'अस्मि' और 'वच्मि' क्रिया पद अनुपयुक्त होने के कारण अन्य अर्थ में संक्रमित होकर अस्मि का यथार्थ वक्ता (आप्तोऽहम्) मैं 'वच्मि' का उपदेश देता हूँ। इस लक्षणाजन्य लक्ष्यार्थ से "हितकारिता" व्यञ्जित होने के कारण इसे अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण मानते हैं।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि—कहीं-कहीं किसी रचना में वाच्यार्थ के अनुपयुक्त होने पर अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि कहते हैं जैसे—

उपकृतं बहुतत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे ? सुखित मास्वततः शरदां शतम् ॥

प्रस्तुत पद्य में कोई अपकारी के प्रति विपरीत लक्षणा से कहता है, मित्र आपने बहुत उपकार किया है। आपसे इस विषय में क्या कहूँ—आपने अपनी सज्जनता को प्रकट कर दिया है। इस प्रकार ऐसा ही आचरण करते हुये तुम सैकड़ों बर्षों तक सुख से जीवित रहो। यहाँ प्रकरणादि के द्वारा जिसको लक्ष्य करके कहा जा रहा है वह अपकारी ज्ञात है इसलिये उपकार आदि की प्रशंसारूप मुख्यार्थ बाधित होकर विपरीत अर्थ को लक्षित करता है अर्थात् लक्षणा के द्वारा "उपकृतम् शब्द अपकृतम्" के अर्थ में परिणित (संक्रमित) हो जाता है। इसी प्रकार सुजनता का दुजनता, सखे का शत्रु, और सुखितम् का दुखितम् आदि लक्ष्यार्थ होते हैं। इस प्रकार व्यन्जना के द्वारा अपकार की अतिशयिता व्यंजित हो रही है। उपकृतम् आदि अपकृतम् आदि अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ में परिणत होने के कारण इसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि का उदाहरण मानते हैं।

(३२) अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्यम् ।

(मेरठ वि० वि० १९६९, ७१)

गुणीभूत व्यंग्य अथवा मध्यमकाव्य के आठ भेदों का प्रतिपादन करते हुये मम्मट ने गुणीभूत काव्य द्वितीय भेद "अपराङ्गव्यंग्य" का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि—

अपराङ्ग-व्यङ्ग्य—अपर अर्थात् रस, भाव आदि अथवा वाच्यार्थ को वाक्य का तात्पर्यरूप प्रधान अर्थ होता है उसका अंग कोई रस, भाव आदि ही अपराङ्ग गुणीभूतव्यंग्य होता है जैसे—

अयं स रशनोत्कर्षी पनिस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरूजधनस्पर्शी नीवी स्रंसन करः ॥

प्रस्तुत श्लोक श्रङ्गार रस व्यंग्य है जो करुण रस का अंग हो गया है। युद्धस्थल में कटकर गिरे हुये भूरिश्रवा के हाथ को लेकर उसकी (भूरिश्रवा की) पत्नी विलाप कर रही हैं। इस प्रसंग में करुणरस प्रधान है प्रियनाश से उत्पन्न शोक की प्रधानता है। भूरिश्रवा की पत्नी के द्वारा पूर्वानुभूतनीवीस्रंसन आदि (शृंगार-वर्णन) का स्मरण शोक का ही पोषक है। इसलिये यहाँ श्रंगार रस करुण रस का अंग ही है और अपरस्यांगरूप गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण है।

(३३) "दीप्तीः पुनः पुनर्यथा कुमारसम्भवे रति विलापे।'

मम्मट ने काव्य के दोषों का विवेचन करते हुये नित्य रसदोष का विस्तार से वर्णन किया है। ये रस दोष १३ प्रकार के होते हैं।

रस दोषों के भेद—(१) व्यभिचारी भाव, (२) रस, (३) स्थायीभावों का स्वशब्द के कथन करना, (४) अनुभाव, (५) विभाग की कष्टकल्पना के द्वारा अभिव्यक्ति (६) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, (७) बार-बार एक ही रस भावादि की दीप्ति, या असमय में रस का, (८) विस्तार या, (९) विच्छेद (विराम) (१०) अंग या अप्रधान का अत्यन्त विस्तार (११) अंगी अर्थात् प्रधान वर्ण्य रस की उपेक्षा (१२) प्रकृति अर्थात् पात्रों का विपर्यय (१३) अनङ्ग (रस के अनुपकारक) का वर्णन करना। इस प्रकार साक्षात् रस भाव आदि के तेरह दोष होते हैं। इनमें बार-बार दीप्ति "एक ही रस अथवा भाव आदि की दीप्ति" का उदाहरण कालिदास द्वारा विरचित कुमारससम्भव में "रतिविलाप" अर्थात् जहाँ एक ही रस, भाव आदि का बार-बार अतिशय वर्णन किया जाये तो वहाँ "रस भाव आदि की बार-बार दीप्ति" नामक दोष होता है। कुमारसम्भव में शिव के द्वारा कामदेव के भस्म किये जाने पर स्मर-पत्नी रति पति-विरह में संतप्त होकर पुनः-पुनः अतिशय करुण विलाप करती है। यह करुण रस का पुनः-पुनः अतिशय विलाप बार-बार दीप्ति नामक दोष माना जाता है।

(३४) "अचल स्थितयो गुणाः'। **(मेरठ वि० वि० १९६९)**

अथवा

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥

आचार्य मम्मट ने गुण का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करते हुये उपर्युक्त कारिका को लिखा है जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार शौर्य, औदार्य आदि गुण जीवात्मा के धर्म होते हैं और आत्मा के उत्कर्ष को करने वाले होते है उसी प्रकार ओज, प्रसार आदि गुण काव्य की आत्मा अंगी रस के धर्म होते हैं और रस का उत्कर्ष करने वाले होते हैं तथा रस के साथ नियत रूप से रहने वाले होते हैं अर्थात् मम्मट ने गुण और अलंकार का भेद प्रस्तुत करने के लिये ही गुण के दो विशेषण (१) "उत्कर्ष हेतवः" (२) "अचलस्थितयो गुणाः" दिया हैं। 'उत्कर्ष हेतवः' यह विशेषण गुण को दोषों में पृथक् कर देता है और रस के उत्कर्षाधायक गुण होते हैं यह हो रहा है। परन्तु रस में उपकारक अलंकार भी तो होते हैं। अतः अलंकार और गुण में अन्तर स्पष्ट करने के लिये 'रसस्यांगिन' धर्माः और 'अचलस्थितयो गुणा' दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि—गुण रस के उपकारक होते हैं। (१) जो नियम से रस के साथ रहते हैं अथवा जो गुण रस के साथ रहते हुये अवश्यमेव रस उपकारक होते हैं। अलंकार न तो नियम से रस के साथ रहते हैं और न नियम से रस के उपकारक होते हैं। इस प्रकार गुण और अलंकार का अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

अतः गुण रस के उत्कर्ष करने वाले रस के धर्म होते हैं और सदा रस के साथ रहने के कारण अचल स्थिति वाले हैं। मम्मट ने अपनी अद्भुत प्रतिभा से एक गुणस्वरूप विवेचन के प्रसंग से दो कार्यों का (१) गुण लक्षण (२) गुण का अलंकार से भेद प्रदर्शित किया है।

(३५) "वीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च"।

(मेरठ वि० वि० १९६९)

गुणों के लक्षण वर्णन करते हुये ओज गुण का लक्षण स्पष्ट करते हुये मम्मट ने लिखा है कि—

"दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थिति"

अर्थात् दीप्तिरूप चित्त को विकसित करने वाले हेतु को ही ओजगुण कहते हैं, इस ओजगुण की स्थिति वीर रस में होती है।

दीप्ति चित्त की एक विशेष प्रकार की वृत्ति है, जिसके कारण चित्त विकसित सा हो जाया करता है। यह दीप्ति चित्तद्रुति से भिन्न प्रकार की एक चित्त की विशेष दशा होती ह जो प्रतिकूल विषयों के प्रति उन्मुख रहती है, इस दीप्ति का उत्पादक जो रस का धर्म होता है उसे ओजगुण कहते हैं।

यह ओज गुण वीर रस के समान वीभत्स तथा रौद्र रस में भी विद्यमान रहता है किन्तु वीर रस की अपेक्षा वीभत्स रस में चित्त की दीप्ति अधिक होती है, अतः वीर रस की अपेक्षा वीभत्स रस में अधिक ओजगुण माना जाता है, इसी प्रकार वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में अधिक ओजगुण होता है, वास्तव में बात यह है कि वीर रस में त्याग की उत्कृष्ट अभिलाषा होती है और रौद्र रस में तो अपकारी को तुरन्त मार डालने की इच्छा होती है, इस प्रकार क्रमशः चित्त की दीप्ति अधिक होती जाती है इसलिये वीर रस की अपेक्षा वीभत्स में और वीभत्स रस की अपेक्षा रौद्र रस में उत्तरोत्तर ओज गुण की अधिकता प्राप्त होती है।

(३६) "अयमेव भेदोभेद हेतुर्वायद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च"

ध्वनि प्रस्थापनाचार्य मम्मट ने व्यञ्जना-विरोधी मीमांसकों के मतों का खण्डन करके वाच्यार्थ और व्यंग्यार्य के भेदक सात कारणों का विवेचन किया है। वे सात कारण निम्नलिखित हैं—

(१) स्वरूप, (२) काल, (३) आश्रय, (४) निमित्त, (५) कार्य, (६) संख्या (७) विषय।

(१) **स्वरूप-भेद**—निःशेषच्युत इत्यादि उदाहरणों निषेध और विधिरूप से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद प्राप्त होता है।

(२) **काल-भेद**—वाच्यार्थ बोध के अनन्तर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसलिये काल भेद स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

(३) **आश्रय-भेद**—यद्यपि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का आश्रय शब्द ही है तथापि आश्रय-भेद होता है। क्योंकि वाच्यार्थ का आश्रय वाक्य होता है, और व्यंग्यार्थ का आश्रय तो, शब्द 'शब्द का एक अंश' (प्रकृति, प्रत्यय आदि) शब्दार्थ, वर्ण, रचना-शैली आदि भी होते हैं। अत: दोनों में आश्रय-भेद होता है।

(४) **निमित्त-भेद**—वाच्यार्थ के कारण व्याकरण, कोश, आदि शब्दानुशासन के द्वारा प्रतिपादित नियमों से युक्त पदसमूह आदि हैं। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति सहृदयों को प्रकरण, वक्ता आदि की विशेषता से निर्मल प्रतिभा के साथ-साथ शब्दानुशासन आदि का ज्ञान, कारण होते हैं। अत: सभी व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ इन दोनों के कारणों में अन्तर स्पष्ट रूप से सिद्ध हो रहा है।

(५) **कार्य-भेद**—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के कार्य अर्थात् प्रभाव में स्पष्ट भिन्नता प्राप्त होती है। वाच्यार्थ के ज्ञाता को "बोद्धा" और व्यंग्यार्थ के ज्ञाता को सहृदय कहते हैं अत: वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के कार्य से स्पष्ट भेद अनभूत होता है, इसके अतिरिक्त वाच्यार्थ से केवल बोध होता है चमत्कार नहीं। जब कि व्यंग्यार्थ में चमत्कृति होती है।

(६) **संख्या-भेद**—वाच्यार्थ तो बोद्धा की दृष्टि में एक ही होता है और व्यंग्यार्थ सहृदय श्रोता की निर्मल प्रतिभा के कारण प्रसंगवश बहुसंख्या वाला होता है, जैसे—"गतोऽस्तमर्क" में वाच्यार्थ "सूर्य छिप गया" यह केवल एक अर्थ श्रोता को ज्ञात होता है, परन्तु सदहृदय को देश, काल, प्रकरण आदि के भेद से व्यंग्यार्थ "गायों को बाँधों", दूकान बन्द करो, बाहर मत जाओ, अभिसार का समय है, बैठकर पढ़ो, दूध निकालो, इत्यादि अनेक अर्थ होने कारण वाच्य और व्यंग्य में संख्या भेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

(७) **विषय-भेद**—के प्रसंग से यह पद्य प्रस्तुत किया है अर्थात् वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विषय भेद भी प्राप्त होती है जैसे—

कस्या वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया: सव्रणमधरम्।
सभ्रमर पद्ममाघ्रायिणी वारित वामे सहस्वेदानीम्॥

प्रस्तुत श्लोक में नायिका के अधरव्रण का कारण उपपति है किन्तु इस नायिका की सखी अपनी सखी की पति की भर्त्सना आदि से रक्षा करती हुई कहती है कि प्रिया के अधरव्रण को देखकर किसके पति को क्रोध नहीं होगा? अपितु सभी को होगा, किन्तु तूने मेरे द्वारा निषेध करने पर भी भ्रमरयुक्त कमल को सूंघ लिया तो फिर अब इसका फल भोगने के लिये तैयार हो जा। वहाँ वाच्यार्थ नायिका-विषयक है और व्यंग्यार्थ यह निरपराध है इसके अधर का व्रण भ्रमरयुक्त कमल सूँघने से हुआ है। कोई अन्य शंका नहीं करनी चाहिये वह व्यंग्यार्थ पति-विषयक है, इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के भेदक सात कारणों का विवेचन करके स्पष्ट

रूप से प्रतिपादन किया है कि वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ सर्वथा भिन्न है। यदि कोई (मीमांसक आदि व्यञ्जना विरोधी) इतने पर भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद नहीं स्वीकार करते तो फिर वे नील, पीत आदि में भी न करें। इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेदक सात कारणों से स्पष्ट किया है।

(३७) भ्रमधार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्यमारितः।
गोदा नदी कच्छकुञ्जवासिना दृप्त सिंहेन॥

(मेरठ वि० वि० १९७३)

व्यञ्जना-विरोधी महिमभट्ट व्यंग्यार्थ का विरोध करते हुये व्यंग्यार्थ को अनुमान विषय बताते हुये व्यंजना को अमान्य घोषित किया है। 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थ में महिमभट्ट ने व्यञ्जना को अनुमान के अन्तर्गत ही मान लिया है। अतः उनके मत से व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है महिमभट्ट के व्यञ्जना विरोधी मत का खण्डन करने के लिये मम्मट ने "भ्रमधार्मिक" इत्यादि पद्य को उद्धृत करते हुये कहा है कि—

महिमभट्ट के अनुसार यह गोदावरी नदी का तट भीरु (डरपोक) पुरुष के भ्रमण के लिये उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ भय का कारण सिंह की उपस्थिति है, अतः भीरु पुरुष के भ्रमण का निषेध अनुमान के द्वारा हो जायेगा। परन्तु मम्मट का कहना है कि भट्ट का यह हेतु (सिंहोपलब्धि) सत् हेतु नहीं है, अपितु असत् हेतु होने के कारण हेत्वाभास है। इसलिये भ्रम विधिरूप वाच्यार्थ से साभ्रम निषेध रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति अनुमान से नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुमान के हेतु सत् हेतु होने चाहियें। जबकि यहाँ असत् हेतु तो सत् नहीं है, असत् हेतु तो हेत्वाभास होता है। इस लिये अनुमान से व्यंग्यार्थ "माभ्रम" की प्रतीति नहीं होगी यदि आप कहें असत् कैसे हैं ! तो इसका समाधान यह है कि कुत्ते से डरने वाला व्यक्ति गोदावरी तट पर भ्रमण योग्य नहीं है। यह कहने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि—(१) वह स्वभाव से डरपोक है (२) या स्वभाव से वीर है या (३) साधारण स्वभाव वाला है ? यदि वह स्वभाव से डरपोक है, तो महिमभट्ट का हेतु सत्य विचार अथवा अनैकान्तिक है क्योंकि अधिकारी या गुरु आदि की आज्ञा से डरपोक स्वभाव वाला व्यक्ति भी भय, के स्थानों पर जाता हुआ देखा जाता है। यदि साधारण स्वभाव वाला है तो भी यही दोष होता है, यदि स्वभाव से वीर है तो विरुद्ध हेतु है। क्योंकि कुत्ते के स्पर्श से डरने वाला व्यक्ति वीर होने के कारण सिंह से नहीं डरता है। अपितु उत्साह से सिंह प्रदेश में जाता है। इसके अतिरिक्त भय का कारण सिंहोपलब्धि स्वयं असिद्ध है क्योंकि गोदावरी के तट पर सिंह की उपस्थिति प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं है। अपितु एक स्वैरिणी स्त्री के कथन से सिंह की उपस्थिति का ज्ञान हो रहा है जो प्रामाणिक नहीं है, इस प्रकार सिंहोपलब्धि रूप हेतु

गोदावरी तट में (पक्ष में) निश्चित न होने के कारण यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। जब हेतु ही असिद्ध है तो साध्यसिद्धि (माभ्रम) कैसे होगी ? अतः यहाँ अनुमान से भ्रमण का निषेध किया जा सकता है। भ्रमण रूप कार्य के निषेध ज्ञान के लिये व्यञ्जना मानने के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं है। इस प्रकार "निःशेषच्युत-चन्दनम्" इत्यादि स्थलों में भी अनुमान से साध्यसिद्धि (व्यंग्यार्थ की प्रतीति) व्यंजना अवश्य माननी पड़ेगी। व्यंजना का अनुमान में अन्तर्भाव कभी नहीं किया जा सकता है।

(३८) "सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।"

(मेरठ वि० वि० १९६९)

प्रस्तुत पंक्ति द्वारा आचार्य मम्मट ने प्रतिकूल विभाव, अनुभाव आदि के परिहार का विवेचन करते हुये कहा है कि—प्रसंगोपात्त (प्रकृत) रस के विरोधी विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि का बाधरूप में वर्णन करने पर रसदोष नहीं होता है, अपितु प्रकृत रस का पोषक होने के कारण गुण होता है। जैसे—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्त क्षेत्रियरोगं सखि ? हृदन्तः॥

प्रस्तुत उदाहरण में पाण्डुता, दुर्बलता, आदि करुण और विप्रलम्भ शृंगार दोनों रसों के समान अनुभावों का कथन किया गया है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का विचार है कि—यहाँ पाण्डुता आदि अनुभवों का वर्णन होने से अभिव्यक्त व्यक्ति करुण रस का संचारीभाव है। इसलिये प्रकृतरस वियोग शृंगार के विरुद्ध करुण रस का अंग है परन्तु उसका विप्रलम्भ में भी समावेश करने से विप्रलम्भ का अंग हो गया है तथा यहाँ करुण रस के अनुकूल व्याधि का वर्णन विप्रलम्भ शृंगार में दोष नहीं है।

मम्मट ध्वनिकार के इस रसदोष परिहार को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि—करुण रस और विप्रलम्भ शृंगार रस में अनुभावों की समानता होने के कारण इस पद्य में पाण्डुता आदि का कथन दोष ही नहीं होता है तो फिर परिहार की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार **"सत्यं मनोरमा रामा"** इत्यादि उदाहरण में शृंगार को शान्त रस के प्रतिपादक रूप में बाध्यत्वेन वर्णन किया है। अतः रस-दोष (विरोध) नहीं होता है।

(३९) "रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः।"

प्रस्तुत पंक्ति के द्वारा ध्वनि का गौरव स्पष्ट करते हुये मम्मट ने कहा है कि ध्वनि के तीन भेद होते हैं—

(१) वस्तुध्वनि, (२) अलंकारध्वनि,
(३) रसादिध्वनि।

इन तीन प्रकार की ध्वनियों में प्रथम तो (१) वस्तु और अलंकारध्वनि तो कभी वाच्य हो जाती है, परन्तु रसादिध्वनि अर्थात् रस, भाव आदि कभी भी स्वप्न में भी वाच्य नहीं होते हैं। इसी अभिप्राय को व्यवत करते हुये लिखा है कि—

'रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः"

इसका तात्पर्य यह है कि रस, भाव, रसाभास, भावशबलता आदि तो कभी भी स्वप्न में भी वाच्य नहीं होते हैं। क्योंकि शब्दों के द्वारा साक्षात् भाव आदि का कथन करने पर भी विभावादि के प्रयोग के अभाव में रसादि की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसके विपरीत रस का शब्द से कथन न करने पर भी विभावादि के प्रयोग से रस की अनुभूति होती है।

अतः इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अन्वय व्यतिरेक प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है कि रसानुभूति के लिये विभाव, अनुभाव आदि का कथन करना आवश्यक है। क्योंकि विभाव, अनुभाव आदि के अभाव में रसानुभूति सम्भव नहीं हो सकती है। रसादि शब्दों का कथन रसानुभूति के लिये अपेक्षित नहीं है। यदि इसके विपरीत कोई रस, भाव आदि का शब्द से कथन करता है तो काव्य में रसदोष हो जाता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मम्मटाचार्य ने उपर्युक्त पंक्ति को कहा है। अतः रसादि ध्वनि स्वप्न में कभी वाच्य नहीं हो सकती है।

कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनोलोके तानि चेन्नाट्य काव्ययोः।
विभावाऽनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

प्रस्तुत कारिकाओं के माध्यम से आचार्य मम्मट ने यह सिद्ध किया है कि लोक-व्यहार में स्थायी रति आदि (स्त्री विषयक प्रेम आदि) तथा जो हृदय के व्यापार को पुष्ट करते हैं वे स्त्री, पुरुष, चन्द्रोदय आदि और रति आदि के कारण उत्पन्न शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से किये जाने वाले कटाक्ष भुजोत्क्षेप आदि और रत्यादि (प्रेम के सहायक कारण, निर्वेद, ग्लानि, लज्जा, स्वेद आदि) व होते हैं। इन लौकिक प्रेम आदि कारण, कार्य, और सहकारी कारणों का यदि काव्य में वर्णन किया जाये तो इनको विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारीभाव कहते हैं। इन्हीं विभाव, अनुभाव, आदि के द्वारा सहृदय के हृदय में पूर्व-पूर्व जन्मकृत संस्कारों से स्थित रति आदि स्थायी भाव ही रसरूप में अभिव्यक्त होते हैं।

इस प्रकार लोक-व्यवहार में आने वाले प्रेम आदि स्त्री, पुरुष, चन्द्रोदय एवं प्रदर्शन संचालन आदि तथा ग्लानि, लज्जा, स्वेद आदि का जब नाटक आदि काव्य में नायक नायिका आदि के रूप में वर्णन किया जाता है तो ये लोक में वर्णित आदि काव्य में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव अथवा संचारीभाव कहलाते

हैं और इन विभावादि के द्वारा सहृदय के हृदय में रति आदि स्थायीभाव रसरूप में अभिव्यक्त होते हैं अर्थात् स्थायीभाव ही रस होते हैं। अतः मम्मट ने भरतमुनि के रससूत्र की व्याख्या इन दो कारिकाओं के द्वारा की है। मम्मट की इस रस-परिभाषा में अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बत हो रहा है।

(४०) "अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः।

अथवा

जटाभिमाभिरित्यत्रोपमा, रूपकमुत्प्रक्षा।

श्लेश्चेति चत्वारोऽत्रपूर्वं वदङ्गाङ्गितया प्रतीयन्ते॥

आचार्य मम्मट ने अंगांगिभाव संकरालंकार का स्वरूप स्पष्ट करते हुये कहा है कि जहाँ पर अनेक अलंकार स्वतन्त्र रूप से न स्थित होकर परस्पर अंगांगिभाव से स्थित हों तो वहाँ संकर अलंकार होता है। जैसे—

जटाभिर्माभिः करघृतकलङ्काक्षवलयो,

वियोगिव्यापत्तेरिव कलित वैराग्य विशदः।

परिप्रेङ्खत्तारा परिकरकपलाङ्कित तले,

शशीभस्मापाण्डुः पितृवन इव व्योम्नि चरित॥

प्रस्तुत उदाहरण में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, और श्लेष परस्पर सापेक्ष होने के कारण अंगांगिभाव से स्थित है। "वैराग्य विशदः" में उत्प्रेक्षा, श्लेष का अंग है। तभी "विषयविनाशाद इव कलितं यत् वैराग्यं तेन विशदः" व्युत्पत्ति के अनुसार द्वितीय अर्थ की उत्पत्ति होती है। यही "श्लेष" रूपक तथा उपमा का अंग हैं। क्योंकि इसके द्वारा अवगत वैराग्य के गौरव से ही जटाधारण और अक्षमाला धारण के सम्बन्ध की संगति होती है। इसी प्रकार तारापरिकर इत्यादि रूपक "पितृवन इव" इस उपमा का अंग होता है। क्योंकि रूषित कपाले को आधार मानकर सादृश्यता की प्रतीति होती है।

इस प्रकार इस श्लोक में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और श्लेष ये चारों अलंकार परस्पर सापेक्ष होने के कारण अंगांगिभाव को व्यक्त करने के कारण अंगांगिभाव संकरालंकार होता है।

"एकस्य च गृहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः"

जहाँ जिस रचना अथवा श्लोक में किसी एक अलंकार को स्वीकार करने मे साधक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हों और दूसरे अलंकार को मानने में बाधक प्रमाण प्राप्त हो रहे हों तथा दो या दो से अधिक अलंकारों की उपस्थिति में किसी एक

अलंकार का निश्चय न हो रहा हो तो वहाँ उस रचना अथवा श्लोक में सन्देह संकरालंकार होता है। जैसे—

यथा गम्भीरो यथा च रत्ननिर्भरो यथा च निर्मलच्छा।
तथा किं विधिना एव सरस पानियो जलनिधिर्न कृतः ॥

प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि सागर जैसा गम्भीर है और जैसे निर्मल रत्नों की शोभा से सम्पन्न है वैसा माधुर जल वाला ब्रह्मा ने नहीं बनाया है यहाँ प्रस्तुत सागर के वर्णन से अप्रस्तुत किसी धनी व्यक्ति की प्रतीति होने से समासोक्ति अलंकार होता है ? अथवा सागर वर्णन को अप्रस्तुत स्वीकार करके सागर के समान गम्भीर गुणों से युक्त किसी प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति होने से अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है ? इस प्रकार यहाँ समासोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा नामक दो अलंकारों का सन्देह बना रहने के कारण सन्देहसंकरालंकार- होता है। अतः समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा का निश्चय न हो सकने के कारण सन्देहसंकर अलंकार माना जाता है यह सर्वथा उचित ही है।

—: ● :—

अलंकार-विभाग

प्रमुख अलंकारों के अन्तर

(१) उपमा और उत्प्रेक्षा का अन्तर

सर्वप्रथम उत्प्रेक्षा में मन्ये, शङ्के ध्रुवं, प्रायो, नूनम् इत्यादि का प्रयोग होता है। किन्तु उपमा में इनका प्रयोग नहीं होता है। 'इव' शब्द का प्रयोग उपमा तथा उत्प्रेक्षा दोनों में होता है तथापि उपमा और उत्प्रेक्षा में यह भेद माना जाता है कि उत्प्रेक्षा में "इव" शब्द का प्रयोग प्रायः क्रिया के साथ होता है जैसे—

'लिम्पतीवतमोऽङ्गानिवर्षतीवाञ्जनं नमः ।'

इत्यादि पद में लिम्प तथा वर्ष् धातु के साथ 'इव' का प्रयोग होने के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार माना जाता है। इसके विपरीत उपमा में 'इव' का प्रयोग संज्ञा के साथ होता है जैसे—'चन्द्र इव मुखम्' यहाँ संज्ञावाचक चन्द्र के साथ इव का प्रयोग होने से उपमा अलङ्कार होता है।

उपमा सादृश्य मूलक होता है जबकि उत्प्रेक्षा सम्भावना मूलक होता है। अर्थात् उपमा अलङ्कार में उपमानलोक-प्रसिद्ध होने के कारण सादृश्यता का द्योतक होता है। किन्तु उत्प्रेक्षा उपमान सम्भावनामूलक होने के कारण कल्पना प्रसूत होता है। अतः उपमा का 'इव' सादृश्य द्योतक और उत्प्रेक्षा का इव सम्भावना को प्रकट करता है। जबकि उत्प्रेक्षा **"अस्याः मुखमपरश्चन्द्र इव"** यहाँ 'इव' शब्द कविकल्पित चन्द्र का द्योतक है लोक-प्रसिद्ध चन्द्र सूचक नहीं है। इस प्रकार जब 'इव' सादृश्य मूलक होते हुए लोक-प्रसिद्ध उपमान की सादृश्यता का उपमेय द्योतित करता हो तो वहाँ उपमा अलंकार होता है। परन्तु जब 'इव' शब्द कविकल्पित उपमान को द्योतिक करता हुआ सम्भावना को व्यक्त कर रहा हो तो वहां उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। इस प्रकार दोनों में अन्तर स्पष्ट सिद्ध हो रहा है।

(२) रूपक और अतिशयोक्ति में अन्तर

अतिशयोक्ति अलंकार में उपमेय का स्वरूपतः कथन नहीं किया जाता है। जबकि रूपक अलंकार में उपमेय का स्वरूपतः कथन किया जाता है। अथवा यह कहे कि—गौणी सारोपा लक्षणा के क्षेत्र में रूपक अलंकार होता है। इसलिये गौणी सारोपा को रूपक अलंकार का बीज माना जाता है तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणा के क्षेत्र में अतिशयोक्ति अलंकार होता है। इसलिये गौणी साध्यवसाना लक्षणा को

अतिशयोक्ति अलंकार का बीज माना जाता है। अतः रूपक में उपमान और उपमेय दोनों का शब्द से कथन किया जाता है। किन्तु अतिशयोक्ति में उपमेय का कथन शब्द से नहीं किया जाता है। इस प्रकार दोनों में अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है।

(३) शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष में अन्तर

श्लेष शब्द का अर्थ श्लिष्ट (चिपका हुआ) होता है अर्थात् एक शब्द में अनेक अर्थ चिपके (शिलष्ट) रहते हैं। अतः शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष दोनों के द्वारा अनेक अर्थों का बोध होता है। तथापि शब्दश्लेष और अर्थश्लेष में अन्तर प्राप्त होता है। (१) अर्थश्लेष में शब्द स्वभाव से एक अर्थ का वाचक होता है। परन्तु शब्द-श्लेष सर्वदा अनेक अर्थों का वाचक होता है। (२) अर्थश्लेष में शब्द "परिवृत्तिसह" होते हैं अर्थात् अर्थश्लेष के स्थल में पर्यायवाची शब्द के रखने पर भी "श्लेष" समाप्त नहीं होता है जबकि शब्दश्लेष में ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि शब्दश्लेष के स्थल में पर्यायवाची शब्द के रखने से "श्लेष" ही समाप्त हो जाता है। इसीलिये शब्दश्लेष को शब्दपरिवृत्ति असह कहते हैं। (३) अर्थश्लेष में एक ही वाक्य होता है जैसे—"उदयमयते" आदि में एक ही वाक्य है किन्तु शब्दश्लेष में विभिन्न अर्थों के अनुसार भिन्न-भिन्न वाक्य होते हैं। जैसे—त्वांसर्वदोमाधवः पायात्" इस वाक्य में अनेक वाक्य **(१) त्वाँ सर्वदा माधवः पायात्, (२) "त्याँ सर्वदा उमाधवः पायात्"** इस प्रकार अर्थश्लेष शब्द परिवृत्तिसह और एक वाक्य वाला होता है जबकि शब्द-श्लेष शब्दपरिवृत्ति-असह और अनेक वाक्यों वाला हो जाता है। यही अर्थश्लेष में अन्तर है।

(४) समासोक्ति और श्लेष में अन्तर

यद्यपि समासोक्ति और श्लेष दोनों अलंकारों में श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग होता है तथापि दोनों में अन्तर होता है कि—(१) श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों हो श्लिष्ट होते हैं जबकि समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं। (२) श्लेष में दोनों ही श्लिष्ट अर्थवाच्य होते हैं और दोनों ही प्रस्तुत होते हैं किन्तु समासोक्ति में प्रस्तुत अर्थवाच्य होता है और अप्रस्तुत अर्थवाच्य न होकर व्यंग्य होता है। अतः समासोक्ति और श्लेष में स्पष्ट अन्तर प्रतीत हो रहा है।

(५) प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना में अन्तर

प्रतिवस्तूपमा तथा निदर्शना अलंकार ये दोनों ही अलंकार सादृश्य-वर्णन पर आधारित होते हैं तथा दोनों में दो-दो वाक्य होते हैं परन्तु भेद यह है कि प्रति-वस्तूपमा अलंकार में दोनों वाक्य अपने में पूर्णअर्थ वाले होते हैं और दोनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं, जबकि निदर्शना में दोनों वाक्य सापेक्ष होते हैं और जब तक दोनों वाक्यों की समानता का ज्ञान न हो जाये, तब तक वाक्य का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। (२) प्रतिवस्तूपमा अलंकार में साधारण धर्म का कथन प्रत्येक वाक्य में

भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है परन्तु निदर्शना अलंकार में साधारण धर्म का कथन शब्द से नहीं किया जाता है। यही दोनों में अन्तर है।

(६) दृष्टान्त और निदर्शना में अन्तर

दृष्टान्त और निदर्शना में उपमान तथा उपमेय दोनों का कथन किया जाता है और दोनों में समानता का वर्णन किया जाता है। यह समानता बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से वर्णित की जाती है। यद्यपि उपर्युक्त समानता दोनों में प्राप्त होती है तथापि यह अन्तर है कि—(१) दृष्टान्त में उपमेय और उपमान दोनों वाक्य स्वयं पूर्ण एवं निरपेक्ष होते हैं जबकि निदर्शना में दोनों वाक्य उपमान और उपमेय सापेक्ष होते हैं (२) दृष्टान्त अलंकार में पहले उपमान और उपमेय दोनों वाक्यों का अर्थ बोधित होता है। पुनः बिम्बप्रतिबिम्ब भाव की प्रतीति होती है। परन्तु निदर्शना अलंकार में पहले दोनों वाक्यों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का ज्ञान होता है। उसके बाद ही वाक्यार्थ का बोध होता है। अतः दृष्टान्त में वाक्यार्थ ज्ञान के बाद बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का बोध होता है जबकि निदर्शना में पहले बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का बोध होता है। तदनन्तर वाक्यार्थ का बोध होता है। यही दोनों में अन्तर है।

(७) दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में अन्तर

यद्यपि दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा दोनों में उपमान तथा उपमेय दोनों वाक्य सापेक्ष नहीं होते हैं। (१) प्रतिवस्तूपमा अलंकार के उपमान और उपमेय दोनों वाक्यों में साधारण धर्म एक ही होता है किन्तु इस धर्म को भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा कहा जाता है यही प्रतिवस्तुभाव कहा गया है। दृष्टान्त अलंकार के दोनों वाक्यों (उपमान और उपमेय) में साधारण धर्म समान होने पर भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी को बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव कहते हैं। प्रतिवस्तूपमा अलंकार में पाठक का ध्यान भिन्न-भिन्न शब्दों की अपेक्षा अभिन्न साधारण धर्म की ओर उन्मुख रहता है। इसी में प्रतिवस्तूपमा अलंकार का चमत्कार आधारित रहता है। दृष्टान्त में केवल भिन्न-भिन्न धर्मों के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पर ही चमत्कार आधारित नहीं है अपितु उपमान उपमेय के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पर भी आधारित रहता है। अतः प्रतिवस्तूपमा में अलंकार का चमत्कार साधारण धर्म पर निर्भर होता है और दृष्टान्त का चमत्कार उपमान, उपमेय, साधारण धर्म आदि पर भी आधारित होता है यही दोनों में अन्तर है।

(८) सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेष में अन्तर

प्रथम श्लेष के (१) सभङ्गश्लेष और (२) अभङ्गश्लेष में भेद होते हैं। इनमें सभङ्गश्लेष को शब्दालंकार और अभङ्गश्लेष को अर्थालंकार माना गया है। इन दोनों में यह अन्तर है कि जहाँ जिस रचना शब्दपरिवृत्ति असह प्राप्त होता है अर्थात् जहाँ प्रस्तुत शब्द के पर्यायवाची शब्द को रखने पर श्लेष न रह जाये तो

वहाँ शब्द परिवृत्ति असह प्राप्त होने के कारण सभङ्गश्लेष अथवा शब्दश्लेष कहते है और पर्यायवाची के रखने पर भी श्लेषत्व समाप्त न हो तो वहाँ शब्दपरिवृत्ति-सह अर्थात् अभंग श्लेष होता है जिसे अर्थश्लेष भी कहते हैं। यह भेद रुय्यक आदि आलंकारिकों ने माना है परन्तु आचार्य मम्मट इसे श्लेष का भेद स्वीकार नहीं करते हैं। आचार्य मम्मट के मतानुसार सभङ्गश्लेष तथा अभङ्गश्लेष ये दोनों ही शब्दालंकार होते हैं। मम्मट ने सभंगश्लेष के वर्ण, प्रकृति, प्रत्यय पद आदि आठ प्रकार की भेलढक उपाधियों के अनुसार आठ भेदों का प्रतिपादन किया है। इसके विपरीत अभंगश्लेष प्रकृति, प्रत्यय आदि उपाधियों के बिना ही अनेक विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करता है, यही स्पष्ट अन्तर समझना चाहिये।

(९) उपमा और रूपक में अन्तर

उपमा अलंकार भेद और अभेद के सादृश्य से भी काव्य में चमत्कार वृद्धि करने में सहायक होता है अर्थात् उपमा अलंकार भेद-अभेद प्रधान सादृश्यमूलक अलंकार है और रूपक अभेद प्रधान साधर्म्यमूलक अलंकार है, अर्थात् रूपक अलंकार में उपमान उपमेय की भेदता प्रतीत नहीं होती है जबकि उपमा में स्पष्ट दोनों की प्रतीति विद्यमान रहती है क्योंकि उपमा से उपमेय मुख, कर, पाद आदि की उपमान, चन्द्र, कमल आदि के साथ तुलना की जाती है। इसके विपरीत रूपक में उपमेय उपमान का आरोप किया जाता है। अतः दोनों में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है।

(१०) रूपक और उत्प्रेक्षा में अन्तर

रूपक और उत्प्रेक्षा दोनो के उपमेय और उपमान में भेद प्रतीति नहीं होती है इसलिये ये दोनों अभेद प्रधान सादृश्यता मूलक अलंकार हैं। दोनों में अन्तर यह है कि उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है और रूपक में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है। जैसे "मुखचन्द्रः" यहाँ मुख उपमेय पर उपमान चन्द्रमा का आरोप वर्णन किया जाने से रूपक अलंकार होता है और 'मन्ये मुखमिदं, कमलं' यहाँ मुख उपमेय की अन्यथा सम्भावना अर्थात् उपमान कमल की सम्भावना की गई है। इस प्रकार दोनों में अन्तर स्पष्ट सिद्ध है।

(११) दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास में अन्तर

दृष्टान्त अलंकार में सामान्य का सामान्य से समर्थन किया जाता है जबकि अर्थान्तरन्यास अलंकार में कभी सामान्य से विशेष का और विशेष से सामान्य का समर्थन किया जाता है। दृष्टान्त के उपमेय और उपमान दोनों वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव से चमत्कार की दीप्ति होती है जबकि अर्थान्तरन्यास के दोनों वाक्यों में सामान्य और विशेष भाव की उपस्थिति चमत्कार की दीप्ति होती है। यही दोनों में अन्तर है।

(१२) विभावना और विशेषोक्ति में अन्तर

विभावना अलंकार में कारण के विना भी कार्य की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत विशेषोक्ति अलंकार में कारण के होने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः विभावना अलंकार का चमत्कार कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति में उन्मुख रहता है और विशेषोक्ति अलंकार का चमत्कार कारण की उपस्थिति में भी कार्य न होने की ओर उन्मुख रहता है। यही दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

(१३) सन्देह और भ्रान्तिमान् में अन्तर

सन्देह और भ्रान्तिमान् ये दोनों ही अलंकार अभेद प्रधान सादृश्यमूलक होते हैं अर्थात् दोनों में उपमेय उपमान का सादृश्यता का भेद प्रतीत नहीं होता है तथापि दोनों में यह भेद होता है कि सन्देह अलंकार में प्रस्तुत वर्ण्य विषय (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) का सन्देह रहता है। इसके विपरीत भ्रान्तिमान् अलंकार में प्रस्तुत (उपमेय) में अप्रस्तुत (उपमान) की मिथ्या प्रतीति होती है परन्तु दोनों के संशय में चमत्कृति अवश्य होनी चाहिये।

(१४) व्यतिरेक और प्रतीप में अन्तर

व्यतिरेक और प्रतीप ये दोनों अलंकार उपमान के उत्कर्ष को दबाकर उपमेय के उत्कर्ष को द्योतित करते हैं। अतः ये दोनों साद्यमूलक अलंकार हैं तथापि व्यतिरेक अलंकार में उपमान को अतीव निन्दित नहीं माना जाता है। इसके विपरीत प्रतीप अलंकार में उपमान को तिरस्कृत ही नहीं किया जाता है अपितु उपमान की निष्फलता घोषित उपमान को व्यर्थ सिद्ध किया जाता है अर्थात् व्यतिरेक अलंकार में उपमान की अपेक्षा करके उपमेय का उत्कर्ष प्रतिपादित किया जाता है और प्रतीप में या तो उपमान का निषेध वर्णन किया जाता है या उपमान का उपमेय के रूप में वर्णन किया जाता है। अतः प्रतीप में उपमान व्यर्थ एवं अस्तित्व रहित होता है। व्यतिरेक में उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष वर्णित होता है यही दोनों का अन्तर है।

(१५) असंगति और विरोधाभास में अन्तर

यह असंगति विरोधाभास की बाधक है, विरोधाभास नहीं है क्योंकि असंगति में आधार की भिन्नता से कार्य कारण में विरोध प्रतीत होता है, आधार में नहीं। किन्तु इसके विपरीत विरोधाभास अलंकार में बिना कहे भी भिन्न-भिन्न वस्तुयें एक के आधार से वर्णन करने पर विरोध उपस्थित होता है तथा विरोध को समाप्त करने के लिये आधार की भिन्नता करनी पड़ती है। अतः असंगति में कार्य-कारण की भिन्नता में विरोध की प्रतीति होती है। आधार में विरोध नहीं होता है जबकि विरोधाभास के आधार में ही विरोध की प्रतीति होती है और आधार को भिन्न मानने पर विरोध समाप्त हो जाता है यही दोनों का अन्तर है।

(१६) सहोक्ति और समासोक्ति में अन्तर

सहोक्ति अलंकार में "सह" आदि शब्दों के साथ सामर्थ्य से अनेक चमत्कारपूर्ण अर्थों का बोध होता है। जैसे—**'अरिजनेन सह तनिमानमभजत मध्य-भाग:'**। यह सहशब्द के साथ शत्रुओं की न्यूनता और कटि क्षीणता अर्थ की चमत्कृति होने के कारण ऐसे स्थलों में सहोक्ति अलङ्कार होता है। समासोक्ति अलङ्कार में प्रस्तुत वर्ण्य विषय के विशेषणों की सादृश्यता से अप्रस्तुत वृतान्त का भी वर्णन किया जाता है। अत: सहोक्ति अलङ्कार "सह" आदि शब्दों की सामर्थ्य से अनेक अर्थों का बोघ कराता है और समासोक्ति अलङ्कार प्रस्तुत से अप्रस्तुत अर्थ का बोध कराता है यही दोनों का अन्तर है।

(१७) अपह्नुति और व्याजोक्ति में अन्तर

अपह्नुति अलंकार में प्रस्तुत वर्ण्य विषय का निषेध करके अप्रस्तुत की सहायता सिद्ध की जाती है। इसके विपरीत व्याजोक्ति अलंकार में प्रस्तुत वर्ण्य विषय को स्पष्ट रूप से न कहकर किसी व्याज से छिपाकर वर्णन करने पर व्याजोक्ति अलंकार होता है, यही दोनों में अन्तर है।

(१८) यमक और श्लेष में अन्तर

यमक अलङ्कार में सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्ति होती है और श्लेष में भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्णों का प्रयोग किया जाता है अर्थात् यमक अलङ्कार में पुन: आवृत्त पद या वर्ण सार्थक और निरर्थक भी होते हैं किन्तु श्लेष में निरर्थक वर्ण या पद नहीं होते हैं तथा बार-बार आवृत्ति नहीं की जाती है। एक बार ही आवृत्त किये गये वर्ण अथवा पद से विभिन्न श्लिष्ट अर्थों की प्रतीति होती है, यही दोनों में अन्तर है।

(१९) दीपक और प्रतिवस्तूपमा में अन्तर

दीपक अलङ्कार में उपमेय और उपमान तथा क्रिया, कारक आदि के धर्मों का एक बार कथन किया जाता है। इसके विपरीत प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार एक ही साधारण धर्म का उपमेय और उपमान दिनों में "कथित्त पदता" नामक दोष न आ जाय, इस दोष की निवृत्ति के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा उपमान और उपमेय के धर्मों का बार-बार ग्रहण किया जाता है, यही इन दोनों में अन्तर है।

(२०) संसृष्टि और संकर में अन्तर

संसृष्टि तथा संकर ये दोनों अलङ्कार उभयालङ्कार माने जाते हैं। इन दोनों अलङ्कारों में अनेक अलङ्कारों का मिश्रण होता है तथापि दोनों में भेद होता है कि जहाँ जिस रचना में एक से अधिक अलङ्कार एक साथ **तिलतण्डुल न्याय** से प्रतीत हो रहे हों तो वहाँ संसृष्टि अलङ्कार होता है और जहाँ जिस रचना में एक से अधिक अलंकार एक साथ **नीर क्षीर न्याय** से ऐसे घुले मिले हों कि उनकी

प्रतीति ही बड़ी कठिनता से रही हो तो वहाँ संकर अलंकार होता है। इसका आशय यह है कि संसृष्टि अलङ्कार में अनेक अलङ्कार **तिलतण्डुल न्याय** से परस्पर निरपेक्ष होकर विद्यमान रहते हैं। यह संतुष्टि कहीं शब्दालंकार अनुप्रास यमक आदि के अन्तर्गत और कहीं अर्थालिकारों के अन्तर्गत होती है और कहीं उभयाल कारगत होती है। संकरालङ्कार में अनेक अलंकार दूध और पानी की तरह ऐसे मिले रहते हैं कि उनका निर्णय करना कठिन सा हो जातर है। संकरालंकार तीन प्रकार का होता है—(१) अङ्गाङ्गिभाव रूपसंकर (२) सन्देह रूपसंकर, (३) एकवाच-कानुप्रवेशरूपसंकर। अतः दोनों में स्पष्ट भेद प्रतीप हो रहा है।

—:०:—

पृष्टव्य–अंश

प्रथम उल्लास—

(१) नियतिकृतनियम ... ... कुवेर्जयति ।
(२) शक्तिर्निपुणता ... ... इति हेतुस्तदुद्भवे ।
(३) तददोषौ ... ... पुनः क्वापि ।
(४) अत्रस्फुटो न कश्चित् ... ... नालंकारता ।
(५) इदमुत्तमम् ... ... बुधैः कथितः ।
(६) ततस्तन्मतानुसारिभिः ... ... शब्दार्थयुगलस्य ।
(७) अतादृशिगुणीभूतः ... ... मध्यमम् ।
(८) शब्दचित्रम् ... ... अवरं स्मृतम ।

(आगरा वि० वि० १६५२, ५४, ५५, ५७, ६१, ६२, ६४, ६५)

द्वितीय उल्लास—

(१) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित ।
(२) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिः जातिरेव वा ।
(३) चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः ।
(४) सर्वेषा शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तयित्यन्ये ।
(५) तद्वानपोहो वा ... ... कैश्चिदुक्तः ।
(६) गौरनुवन्ध्यः इत्यादौ ... ... नोदाहर्त्तव्या ।
(७) भेदोविमौ च सादृश्यात ... ... विज्ञेयौ ।
(८) साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव ... ... इत्यपरे ।
(९) अभिधेया विनाभुत ... ... तु गौणता ।
(१०) लक्षणा तेन षड्विधा ।
(११) तदेषा कथिता त्रिधा ।
(१२) एवमप्यनवस्था ... ... मूलक्षयकारिणी ।
(१३) प्रयोजनेन ... ... न युज्यते ।
(१४) ज्ञानस्य विषयौ ... ... उदाहृतम् ।
(१५) अनेकार्थस्य शब्दस्य ... ... रञ्जनात् ।
(१६) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो ... ... सहकारिता ।

(आगरा वि० वि० १६५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ६१: ६२, ६३, ६४)

चतुर्थ उल्लास—

(१) न खलु विभावानुभाव ... ... लक्ष्यते ।
(२) रसभावतदाभास ... ... अलंकार्यतया स्थितः ।

(३) न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन··· ··· ··· नाभिव्यज्यते ।
(४) तद् ग्राहकं च न निर्विकल्पकं ··· ··· स्वसंवेदनसिद्धत्वात् ।
(५) रसादिलक्षणस्त्वर्थं ··· ··· ··· न वाच्य: ।

(आगरा वि० वि० १६५२, ५५, ५६, ५७, ६६)

पंचम उल्लास—

(१) विशिष्टा एवं पदार्था: — — — वैशिष्ट्यम ।
(२) अनन्वितोऽर्थेभिहितान्वये — — — एव वाक्यार्थ: ।
(३) यदप्युच्यते नैमित्तिकानुसारेण — — कल्पन्ते ।
(४) ये त्वभिदधति सोऽपभिषोरिव — — वाच्य इति ।
(५) श्रुतिलिङ्गवाक्य — — —पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् ।
(६) अयमेय भेदोभेदहेतुर्वा — — — कारणभेदश्च ।
(७) अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो — — — वाक्यमेव वाचकम् ।
(८) तैरप्यविद्यापदपतितै: — — — विध्यादिर्व्यंग्य एव ।

(आगरा वि० वि० १६५२, ५४, ५५, ६२, ६३, ६५)

सप्तम उल्लास—

(१) न दोष: स्वपदे नोक्तावपि संचारिण: क्वचित् ।
(२) संचार्यादेर्विरुद्धस्य — — — गुणावहा ।
(३) आश्रयैक्ये विरुद्धो य: — — — नैरन्तर्येण योरस: ।

(आगरा वि० वि० १६५६, ५७, ६५)

अष्टम उल्लास—

(१) एवं च समवाय वृत्या शौर्यादय: — ईत्यभिधानमसत् ।
(२) यदप्युक्तं काव्यशोभाया: कर्त्तारो — न युक्तम् ।
(३) करुणे विप्रलम्भे — — वातिशयान्वितम् ।
(४) गुणवृत्या पुन: — — शब्दार्थयोर्मता ।

(आगरा वि० वि० १६५३, ६१, ६५, ६६)

दशमोल्लास—

(१) आरोपविषया इव आरोप्यमाणा — समस्तवस्तुविषयम ।
(२) अत्रपादत्रयये अन्तर्द्धान व्यसन — शंका न कार्या ।
(३) केचिदारोप्यमाणा: शब्दोपात्ता: — — एकदेशविवर्ति ।
(४) यद्यपि शब्दलंकारोऽयम् — — अस्येरभिधीयते ।
(५) त्रिलापे च समासगा ।
(६) क्रूरस्याचारस्य — — — इत्यतिशयोक्ति: ।
(७) अग्निश्रान्ति जुगां — — — तुमंकर: ।

(८) जटाभिर्भाभिः — — अगांगितया प्रतीयन्ते।
(६) एकस्य च ग्रहे — — अनिश्चयः।

(आगरा वि० वि० १६६२, ६३, ६४, ६५, ६६)

अलंकारों के अन्तर

(१) सभंगश्लेष और अभंगश्लेष, (२) उपमा और उत्प्रेक्षा, (३) उपमा और रूपक, (४) रूपक और उत्प्रेक्षा, (५) रूपक और अतिशयोक्ति, (६) प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त (७) दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास, (८) निदर्शन और प्रतिवस्तूपमा, (६) विभावना और विशेषोक्ति, (१०) दृष्टान्त और निदर्शना (११) सन्देह और भ्रान्तिमान, (१२) व्यतिरेक और प्रतीप, (१३) उत्प्रेक्षा और सन्देह, (१३) व्याजोक्ति और अपह्नुति, (१५) अप्रस्तुत-प्रशंसा और अतिशयोक्ति, (१६) संसृष्टि और संकर।

पृष्टव्य-छन्द

आर्या, इन्द्रवज्रा, शिखरिणी, मालिनी, उपजाति, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, विद्युन्माला।

—:o:—

छन्द–विवेचन

संस्कृत साहित्य की रचना गद्य तथा पद्य रूप में प्राप्त होती है। पद्य रचना गद्य की अपेक्षा प्राचीन मानी जाती है क्योंकि प्राचीनकाल में मुद्रण की सुविधा नहीं थीं अतः स्मृति के बल पर ही रचना की रक्षा की जाती थी। गद्य की अपेक्षा पद्य को कण्ठस्थ सरलता से किया जा सकता है। इसीलिये पद्य-रचना का पहले विकास हुआ होगा। इसके अतिरिक्त गेय एवं मधुर होने के कारण पद्य-रचना अधिक लोकप्रिय हुई। यही कारण है कि गद्य-रचना के विकासित होने पर भी पद्य-रचना का गौरव कम नहीं हुआ। कविगण पद्यबद्ध रचना का निर्माण प्रचुर मात्रा में कराते रहे हैं।

जिस शास्त्र में पद्य-रचना के नियमों का वर्णन किया गया है उस शास्त्र को छन्दःशास्त्र भी कहते हैं इस छन्दःशास्त्र की गणना वेद के अंगों में की गई है। सम्भवतः 'पिंगल' नामक आचार्य ने सबसे पहले 'छन्दःशास्त्र' की रचना की थी। इसीलिये "छन्दःशास्त्रं" "पिंघलशास्त्र" के नाम से सम्बोधित किया जाता है

यद्यपि छन्दःशस्त्र में अनेक छन्द हैं तथापि यहाँ २५ छन्दों का ही विवेचन किया जाता है। लौकिके संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले छन्द चार पाद अथवा चार चरणों में निबद्ध एवं विभक्त किये गये हैं। ये छन्द मात्रिक और वर्णिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। जिन छन्दों में मात्राओं की गणना की जाती है उन छन्दों को मात्रिक कहते हैं और जिन छन्दों में वर्णों की गणना की जाती है उन छन्दों को वर्णिक छन्द कहते हैं। छन्दों को भली भाँति समझने के लिए लघु, गुरु, और यति, को समझ लेना परमावश्यक है। अतः इसको निम्न प्रकार समझ लेना चाहिए।

लघु, गुरु

छन्दःशास्त्र में स्वरयुक्त अथवा स्वर रहित व्यंजन को वर्ण कहते हैं। वर्णों अथवा मात्राओं की गणना करने के समय व्यंजनों की गणंना नहीं की जाती है। केवल स्वरों की गणना की जाती है। इस गणना में लघु, गुरु का ध्यान बड़ी सावधानी से रखना चाहिये। जिस मात्रा के उच्चारण में एक मात्रा के उच्चारण का समय लगता है, तो उस मात्रा को लघु या ह्रस्व कहते हैं। लघु सांकेतिक चिन्ह (।) है तथा जिस मात्रा के उच्चारण में दो मात्राओं के उच्चारण का समय लगता है तो उस मात्रा को गुरु अथवा दीर्घ कहते हैं। गुरु का सांकेतिक चिन्ह (ऽ) है। मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गणना के समय लघु अक्षर की एक मात्रा और गुरु अक्षर की दो मात्रायें मानी जाती हैं।

सामान्य रूप से अ, इ, उ, ऋ, लृ, को लघु आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ऐ, ओ,

औ, को गुरु कहते हैं। परन्तु जिस लघु अक्षर के आगे संयुक्त अक्षर य, अनुस्वार, या विसर्ग आता है तो वह लघु अक्षर भी गुरु माना जाता है। जैसे—

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्ग संमिश्रम।

विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थ विकल्पेन ॥

(१) **अर्थात्-संयुक्त**—अक्षर से पूर्व का अक्षर गुरु (दीर्घ) माना जाता है। जैसे "विज्ञान" में "ज्ञा" अक्षर संयुक्त है। अतः ज्ञा से पूर्व का "वि" अक्षर लघु होने पर भी गुरु (दीर्घ) माना जाता है।

(२) **दीर्घ**—अक्षर आ, ई, आदि गुरु होते माने जाते हैं।

(३) **सानुस्वार**—अनुस्वार से युक्त अक्षर को गुरु मानते हैं जैसे अं, कं, गं, चं, टं, दं आदि में अ, क, ग, आदि को अनुस्वार से युक्त होने के कारण गुरु मानते हैं।

(४) **विसर्ग युक्त**—विसर्ग सहित अक्षर भी गुरु होता है। जैसे—अः, सः, कः, टः, ठः, इत्यादि में विसर्गों के कारण अ, स, क, ट, आदि को गुरु माना जाता है।

(५) **पदान्त वर्ण**—चरण अथवा पाद के अन्त में आने वाला लघु अक्षर भी गुरु माना जाता है। जैसे—

"तदपि तव गुणानामीश ? पारं न याति" में पाद के अन्त का "ति" अक्षर लघु होने पर भी गुरु माना जाता है।

गण

छन्दों के लक्षणों को समझने के लिये "गण" को समझ लेना परमावश्यक है। यह "गण" तीन वर्णों का होता है। ये, गण, लघु, गुरु के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—यगण[1], मगण,[2] तगण[3] रगण[4], जगण[5], भगण[6], नगण[7], सगण[8]। इनका स्वरूप निम्न सूत्र से स्पष्ट हो रहा है। कि—"**यमाताराजभान सलगा**"।

आठ गणों के सूचक इस सूत्र में पठित "ल" लघु और "गा" से "गुरु" का संकेत किया है। "गण" का स्वरूप समझ लेने के लिये "गण" के नाम वाले वर्ण आगे से दो वर्णों को गिनकर "गण" के लघु, गुरु, को समझना चाहिये। जैसे "मगण" के स्वरूप को समझ लेने के लिये "मा" के साथ "तारा" को जोड़ने से "मातारा" बनता है। इस प्रकार "मातारा" के तीनों वर्ण गुरु होने के कारण मगण का स्वरूप ऽ ऽ ऽ होता है।

(१) यगण=यमाता
। ऽ ऽ

(२) मगण=मतारा
ऽ ऽ ऽ

(३) तगण=ताराज
ऽ ऽ ।

(४) रगण=राजभा
ऽ । ऽ

(५) जगण=जभान
। ऽ ।

(६) भगण=भामस
ऽ । ।

(७) नगण=नसल
। । ।

(८) सगण=सलगा
। । ऽ

पद्य का उच्चारण यति करते हुए अथवा लयपूर्वक गाने के समय बीच में विश्राम लेने की आवश्यकता पड़ती है। अतः विश्राम के स्थलों पर शब्दों को तोड़ दिया जाता है। इन विश्राम के स्थलों का विराम, यति, विश्राम, आदि के नाम से अभिहित किया जाता है। अनुष्टुप् आदि छोटे पद्यों में पादान्त अथवा चरण के अन्त में यति होती है। परन्तु शिखरिणी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता आदि बड़े-बड़े छन्दों में यति चरण के मध्य में अवश्य होती है। अतः "यति" का ध्यान छन्दों के गान के समय एवं उच्चारण तथा पढ़ने के समय अवश्य रखना चाहिये।

(१) आर्या छन्द—

यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥

अर्थ—जिस छन्द के प्रथम चरण अथवा पाद में बारह मात्रायें और द्वितीय चरण में अठारह मात्रायें, तृतीय चरण में बारह मात्राएँ और चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्रायें होती हैं, तो उस छन्द को आर्या छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

। । । । । ऽ । ऽ ऽ
सुभग सलिला वगाहाः =१२ मात्राएँ

ऽ । । ऽ ऽ । । । । । ऽ ऽ
पाटल संसर्गि सुरभिवन वाताः =१८ ,,

ऽ ऽ । । । । ऽ ऽ
प्रच्छाय सुलभ निन्द्रा =१२ ,,

। । । । । ऽ । । । ऽ ऽ
दिवसाः परिणाम रमणीया =१५ ,,

(२) गीति छन्द—

आर्या पूर्वार्धसमं द्वितीयमपि यत्र भवति साधुगतेः।
छन्दोविदस्तानीं गीतिं तां प्राक्तना हि भाषन्तेः॥

अर्थ—जिस छन्द के चारों चरण आर्या के प्रथम और द्वितीय चरण के समान हों तो उस छन्द को कवियों ने गीति छन्द कहा है।

उदाहरण—

ऽ।।ऽऽ ऽ।ऽ। ।ऽ ।।। ऽ।ऽ ।।।
केशव वशी गीतिर्लोक मनो हरिण हारिणी जयति ।

ऽऽऽऽ ऽऽ। ऽ । ऽ ऽ।ऽ । ऽ ऽऽ
गोपी मान ग्रन्थे विभोचनी दिव्यगायनाश्चर्या ।।

(३) अनुष्टुप् छन्द का लक्षण—

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्रलघुपञ्चमम ।
द्विवचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।

अर्थ—जिस छन्द के चारों चरणों में पांचवाँ अक्षर लघु हो और छठा अक्षर गुरु हो। तथा दूसरे और चौथे चरण में सातवाँ अक्षर लघु हो और पहले तथा तीसरे चरण में सातवाँ अक्षर गुरु हो तो उस छन्द को अनुष्टुप् छन्द कहते हैं। अनुष्टुप् छन्द में कुल चरणों चरों में ३२ अक्षर होते हैं तथा प्रत्येक पाद में ८-८ अक्षर होते हैं।

उदाहरण—

।ऽ। ऽ। ।ऽऽ
नवास्मि गीत रागेण,
ऽ।ऽ। ।।ऽ ।ऽ
हारिणा प्रसंग हृतः ।
।। ऽऽ। ।ऽऽ
एष राजेव दुष्यन्तः,
ऽ ऽऽ । । ।।ऽ
सारङ्गेणाति रहसा ।।

इस उदाहरण में प्रत्येक चरण के पांचवे वर्ण के लघु, षष्ठ वर्ण के गुरु, पहले तथा तीसरे चरण के सातवें वर्ण के लघु एवं दूसरे चरण के सातवें वर्ण के लघु होने के कारण अनुष्टुप् छन्द होता है।

(४) विद्युन्माला छन्द का लक्षण—

मो मो गो गो विद्युन्माला

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रम से दो-दो मगण और दो-दो गुरु वर्ण होते हैं तो उस छन्द को विद्युन्माला छन्द कहते हैं। इस छन्द में चतुर्थ वर्ण पर यति होती है।

उदाहरण—

ऽऽ ऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ
वासो वल्ली विद्युन्माला बर्ह श्रेणी शाक्रश्चापः ।

ऽऽ ऽऽ।ऽऽ ऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽ ऽऽ

यस्मिन् स स्तात् तापोच्छित्यै: गोमध्यस्थ: कृष्णाम्भोद: ॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रम से दो मगण और दो दो गुरु होने के कारण यहाँ विद्युन्माला छन्द होता है।

(५) इन्द्रवज्रा छन्द का लक्षण—

"स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग:"

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में दो तगण और फिर एक जगण तथा अन्त में दो गुरु हों तो उस छन्द को इन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

ऽऽ । ऽऽ ।।ऽ।ऽऽ
अर्थो ही कन्या परकीय एव,
ऽऽ ।। ऽऽ ।ऽ ।ऽऽ
तामद्य संप्रेष्य परिग्रहितुः ।
ऽऽ ।ऽऽ ।।ऽ ।ऽऽ
जातो ममायं विशदः प्रकामं
ऽऽ।ऽ ऽ। ।ऽ।ऽऽ
प्रत्यर्पित न्यास इवान्तरात्मा ॥

इस छन्द में क्रमशः दो तगण और जगण तथा दो गुरु वर्ण होने के कारण इसे इन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं।

(६) उपेन्द्रवज्रा का लक्षण—

"उपेन्द्रवज्रा" जतजास्ततो गौ" ।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक जगण फिर एक तगण और फिर एक जगण हो और पाद के अन्त में दो गुरु वर्ण हों तो उसे उपेन्द्र वज्रा छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

।ऽ ।ऽऽ। ।ऽ।ऽऽ
अलं महीपाल ? तव श्रमेण,
ऽऽ। ऽऽ ।।ऽ। ऽऽ
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्
।ऽ।ऽऽ । ।ऽ। ऽऽ
न पादपोन्मूल न शक्ति रंहः,
।ऽ।ऽ ऽ। । ऽ।ऽऽ
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥

इस छन्द में क्रमशः जगण, तगण, जगण और दो वर्ण गुरु होने से इसे उपेन्द्रवज्रा छन्द कहते हैं।

(५) उपजाति छन्द का लक्षण--

यत्रद्वयोरप्यमयोस्तु पादा, भवन्ति मेधाजित वादिबुद्धे ।

विद्वद्भिराद्यैः परिकीर्त्तिता सा प्रयुज्यतामित्युत जातिरेषा ॥

अर्थ—जिस छन्द में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा छन्दों का मिश्रण लक्षण प्राप्त हो तो उस छन्द को उपजाति छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

ISISSIISISS
शम प्रधानेषु तपोवनेषु,
SSISSIISISS
गूढं हि दाहात्मकस्ति तेजः।
SSISSIISISS
स्पर्शानुकूला अपि चन्द्रकान्ता,
ISISSIISISS
स्वदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति ॥

इस छन्द के प्रथम और चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा के लक्षण और द्वितीय तथा तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा के लक्षण प्राप्त होने से इसको उपजाति छन्द कहते हैं।

(८) दोधक छन्द का लक्षण—

दोधक वृत्तिमिद भभसाद् गौ।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में तीन भगण हों और अन्त में दो गुरु हों तो उसे दोधक छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

SIS II SIISS SIISIISIISS

देव ? सवोर्ध्वकदम्ब तलस्थ ? श्रीवर ? तावकनामपदं में।

SI ISIISIISS SI IS I ISII SS

कण्ठ तलेऽसुविनिर्गमकाले, स्वल्पमपि क्षणमेप्यति योगम् ॥

इस छन्द में प्रत्येक चरण में तीन भगण और अन्त में दो गुरु होने के कारण इसको दोधक छन्द कहते हैं।

(९) रथोद्धता छन्द का लक्षण—

"रात्परैर्नरलगै रथोद्धता"

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में रगण से आगे क्रमशः नगण, रगण और एक वर्ण गुरु हो तो उसे रथोद्धता छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

S I S I I I S I S I S S I S I I I S S I S
राधिकाधि विलोडन स्थिता, कृष्णवेणुनिनद रथोद्धता।
S I S I I I S I S I S S I · S I I I S I S I S
यमुना तट निकुञ्जमञ्जसा, सा जगाम सलिलाहृतिच्छलात् ॥

इस छन्द में प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, रगण और एक वर्ण लघु तथा एक वर्ण गुरु होने के कारण इसे रथोद्धता छन्द कहते हैं।

(१०) स्वागता का लक्षण—

"स्वागता रनभगैर्गुरुणा च"।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, भगण और अन्त में दो गुरु हों तो उसे स्वागता छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

S I S I I I S I I S S S I S I I I S I I S S
यस्य चेतसि सदा मुर वैरी, वल्लवी जग विलास विलोलः।
S I S I I I S I I S S S I S I I I S I I S S
तस्य नूनममरालय भाजः, स्वागतादरकरः सुरराजः ॥

इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, नगण, भगण और अन्त में दो गुरु वर्ण होने के कारण इसे स्वागता छन्द कहते हैं।

(११) वंशस्थ का लक्षण—

"जतोतुवंशस्थनुदीरितं जरौ"।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण और पुनः जगण, रगण हों, उसे वंशस्थ छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

I S I S S I I S I S I S
इदं किलाव्याज मनोहरं वपुः,
I S I S S I I S I S I S
तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
I S I S S I I S I S I S
ध्रुवं स नीलोत्पल पत्रधारया,
I S I S S I I S S I S I S
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥

इस छन्द के प्रत्येक पाद में क्रमशः जगण, तगण, जगण रग्ण होने के कारण इसे वंशस्थ कहते हैं।

(१२) द्रुतविलम्बित छन्द का लक्षण—

"द्रुतविलम्बितमाहनभौ भरौ"।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, भगण और पुनः भगण रगण हों तो उसे द्रुतविलम्बित छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

।। ।ऽ।।ऽ।। ऽ।ऽ
शशि दिवाकरयोर्ग्रह पीडनं,
।।।ऽ।।ऽ।। ऽ।ऽ
गजभुजंग मयोरपि बन्धन।
।।।ऽ ।।ऽ। ।ऽ।।
मतिमताञ्च विलोक्य दरिद्रतां,
।।।ऽ ।।ऽ। ।ऽ ।ऽ
विधिरहो वलवानिति में मतिः।।

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, भगण और भगण, रगण होने के कारण इसको द्रुतविलम्बित द्वन्द कहते हैं।

(१३) भुजगप्रयात छन्द का लक्षण—

'भुजंगप्रयातं चर्तुभियकारैः'।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक पाद में चार यगण हों तो उसे भुजङ्गप्रयात छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

।ऽऽ।ऽऽ। ऽऽ।ऽऽ
नमामीशमीशान निर्वाणरूपं,
।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽऽ।ऽऽ
विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं,
।ऽ ऽ।ऽऽ।ऽऽ ।ऽऽ
अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं,
।ऽऽ।ऽ ऽऽ। ऽऽ ।ऽऽ
चिदाकाश माकाश वासं भजेऽहम्।।

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में चार-चार यगण होने के कारण इसे भुजङ्गप्रयात छन्द का उदाहरण कहा जाता है।

(१४) स्त्रविवणी छन्द का लक्षण—

"कीर्त्तितैषा चतूरफिका स्त्रग्विणी"

अर्थ—जिम छन्द के प्रत्येक चरण में चार रगण होते हैं। उमे स्त्रग्विणी छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

S I S S I S S I S S I S
इन्द्रनीलोपलेनैव या नर्मिता,
S I S S I S S I S S I S
शातकुम्भ द्रवालंकृता शोभते।
S I S S I S S I S S I S
नव्य मेघच्छबि : पीतवासा हरे,
S I S S I S S I S S I S
मूर्त्तिरास्तां जयायोरसि स्रग्विणी ॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में चार-चार रगण के होने के कारण इसे स्रग्विणी छन्द कहते हैं।

(१५) प्रहर्षिणी छन्द का लक्षण—

"त्र्याशाभिर्मन जरगाः प्रहर्षिणीयम्।"

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, नगण, जगण, रगण और पाद के अन्त में एक वर्ण गुरु हो। उसे प्रहर्षिणी छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

S S S I I I I S I S I S S
श्री नाथे सुरवर पूजिताङ्घ्रि पद्मे,
S S S I I I I S I S I S S
कौमारेः प्रियतम आर्त्तलोकवन्धो।
S S S I I I I S I S I S S
सर्वस्वे विषय वितृष्णमानसानां,
S S S I I I I S I S I S S
संसारे मतिरभवत् प्रहर्षिणयम् ॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, नगण, जगण, रगण और पाद के अन्त में गुरु वर्ण के होने के कारण इसे प्रहर्षिणी छन्द कहते हैं।

(१६) मञ्जुभाषिणी छन्द का लक्षण—

"सहसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी :।"

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः सगण, जगण, सगण जगण और एक वर्ण गुरु हो तो उसे मञ्जुभाषिणी छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

I I S I S I I I S I S I S
अमृनोमि नीरजवरूण लालयं

I I S I S I I I S I S I S

स्तनुकान्ति चोरित विलोचनो हरे ?

I I S I S I I I S I S I S

नियतं कलानिधिरसीति वल्लवी,

I I I S I I I S I S I S

मुदमच्युते व्यधित मञ्जुभाषिणी ॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः सगण, जगण, सगण, जगण और अन्त का वर्ण गुरु होने के कारण यहाँ मञ्जुभाषिणी छन्द होता है।

(१७) वसन्ततिलका छन्द का लक्षण—

"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।"

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में तगण, भगण, जगण और पुनः जगण तथा पाद के अन्त में दो वर्ण गुरु हों तो उसे वसन्ततिलका छन्द कहते हैं—

उदाहरण— S S I S I I I S I I S I S S

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्व योगा,

S S I S I I I S I I S I S S

रूपेच्चमयेन विधिना मानसा कृता नु।

S S I S I I I S I I I S S

स्त्रीरत्नसृष्टिरपराप्रतिभातिसामे,

S S I S I I I S I I S I S S

धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण और पुनः जगण तथा पाद के अन्त में गुरु वर्ण आने के कारण इसे बसन्ततिलका का उदाहरण कहा जाता है।

(१८) हरिणी छन्द का लक्षण—

'न समर स लागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता"।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, सगण और अन्त में एक वर्ण लघु तथा एक वर्ण गुरु हो तो उसे हरिणी छन्द कहते हैं

उदाहरण— I I I I I S S S S S I S I I S I S

विरमत वधा ? योषित् संगात्सुखात्क्षणभंगुरात्,

I I I I I S S S S S I S I I S I S

कुरुत करुणामैत्रीः प्रज्ञावधूजन संगमम्।

I I I I I I S S S S S I S I I S I S

न खलु नरके हाराक्रान्तधनस्तन मण्डल,

I I I I I S S S S S I S I I S I S

शरणमथवा श्रोणीधिम्बं रणन्मणि मेखलम् ॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में, क्रमशः नगण, सगण, मगण, रगण, सगण और पाद के अन्त में एक वर्ण लघु और एक वर्ण गुरु होने के कारण इसको हरिणी छन्द का उदाहरण कहा जाता है।

(१९) शिखरिणी छंद का उदाहरण—

"रसैरुद्रैश्छन्तायमन सभलागा शिखरिणी"

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और अन्त में एक वर्ण लघु और एक वर्ण गुरु हो उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं। इसमें ६ और ११ वर्णों पर यति होती है।

उदाहरण— ।ऽऽऽ ऽऽ ।।। ।।ऽ ऽ।।।ऽ

चलापाङ्गा दृष्टि स्पृशसि बहुशो वेपुथमतीं,

।ऽऽऽऽऽ।। ।। ।ऽऽ।।।ऽ

रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

।ऽ ऽऽऽ ऽ ।।। ।।ऽऽ।।।ऽ

करं व्याधुन्वन्त्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,

।ऽ ऽऽऽऽ।।।। ।ऽऽ ।।।ऽ

वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ? हतास्त्वं खलु कृती॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः यगण, मगण, नगण सगण, भगण तथा लघु वर्णन अन्त में होने के कारण इसे शिखरिणी का उदाहरण कहा जाता है।

(२०) मालिनी छन्द का लक्षण—

ननमय-युतेयं मालिनी-भोगि लोकैः।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण, में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण और पुनः यगण हो और आठ तथा सात वर्ण पर विराम हो तो उसे मालिनी छन्द कहते हैं।

उदाहरण— ।।।।।।ऽऽ ऽ।ऽऽ। ऽऽ

सरसिजमनुविद्धं शेवलेनापि रम्यं,

।।।।। ।ऽऽ ऽ।ऽऽ ।ऽऽ

मलिनमपि हिमांशो र्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।

।।।।।।ऽऽ ऽ।ऽऽ। ऽऽ

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,

।।।। ।।ऽऽऽ।ऽ ऽ।ऽऽ

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण, यगण होने के कारण इसे मालिनी छन्द का उदाहरण कहा जाता है।

(२१) पृथ्वी छन्द का उदाहरण—

जसौ जसयला वसु ग्रह यतिश्च पृथ्वी गुरुः।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, सगण, जगण, सगण, यगण हों और एक वर्ण लघु और अन्त में एक वर्ण गुरु हो तो उसे पृथ्वी छन्द कहते हैं। पृथ्वी छन्द में आठ और नौ वर्णों पर यति होती है।

उदाहरण—

ISIIISISIIIS ISSIS
दुरन्तदनुजेश्वर प्रकरदुःस्थ पृथ्वी भरं,
ISI IISIS IISSISSI S
जहार निजलीलया यदुकूलेऽवतीर्याशु यः।
I SIIISISIIISISSIS
स एष जगतां गतिदुरितभारमस्मादृशां,
ISII IS ISII ISISSIS
हरिष्यति हरिः स्तुतिस्मरण चाटुभिस्तोपितः॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, सगण, जगण, सगण, यगण एक वर्ण लघु और एक वर्ण गुरु (अन्त में) होने के कारण इसे पृथ्वी छन्द का उदाहरण कहा जाता है।

(२२) मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण—

मन्दाक्रान्ता जलधि षड्गैम्भौ नतौ ताद् गुरुश्चेत्।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और पाद के अन्त में दो वर्ण गुरु हों तथा चार और छः अक्षरों पर यति हो तो उसे मन्दाक्रान्ता छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

SSSS IIIIISSISS ISS
नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमा धरित्री,
SSSS IIIIIS SISSISS
मेकःकृत्स्नां नगरपरिघ प्रांशुवाकभुनक्ति।

SSSSIIIIISSISSI SS
आशंसन्ते सुरयुवतयो बद्धवैरा हि दैत्यैः
SSSS III IIS SISS ISS
रस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरूहूते च वज्रे॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण' नगण, तगण, तगण और पाद के अन्त में दो वर्ण गुरु होने के कारण इसे मन्दाक्रान्ता छन्द का उदाहरण कहा जाता है।

(२३) शार्दूलविक्रीडित छन्द का लक्षण—

"सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सः गुरवः शार्दूलविक्रीडितम्॥

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण सगण, जगण, सगण तगण, और अन्त में एक वर्ण गुरु हो तो उसे शार्दूलविक्रीडित छन्द कहते हैं। इस छन्द में १२ और ७ वर्ण पर यति होती है।

उदाहरण—

SS S IISISIIIS SSISSIS
पातुं न प्रथम व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीथैषुया,
SSS IISISI IISSS I SSIS
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।

ऽऽऽ ।।ऽ।ऽ। ।।ऽ ऽऽ ।ऽऽ।ऽ
आद्येव: कुसुमप्रसूति समये मस्याः भवत्युत्सुवः,
ऽऽ ऽ। ।ऽ।ऽ ।।।ऽऽऽ। ऽऽ।ऽ
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सवरनु ज्ञायताम् ।।

इस उदाहरण के प्रत्येक छन्द में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्त में एक वर्ण गुरु होने के कारण इसे शार्दूलविक्रीडित छन्द कहते हैं।

(२४) स्रग्धरा छन्द का लक्षण—

म्रोभ्नौ याना क्रमेण त्रिमुनियुस्रग्धरा कीर्तितेयम् ।

अर्थ—जिस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण, यगण यगण, यगण हों और सात-सात वर्ण पर यति हो उसे स्रगधरा छन्द कहते हैं।

उदाहरण—

ऽऽऽऽ। ऽऽ।।।। ।।ऽ ऽ।ऽऽ
ग्रीवाभङ्गाभि रामं मुहुरनुपतति स्यन्दने वद्धदृष्टिः,
ऽऽऽऽ ।ऽऽ।।।।।।ऽऽ।ऽ ऽ।ऽऽ
पश्चाद्धे न प्रविष्ठः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायं।
ऽऽऽऽ।ऽ ऽ।।।।।।ऽऽ।ऽ ऽ।ऽऽ
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रम विवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
ऽऽऽऽ।ऽऽ।। ।।।।ऽ ऽ।ऽऽ ।ऽऽ
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियतिवहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।

प्रस्तुत उदाहरण के लिये प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, होने के कारण इसे स्रग्धरा छन्द का उदाहरण कहा जाता है।

(२५) पुष्पिताग्रा छन्द का लक्षण—

अर्युजि न युगरेफतो यकारो, युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।

अर्थ—जिस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में दो नगण, एक रगण और फिर यगण होने पर तथा दूसरे और चौथे चरण में नगण और जगण रगण और एक गुरु वर्ण होने पर पुष्पिताग्रा छन्द होता है।

उदाहरण— ।। ।।।।ऽ।ऽ ।ऽऽ
कर-किसलय-शोभया विभान्ती,
।।।।।। ऽ। ऽ।ऽऽ
कुचफलभार-विनम्र- देहयष्टिः।
।। ।।।।ऽ।ऽ।ऽऽ
स्मित-रुचिर-विलासपुष्पिताग्रा,
।।।।। ऽ ।। ऽ।ऽऽ
ब्रजयुवति-व्रतति हरे मुंदोऽभूव ।।

प्रस्तुत उदाहरण के प्रथम, तृतीय चरण में दो नगण एक रगण और एक यगण होने से तथा दूसरे और चौथे चरण में नगण, जगण, जगण रगण, और अन्त में एक वर्ण गुरु होने के कारण इसे पुष्पिताग्रा छन्द का उदाहरण कहा जाता है। ●